श्री[illegible]। श्रीसद्गुरु। श्रीगौरीशंकर। श्रीसीताराम। श्री[illegible]।

साधनसंग्रह। द्वितीयखंड

विषय सूची।

प्रथमखंड की कीमत दो २) रुपये। डाक महसूल ।), द्वितीयखंड की कीमत १॥) रुपया। डाक महसूल ≡) आने। दोनों खंडों की एक साथ कीमत ३) रुपये। डाकमहसूल ।≡)

प्रथमखंड की कीमत डेढ़ १॥) रुपया रखने का विचार था किन्तु प्रेस बिल की बड़ी तायदाद देख कर और कई फार्मों को प्रेस में दीमक के खाजाने से तय्यार कापियां कम मिलने के कारण कीमत २) रुपये टाईटल पेज छपने पर रखी गई। इस पुस्तक के प्रकाशित करने का उद्देश्य आर्थिक लाभ उठाना नहीं है।

मिलने का पता—(१) श्रीरघुनन्दनप्रसाद सिंह,
सुल्तामहम्मदपुर, पोस्ट आफिस सिलौत
जिला मुजफ्फरपुर।
P. O. Silout, Dt Muzaffarpur.
(२) श्रीमहावीरप्रसाद सिंह, ऐ० ऐ०

श्रीगणेशाय नमः ।
श्रीगुरुचरणकमलेभ्यो नमः । श्रीगौरीशंकराय नमः ।
श्रीसीतारामचन्द्राभ्यां नमः । श्रीराधाकृष्णाय नमः ।

साधनसंग्रह-द्वितीय खंड

द्वितीय संस्करण की भूमिका

इस साधन संग्रह का प्रथम संस्करण सन् १६०० में, पटना के खड्गविलास प्रेस के स्वामी महाराजकुमार रामदीनसिंह साहब की कृपा से उक्त प्रेस में मुद्रित हो कर, प्रकाशित हुआ और कई वर्षों के भीतर ही इस की सब कापियां बिक गईं। श्रीअयोध्या के साकेत-प्राप्त भक्तवर महात्मा श्रीजानकीवरशरणजी आदि महानुभावों ने उस समय इस पुस्तक को पढ़ कर पत्र द्वारा अपनी बड़ी प्रसन्नता प्रकट की। श्री पण्डित मदनमोहन मालवीय जी आदि महानुभावों के विशेष अनुरोध से यह दूसरा संस्करण प्रकाशित किया गया है। प्रथम संस्करण केवल एक खंड में २२१ पृष्ठ का था किन्तु द्वितीय संस्करण में इस का आकार दो खंडों में ६७६ पृष्ठ का हो गया। विशेष वृद्धि भक्तियोग में की गई है, क्योंकि उस की प्राप्ति ही मनुष्यजीवन का मुख्य लक्ष्य है। प्रथम खंड का भक्तियोग ५४ पृष्ठ का था, किन्तु अब दोनों खंडों में ४२३ पृष्ठ का हुआ। श्रीभगवान् ने श्रीगीता में स्पष्ट कहा है कि कर्म को भी केवल मेरे (श्रीभगवान् के) निमित्त करने से वह बन्धन का कारण नहो कर परमपद की प्राप्ति का कारण होता है। देखिये अध्याय ४ श्लोक २५ और अध्याय ६ श्लोक २६ से २८ तक। * योग के भी मुख्य लक्ष्य श्री-

---

* यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौंतेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ २७ ।

भगवान् ही हैं और जो योग श्रीभगवान् के निमित्त नहीं किया जाता है वह कदापि श्रेयस्कर न हो कर अवश्य हानिकर है। देखिये श्री गीता अ०६ श्लोक ४७*। ज्ञानमार्ग के भी मुख्य लक्ष्य श्रीभगवान् ही हैं, कदापि परब्रह्म नहीं। देखिये ज्ञानयोग। श्रीभगवान् के स्वरूप और करुणा का भाव प्रत्यक्ष अनुभव होने से ही ज्ञान की प्राप्ति होती है। देखिये श्रीगीता अ० ७ श्लोक १६+। कर्मयोग, अभ्यासयोग, ज्ञानयोग, और भक्तियोग की साधना में दृढ़ता और परिपक्कता केवल श्री भगवान् की कृपा से ही होती है। श्रीगीता में जो अंतिम उपदेश है वह भी श्री भगवान् को शरण में आने का ही है, क्योंकि आत्म समर्पण अंतिम निष्ठा और मुख्य लक्ष्य है।

इस बार इस का नूतन भाग कुछ शीघ्रता में लिखा गया और एक बार न लिखा जा कर जैसे २ छपता गया वैसे २ लिखाता गया। इस कारण विषयों के समावेश के स्थान में किंचित् व्यतिक्रम इस प्रकार हो गया कि किसी विषय के छप जाने पर उस के सम्बन्ध की कोई वार्त्ता के पश्चात् स्मरण होने पर वह अन्यत्र पीछे भी समावेशित कर दिया गया। इस द्वितीय संस्करण का परिवर्द्धित भाग स्वतंत्र लिखा गया है, केवल किसी ग्रन्थविशेष के आधार पर नहीं है, जैसा कि पढ़ने से बोध होगा। किन्तु यह सम्पूर्ण पुस्तक सनातन सत्सिद्धान्त का संग्रह अवश्य है, अतएव इस में कोई विशेष नवीनत्व न होकर प्राचीनत्व ही की प्रधानता है।

प्रथम सस्करण की भूमिका सन् १६०० ईसवी में लिखी गई जो इस संस्करण के प्रथम खंड के प्रारम्भ में छपी है। उस में एकाध व्यक्तिगत बातें ऐसी हैं जिन में इतने समय में बहुत कुछ अतर और परिवर्तन हो गया है जिस के विषय में कुछ विशेष

---

* योगिनामपि सर्वेषांमद्गतेनांतरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमोमतः॥ ४७।

\+ बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
वासुदेव. सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥ १६।

लिखना आवश्यक नहीं है, क्योंकि व्यक्तिगत विषय अवश्य परिवर्तनशील है। बुद्धिमान् पाठक इस की स्वयं विवेचना कर लेंगे।

जो लोग प्रथम खंड को पहिले न पढ़ कर द्वितीय खंड ही को प्रथम पढ़ेंगे, उन के लिये इस खंड के प्रारम्भ में दो पृष्ठ ३८३ और ३८४ प्रथम खंड के अंत भाग से ले कर जोड़ दिये गयेहैं ताकि दासभाव का किंचित् मुख्य प्रारम्भिक विषय इस में आ जाय। जो प्रथम खंड को पढ़ कर दूसरा खंड पढ़ेंगे उन को आदि के उन दो पृष्ठों को पढ़ना आवश्यक नहीं है, क्योंकि वे प्रथम खंड के पृष्ठ ३७७ और ३८४ हैं। जो पहिले द्वितीय खंड पढ़ें वे कृपा कर प्रथम खंड को भी अवश्य पढ़ें।

इस पुस्तक के विषयों का किसी भी सम्प्रदाय अथवा व्यक्ति विशेष से सम्बन्ध नहीं है किन्तु केवल सत्य सनातन धर्म से सम्बन्ध है। इस की मूलभित्ति भक्तप्रवर श्री पण्डित भवानीशंकर जी की वक्तृता और उपदेश है जिन को इस समय सिवाय श्रीसनातनधर्म के किसी भी सम्प्रदाय अथवा समाज विशेष से सम्बन्ध नहीं है। इस पुस्तक मे जो कुछ भगवत्सम्बन्धी परोपकारी विषय हैं वे सब श्रीपण्डितजी के हैं। प्रमाण वाक्य तो स्वतः प्रमाण हैं और उन के मूलग्रन्थ का अधिकांश में विवरण दिया गया है। किन्तु विषय के प्रतिपादन में अवश्य त्रुटियां अनेक हो गई हैं जिन के लिये केवल संग्रह कर्ता दोषी और क्षमाप्रार्थी भी है। छापेखाने से केवल एक प्रूफ के मिलने के कारण कुछ अशुद्धियां इस भाग में भी रहगईं, यद्यपि प्रथम खण्ड से इस की छपाई सब प्रकार से उत्तम हुई, जिस के लिये खड्गविलास प्रेस के मालिक रायसाहब श्रीरामरणविजय सिंहजी को अनेक धन्यवाद है। उन्हों ने और भी कृपाकर इस के आत्मनिवेदन प्रकरण को श्रीहरिश्चन्द्र कलामें प्रकाशित कर पुस्तक के विषय का बड़ा सम्मान किया। श्रीपण्डित शिवप्रसाद पाण्डेय काव्यतीर्थजी को धन्यवाद है जिन्हों ने कृपाकर इस की लिपि के

अधिकांश को सोधा है। पुस्तक के प्रकाशित करने की कठिनाई और आज कल छपाई, कागज आदि का चार्ज अधिक हो जाने के कारण इस के परिशिष्ट भाग जिस में श्रीउपास्यों के वर्णन का प्रतिपादन करना था उस के प्रकाशित होने की कोई सम्भावना अब नहीं देख पड़ती है।

इस पुस्तक के प्रकाशित करने का उद्देश्य यह है कि परमार्थ के जिज्ञासुगण सन्मार्ग पर आरूढ हों, इधर उधर भटक कर हानि पाने से बचें जैसा कि अधिकांश लोगों की आज कल दशा है, और श्रीमद्गुरु और श्रीभगवान् की शरण में जाने की मुख्य साधना धर्मपिपासुओं को विदित हो जाय जिस में वे संसार के माया जाल के फंदे से मुक्त हो कर सुगमता से श्रीचरणों में पहुंच कर शान्ति लाभ करें। अधिकांश लोग श्रीसद्गुरु तत्त्व को एकदम भूलगये हैं: किन्तु यह अटल नियम है कि विना श्रीसद्गुरु की प्राप्ति के श्रीउपास्य की प्राप्ति हो नहीं सकती। अतएव श्रीसद्गुरु कौन हैं और उनकी प्राप्ति कैसे होगी, इस परम रहस्य गुरुतत्त्व को प्रकाशित करना भी इस पुस्तक का मुख्योद्देश्य है जिस का वर्णन गुरुतत्त्व में किया गया है। यहां पर यह लिखना आवश्यक है कि आज कल अनेक लोगों में यह धारणा है कि श्रीसद्गुरु की प्राप्ति कलियुग में नहीं होसकती है, यह ठीक नहीं है। यह अटल नियम है कि श्रीसद्गुरु गण सब युगो में, सब काल में, योग्य साधकों को प्राप्त होते हैं। श्रीमद्भागवत पुराण स्कं० १२ अ० २ श्लोक ३७ और ३८ में * लिखा है कि श्रीदेवापि और श्रीमरु जिनका कलाप ग्राम में आश्रम है वे कलियुग में वर्णाश्रम धर्म की रक्षा करेंगे और श्रीश्रीधर स्वामी अपनी टीका में लिखते हैं कि 'कलापग्रामो नाम योगिनामावासः प्रसिद्धः" अर्थात् कलाप ग्राम महात्माओं का प्रसिद्ध निवास

* देवापिः शन्तनोर्भ्राता मरुश्चेक्ष्वाकुवंशजः। कलापग्राम आसाते महायोगबलान्वितौ। ३७

स्थान है। इस से सिद्ध है कि कलापग्राम में अनेक सिद्ध सद्गुरु महात्मागण रहते हैं जिनका मुख्योद्देश्य धर्म की रक्षा करना और साधकों को दीक्षित बनाना है। श्रीमद्भागवत पुराण के स्क० १० अ० ८७ श्लोक ५ से ७ * तक में लिखा है कि एक बार श्रीनारदजी श्रीसनकादि को देखने के लिये श्रीनारायण के आश्रम में गये तो वहां कलाप ग्राम के ऋषियों से आश्रम को आवेष्टित पाया। श्रीमहाभारत के मौषल पर्व के अध्याय ७ के अंत में कथा है कि प्रभास-प्रयाण के बाद श्रीअर्जुन श्रीभगवान् की मुख्य रानियों को लेकर हिमालय को पारकर कलाप ग्राम में गए और वहां उनको रख के चले आये +। यह कलियुग के प्रारम्भ के समय की घटना है। यह कलाप ग्राम उत्तर कुरु में किसी अगम्य स्थान में है। श्री १०८ विजय कृष्णगोस्वामी जी का कथन है कि आजकल जो तिब्बत का सरोवर मानसरोवर कहके प्रसिद्ध है वह यथार्थ मानसरोवर नही है। यथार्थ मानसरोवर उस से उत्तर अगम्य स्थान में है, कलाप ग्राम भी उसके निकट है और श्रीनारायणाश्रम भी वहीं ही है।

श्रीशिवजी के जगद्गुरु होने के ज्ञान के अभाव से अनेक साधकों की विशेष उन्नति में बड़ी बाधा होती है जिस विषय का वर्णन प्रथम खंड के पृष्ठ २३७ और इस खंड के पृष्ठ ६०७ में किया गया है। श्रीमद्भागवत पुराण स्क० ४ अ० २ में लिखा है:—

कस्तं चराचरगुरुं, निर्वैरं शांतविग्रहम्।
आत्मारामं कथं द्वेष्टि जगतो दैवतं महत्॥

जो स्थावर जंगम रूप विश्व के गुरु, वैर भाव रहित, केवल शान्तस्वरूप, आत्मस्वरूप में रमण करने वाले और

---

* तत्रोपविष्टमृषिभिः कलाप ग्राम वासिभिः। परीतं प्रणतोऽपृच्छदिदमेव कुरूद्वह ७।

+ हिमवन्तमतिक्रम्य कलाप ग्राम वासिनः। द्वारिका वासिनो ये तु पुरुषाः पार्थमभ्ययुः ७५

जगत् के परम पूजनीय देवता, ऐसे श्रीशिवजी से दक्ष ने कैसे द्वेष किया ?

अज्ञान, धर्म का निरादर और श्रीभगवान् के यथार्थ आध्यात्मिक सम्बन्ध को विस्मरण कर उन के विरुद्ध आचरण करने से अधिकांश सांसारिक लोग बड़े ही कठिन क्लेश और नाना प्रकार की अशांति और वेदना को भोग रहे हैं। जिन के पास सुख के वाह्य पदार्थ हैं वे भी उन के संयोगवियोग और रक्षा के कारण सुखी न रह कर दारुण कष्ट और चिंता में मग्न हैं। दीन दुःखी लोगों का तो अपने अभाव के कारण सदा सर्वदा व्यग्र और उद्विग्न रहना साधारण बात है। अतएव इस क्षणभङ्गुर संसार में जहां देखिये वहां अधिकांश लोगों में अशान्ति और दुःखही देखने में आते हैं। धनी दरिद्र और मध्य श्रेणी के सब के सब चिंता, काम और लोभ की चक्की में फंसकर पीसे जा रहे हैं। अन्याय, अत्याचार, असत्य आदि की बड़ी प्रबलता देखी जाती है जिस के कारण उस के भोक्ता से अधिक उस के कर्ता भी विपत्ति के मुख में बड़े वेग से जारहे हैं। जो लोग अज्ञानता और लापरवाही के कारण अपने को सुखी समझते हैं वे भी यथार्थ में बड़े वेग से दुःखसागर में निमग्न हो रहे हैं। अधर्म की वृद्धि और धर्म को हानि के कारण व्यक्ति विशेष, जनसमुदाय और देश की दिनोंदिन अवस्था खराब हो रही है और जीवन विषमय हो रहा है (देखिये प्रथम खंड का प्रकरण भक्ति का तात्पर्य्य पृष्ठ २२५)। ऐसी अवस्था में केवल धर्म ज्ञान और श्रीभगवान् की भक्ति के एक मात्र आश्रय से ही जन समुदाय और भी देश इस महा मोह जाल से त्राण पा कर सुख शान्ति का लाभ कर सकते हैं। यथार्थ सुख और उन्नति के लाभ के लिये सिवाय इस के अन्य कोई उपाय नहीं है। इस परम श्रेयस्कर मार्ग की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित करने के लिये ही यह पुस्तक प्रकाशित की गई है। इस में प्रायः ऐसे विषय और साधन

लिखे गये हैं जो निर्विवाद, सच्छास्त्र सम्मत, महर्षियों के आदेश से अनुमोदित और आंतरिक आत्मानुभव के अनुकूल हैं, जिन के अनुसार चलने से कल्याण अवश्यम्भावी है, कदापि किसी प्रकार की हानि हो नहीं सकती है। प्रायः विवादग्रस्त विषय इस में नहीं दियेगये हैं। इस के विशेषकर साधनसम्बन्धी मुख्य और विशेष सिद्धान्त प्रायः निर्विवाद ही हैं। इस के मूल सिद्धांत किसी प्रचलित मत के विरुद्ध न होकर विशेष कर ऐसे हैं जिन को अन्य मतमतान्तर भी समष्टि रूप से समर्थन ही करते हैं। कतिपय उच्च कोटि की आध्यात्मिक बातें जो इस मे दी गई हैं वे सत्पुरुषों के आंतरिक अनुभव के आधार पर हैं, किन्तु वे भी सच्छास्त्र के अनुकूल ही हैं। सत्पुरुष कौन हैं? इस का वर्णन प्र० ख० के पृष्ठ २५८ और इस खंड के पृष्ठ ६११ में है।

चूंकि पुस्तक का अभिप्राय यह है कि इस के पाठ और मनन से पाठक के चित्त मे धर्म, ज्ञान और भक्ति की ओर प्रवृत्ति हो और वे अपने श्रीउपास्य को शरण में जाने के मार्ग में पदार्पण कर इस शुभ यात्रा मे अग्रसर हों। अतएव साधनाओं मे जो परम मुख्य और आवश्यक है जैसा कि निष्काम भाव, श्रीउपास्य का सततस्मरण चिंतन, परोपकार रूपी श्रीउपास्य की सेवा आदि, उन की चर्चा बार बार की गई है, ताकि उनकी आलोचना और मनन बार बार होने से पाठकों में उन की ओर विशेष प्रवृत्ति होजाय, अतएव पुनरुक्ति जान बूझ कर इस में की गई है। शोक है कि धर्म, ज्ञान अथवा भक्ति की मुख्य प्राण निष्काम परोपकार रूपी श्रीउपास्य की सेवा को अधिकांश लोग एकदम आजकल भूलगये हैं जिस के कारण धर्म, समाज और देश की बड़ी दुर्दशा हो रही है। जहां इस का प्रचार है वहाँ उन्नति है, जहां इस का अभाव है वहां अवनति है। व्यक्तिगत अथवा समूह उन्नति, दोनों में एक भी, विना इस परोपकार व्रत के विशेष अभ्यास

से कदापि हो नहीं सकती है। अतएव इस का पुनरुज्जीवन करना परमावश्यक है। श्रीगीता अ० ५ का वचन है:—

लभंते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधायतात्मानः सर्वभूतहितेरताः २५

जिन के पाप क्षीण हो गये हैं, जिन के द्वैतभाव नहीं हैं अर्थात् सर्वात्म भाव के कारण दूसरे के दुःख सुख को अपना जानते हैं, अपनी आत्मा को जो अपने वश में कर सकते हैं और जो सब प्राणी के उपकार करने में रत रहते हैं, वेही योगी निर्वाण पद को पाते है। अतएव कर्म, अभ्यास, ज्ञान और भक्ति इन चारों का सम्पादन विना निष्काम परोपकार के व्यर्थ है। देश और समाज की यथार्थ उन्नति भी श्रीभगवान् के निमित्त परोपकार करने से ही होगी। श्रीभगवान् की सेवा की भांति उन की आज्ञा के अनुकूल जो परोपकार है वही यथार्थ उपकार करने वाला है, नहीं तो श्रीभगवान् से पृथक् और विरुद्ध होकर करने से परोपकार से भी अपकार होना सम्भव है।

यह पुस्तक सब सम्प्रदायों के लिये समान है, किसी एक विशेष सम्प्रदाय से इस का सम्बन्ध नही है और श्रीभगवान् शब्द इस में व्यापक भाव के समान व्यवहार किया गया है जिस को शैव श्रीशिव, वैष्णव श्रीविष्णु आदि और शाक्त श्रीशक्ति और अन्य सम्प्रदाय वाले अपने २ श्रीउपास्य समझें।

अंत में श्रीसद्गुरु और श्रीभगवान् से यही परम विनीत प्रार्थना है कि इस पुस्तक के श्रद्धालु पाठकों को सुमति प्रदान कर अपने दुर्लभ कृपा कटाक्ष से कृतार्थ करें ताकि वे श्रीचरणकमलों की ओर आकर्षित हो कर स्वय शान्ति लाभ करें और दूसरों को भी शान्ति के मार्ग पर लाकर श्रीभगवान् की उत्तम सेवा करें।

बैशाख, कृष्णपंचमी, सम्वत् १९७८

संग्रहकर्त्ता।

ता॰ १५ अप्रिल १९२२

श्रीगणेश। श्रीगौरीशंकर। श्रीसद्गुरु। श्री[illegible]

दासभाव

तीन भावों में प्रथम भाव और सा[illegible] भाव है। शान्तभाव भी इसीके अन्तर्गत हैं। वह दासभाव सर्व-प्रथम होनेके कारण सब भावों की जड़ अर्थात् भित्ति है जिसके विना किसी अन्य भाव की प्राप्ति असम्भव है। श्रीउपास्यदेव की निरंतर सेवा और उनके प्रीत्यर्थ कर्म इसभाव का मुख्य कर्तव्य है। श्रीउपास्यदेव की सेवा सांसारिक फलकामनाके लिये करना आधि-भौतिक है, मोक्षके लिये करना आधिदैविक है और प्रेमसे प्रेरित और स्वार्थरहित होकर केवल श्रीउपास्यदेव के प्रीत्यर्थ इस सेवा-धर्मका पालन करना और उसके निमित्त अपने स्वार्थ और सुख को भी त्यागकर अपने ऊपर प्रसन्नतासे कष्ट लेना और उस कष्ट को ही परम सुख मानना और उसमे ही सुखका अनुभव कर प्रसन्न रहना आध्यात्मिक दासभाव है। यहां पर इसी भाव से तात्पर्य है। सांसा-रिक मालिक-नौकर का भाव इस उच्च दासभावका द्योतक नही हो सकता। संसार में नौकर मालिक की सेवा उससे कुछ पानेके लिये ही करता है और वह जब चाहे तब उक्त वृत्ति का त्याग करसकता है अथवा अन्य मालिक के यहां जा सकता है· किन्तु दासभाव में केवल प्रेमके कारण सेवा की जाती है और न बदले में कुछ पाने की आशा रहती है और न यह सम्बन्ध कभी टूट सकता है। संसार में जो क्रीत (खरीदेहुए) दास की कभी प्रथा थी, उससे भी इसकी तुलना नहीं होसकती. क्योंकि क्रीतदास परवश होकर सेवावृत्ति करता है, किन्तु यहां सेवक अपनी प्रसन्नता से स्वयं इस सेवाधर्म में प्रवृत्त होता है, उसपर कोई दबाव नहीं रहता। हां, संसार में यदि कोई ऐसा सेवक हो जो किसी व्यक्तिके प्रति उसके सद्गुण और पवित्र चरित्र से आकर्षित होकर विना किसी फलकी आशाके उसकी सेवामें प्रवृत्त हो और उसको अपना सर्वस्व जानता हो और जन्मजन्मान्तर के लिये अपने को उसकी सेवाके निमित्त समर्पित किया हो, तो वह किसी प्रकार किंचित् अंशमें इस सेवा-धर्मका उदाहरण होसकता है।

पितृभाव और मातृभाव भी इस दासभावके ही अन्तर्गत है। जैसा कि दासभाव में भी श्रीउपास्यके प्रति शुद्ध सात्विक और अहेतुक प्रेम स्वाभाविक है, जो कि यथार्थ में जोवात्मा रूपी उपासक के परमात्मारूपी श्रीउपास्यदेव के अनादिस्वरूप सम्बन्ध के कारण है, उसी प्रकार पितृभाव और मातृभाव की भक्ति भो स्वाभाविक है। जैसा कि सन्तान के प्रौढ़ होनेपर भी अपने मातापिता में भक्ति रखना और उनकी तुष्टि के लिये सेवा करना स्वभाविक है, क्यों कि वे सन्तान को वाल्यावस्था में अपने ऊपर अनेक कष्ट सह कर पालनपोषण ही नहीं करते किन्तु रक्षा भी करते हैं। किन्तु सन्तान को भक्तिका मुख्य कारण मातापिता का जन्मदाता होने के कारण है और यह भाव स्वाभाविक है। यहां भी एकात्मता भाव है, क्योंकि लिखा है "आत्मा वै जायते पुत्रः" अर्थात् पितामाता ही का अंश सन्तान है, उसी प्रकार श्रीउपास्य देव को मातापिता जानकर उनमें भक्तिभाव करना भी स्वाभाविक है। यह भी दासभाव की भांति निष्काम और अहैतुकी भक्ति है। श्रीउपास्यको जगतपिता मान उनके चरणकमलों में चित्त संलग्न करना और उनके प्रीत्यर्थ उनकी सेवा में सदा प्रवृत्त रहना उत्तम भाव-साधना है। शक्ति-उपासना में श्री उपास्यदेवी को मां समझ करके उपासना करना परम उच्च भाव है और इसमें प्रेम के संचार होने में भी बड़ी सुगमता है। सन्तान के निमित्त पिता की अपेक्षा माता अधिक कष्ट सहती है जिसके कारण यह निर्विवाद है कि कितनी ही सेवा करने पर भी सन्तान माता के ऋण से मुक्त नहीं हो सकती, और पिता कदापि कुव्यवहार सन्तान के प्रति कर सकता है किन्तु माता का स्नेह ऐसा प्रगाढ़ और स्थायी होता है कि वह सन्तानसे अनेक अपराध होनेपरभी अपनी दया को नहीं त्यागती और कदापि अनिष्ट चिन्ता नहीं करती। लिखा है—"कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति" अर्थात् पुत्र खराब व्यवहार माता के प्रति करसकता है किन्तु कदापि माता सन्तान के प्रति कुव्यवहार नहीं करसकती। यथार्थ में यही दशा करुणावरुणालय जगन्माता श्रीपरमेश्वरी और जगत्पिता श्रीपरमेश्वरको अपनी सांसारिक संतान के प्रति है। हमलोग उनके प्रति हजारों अपराध जानकर भी करते हैं किन्तु इतने पर भी उनकी दया ऐसी असीम है कि वे हमलोगों के कल्याण करने में सदा प्रवृत्त रहते हैं और ठीक माता की भांति हमलोगों की रक्षा करते हैं। गोस्वामी श्रीतुलसी-

दास जी के रामचरित-मानस का श्रीमुख वचन है:—

सुनि मुनि ! तोहिं कहौं सहरोसा ।
भजहिं मोहि तजि सकल भरोसा ॥
करौं सदा तिन की रखवारी ।
जिमी बालकहिं राखू महतारी ॥

मातृभाव से उपासना करना बड़ा ही उत्तम भाव है और इसभाव का उपासक यदि शुद्धहृदय से बालक के समान कातरोक्ति से रोदन करके अपनी जगन्माता के प्रति प्रेम से अपने हृदयोद्गार को प्रेषण करेगा और विनय करेगा कि हे मातः ! मुझ बालक को भववारिधि में डूबने से रक्षा करो और अपने चरणकमल का आश्रय प्रदान करो, तो ऐसा निष्कपट और शुद्ध करुण-रोदन के कारण अवश्य जगन्माता की कृपा उस पर होगी। संसार में सबों के हृदय में, यहांतक कि पशु-पक्षियों में भी, मातृपितृ-प्रेम और उनकी सेवा का भाव स्वाभाविक रूपसे वर्तमान है। श्रीभगवान श्रीरघुनाथजी, श्रीभीष्म पितामह, श्रमण ऋषि (श्रवन), राजापुरु आदि इसके सुप्रसिद्ध दृष्टान्त हैं जिन में श्रमण-ऋषि का अपनी स्त्री को त्याग कर अपने पिता माता को कंधे पर चढ़ाकर तीर्थाटन कराना तीनों कालके लिये परमोज्ज्वल उदाहरण है। मातृ-प्रेम के भावमें जो त्याग कियाजाय और कष्ट सहा जाय वह सब यथेष्ट हो नहीं सकता, क्योंकि सन्तान के निमित्त जो माता अपने शुद्ध स्नेह और प्रेम के कारण कष्ट झेलती है, वह अवर्णनीय है और उस मातृ-ऋण से सन्तान कितनो ही सेवा करने पर भी मुक्त नहीं हो सकती है। आजकल भी ऐसी अनेक माता हैं जो अपनी सन्तान की प्राण बचाने के लिये अपनी प्राणोंको भी बड़ी प्रसन्नता से त्याग करेगी, यदि वही आवश्यक होवे। सिवाय माता के किसी अन्य सम्बन्ध में ऐसा प्रबल त्याग का भाव नहीं देखने में आता, अतएव मातृ-भाव परम पूजनीय, आदरणीय और उपास्य है। मातृभाव से श्रीउपास्यकी भक्ति और सेवा करना सहज और स्वाभाविक है और इसमें प्रेम-भक्ति के शीघ्र उत्पन्न होने की पूरी सम्भावना है, यदि

निःस्वार्थ होकर किया जाय । कलियुग में भी महात्मा श्रीरामकृष्ण परमहंस जी और उनके पूर्व श्रीरामप्रसाद जी आदि इस मातृभाव की उपासना द्वारा सिद्ध होगये और उन्होंने श्रीजगन्माता की परम कृपाको लाभकिया। किन्तु इस उपासनामे यदि किंचिन्मात्रभी किसी प्रकारकी स्वार्थकामना आवेगी, तो वह शुद्ध मातृ-भाव की शुद्ध सात्विक उपासना नही रहेगी किन्तु वह देने-लेनेकी भांति व्यवहार हो जायगी। शक्ति-उपासना के साथ किसी प्रकार की स्वार्थकामना संनिवेशित कर देने से शुद्ध भक्ति का लाभ नही होता। मातृभावसे उपासना करना बहुत उच्च और स्वाभाविक भाव है और इसमें उन्नति शीघ्र हो सकती है, यदि उपयुक्त साधक हो। श्रीजगन्माता की प्रसन्नता प्राप्त करना सब साधकों के लिये परमावश्यक है, क्योंकि विना उनके कृपाकटाक्ष के जगत्पिता से सम्बन्ध हो नही सकता जैसा कि पहिले भी कहा जाचुका है।

श्रीगौरीशंकर, श्रीलक्ष्मीनारायण आदि युगल मूर्तियों को जगन्माता और जगत्पिता के भाव से उपासना और सेवा करना उत्तम भाव है और यथार्थ में जगन्माता श्रीगायत्री, श्रीपार्वती और श्रीलक्ष्मी की कृपा प्रथम लाभ करने से ही और उनके पवित्र प्रकाश के आश्रय में आने पर ही परमपिता से सम्बन्ध होता है, अन्यथा नहीं; जैसा कि पहिले भी कहा जा चुका है। अतएव अपने २ इष्ट की शक्ति (गायत्री) को जगन्माता मानकर उपासना और सेवा करना सब साधकों के लिये परमावश्यक है और यह दास भावके अन्तर्गत है। श्रीउपास्यदेवकाभी मातृभावसे उपासना को जाती है— गीताका वचनहै :— " पितामहस्य जगतो माता धाता पितामहः "। अर्थ— श्रीभगवान कहते हैं कि इस जगत का पिता, माता, पालन करनेवाला और सृष्टिकर्ता ब्रह्मा के भी पिता मैं हूं।

इस मातृ भाव की उपासना में मुख्य यह है कि "साधक का आंतरिक भाव बालक के समान हो अर्थात् शुद्ध, निर्मल, सत्यमय और अहकार रहित हो। जैसा कि निर्बोध बालक पूरा २ अपनी माता पर निर्भर रहता है और उन्हीं को कर्त्ता धर्त्ता और सर्वस्व समझता है और उसकी आज्ञा का पालन करना स्वाभाविक भाव हो जाता है अर्थात् उन की आज्ञाके पालनमें ही उसे प्रसन्नता

होती है, वैसा ही दशा इस भाव के भाविक का होना चाहिये। ऐसा भाविक अपने को सदा सर्वदा श्रीजगन्माता उपास्यदेवी को गोद में प्रविष्ट समझता है और उन के प्रगाढ स्नेह का अनुभव पा कर सदा सर्वदा उन के चरणकी सेवा में प्रवृत्त रहता।

इस अवस्था के साधक भी पूजा अर्चा द्वारा श्रीउपास्य की सेवा करते हैं, किन्तु उक्त सेवा विशेष प्रेम-भाव से प्रेरित होकर किये जाने के कारण उसके द्वारा अवश्य जगतका विशेष उपकार होता है जो भक्तिमार्गका मुख्य लक्ष्य है। लिखा है:—

येनार्चितो हरिस्तेन तर्पितानि जगन्त्यपि।
रज्यन्ति जन्तवस्तत्र जङ्गमाः स्थावरा अपि॥
(पद्मपुराण)

जन्मान्तर-सहस्रेषु यस्य स्यान्मतिरीदृशी।
दासोऽहं वासुदेवस्य सर्वान् लोकान् समुद्धरेत्॥
(इतिहास-समुच्चय)

कर्म स्वाभाविकं भद्रं जपध्यानार्चनादि च।
इतीदं द्विविधं कृष्णे वैष्णवै दास्यमर्पितम्॥
(स्कन्द-पुराण)

लौकिकी वैदिकी वापि या क्रिया क्रियते मुने।
हरिसेवानुकूलैव सा कार्या भक्तिमिच्छता॥
(नारद-पंचरात्र)

जिस व्यक्तिने श्रीभगवानकी अर्चना की है उसने सम्पूर्ण संसार को परितृप्त किया, यहांतक कि उसके द्वारा स्थावर जंगम आदि भी तृप्त हो जाते हैं। हजारहो जन्म के बाद भी जिसमें ऐसी दृढ़ बुद्धि आजाती है कि मैं श्रीभगवानका दास हूं, तो वह सब लोकों के उद्धारका करनेवाला होता है। वर्णाश्रम धर्म जो स्वाभाविक मंगलजनक है और जप, ध्यान, अर्चन आदि जो कर्म हैं वे भी मंगलजनक हैं; इसलिये वैष्णव दास उक्त दोनों प्रकार के कार्यों को श्रीभगवान के निमित्त कर उनमें समर्पित करते हैं। हे

मुने ! मनुष्यगण लौकिक और वैदिक जो सब क्रियायों का अनुष्ठान करते हैं, साधकभक्त वे सब क्रियाएँ, जिसमें श्रीभगवान के निमित्त किये जाकर उनमें समर्पित हों, वैसा ही करते हैं।

दासभावके भाविक श्रीउपास्य के प्रेमसे प्रेरित होकर सदा सर्वदा उनके निमित्त ही कार्य करनेमें प्रवृत रहते हैं और परोपकारी कामोंका सम्पादन करना उनके लिये सेवाका मुख्य अंग है। दास श्रीउपास्य के यश, कथा, गुण, माहात्म्य आदिका गान, कथन और उपदेश कर के लोक में भक्ति-भाव का प्रचार अवश्य करते हैं और इस प्रकार उनकी सेवा करते हैं। ऐसे भक्तोंके मुख से निकले प्रेमपूरित गान, कथा और उपदेश का विशेष प्रभाव श्रोताओंपर पडता है, क्योंकि उनके वाक्य भाव-परिप्लुत रहने के कारण श्रोताके हृदय को विशेष आकर्षित करते हैं। श्रीमद्भागवतपुराणका वचन है:—

तत्रान्वहं कृष्णकथाः प्रगायता-
मनुग्रहेणाश्रृणवं मनोहराः ।
ताः श्रद्धया मेऽनुपदं विश्रृण्वतः,
प्रियश्रवस्यङ्ग ममाभवद्रुतिः ॥ २६ ॥
इत्थं शरत्प्रावृषिकावृतू हरे-
र्विश्रृण्वतो मेऽनुसवं यशोऽमलम् ।
संकीर्त्यमानं मुनिभिर्महात्मभि
र्भक्तिः प्रवृत्ता ऽऽत्मरजस्तमोपहा ॥ २८ ॥

(स्क० १ अ० ५)

श्रीनारदजीने कहा कि हे सत्यवतीनन्दन ! वहां साधुगण प्रतिदिन श्रीभगवान की कथा गान करते थे, उनलोगों के अनुग्रह से वह सब मनोहारिणी कथा मैं सुनता था, श्रद्धा से प्रत्येक पदको श्रवण करने से श्रीभगवान में मेरी रुचि उत्पन्न हुई। इस प्रकार शरद और वर्षा इन दो ऋतुओं में सवेरे, मध्यान्ह और सायंकाल, इन तीनोंकालों में मुनिगण द्वारा कीर्तन किये हुये

श्रीभगवान के निर्मल यश को सुनकर मेरे अन्तःकरण में रजोगुणी और तमोगुणी कुत्सित वृत्तियोंका नाश करने वाली भक्ति उत्पन्न हुई।

सब साधनाओंमें श्रीउपास्यदेवकी सेवा ही मुख्य है, अन्य सब कुछइसके अन्तर्गत हैं और इसके बिना अन्य सब कर्म यथार्थ उद्देश्य को पूरा कर नहीं सकते। इस सेवा-धर्मसे सब प्राणियोंकाबहुत बड़ा उपकार होता है, अतएव संसारके कल्याण के निमित्त ही श्री उपास्यदेव सेवा-धर्म (शुद्ध भाव से किया हुआ) को चाहते हैः-

श्रीमद्भागवत पुराणका वचन हैः-

तज्जन्म तानि कर्माणि तदायुस्तन्मनो वचः।
नृणां येनेह विश्वात्मा सेव्यते हरि रीश्वरः। ९।
किंजन्मभिस्त्रिभिर्वेह शौक्लसावित्रयाज्ञिकैः।
कर्माभिर्वा त्रयीप्रोक्तैः पुंसो पि विबुधायुषा॥ १० ॥
श्रुतेन तपसा वा किं वचोभिश्चित्तवृत्तिभिः।
बुद्ध्या वा किं निपुणया बलेनेंद्रियराधसा। ११।
किंवा योगेन सांख्येन न्यासस्वाध्याययोरपि।
किंवा श्रेयोभिरन्यैश्च न यत्रात्मप्रदो हरिः। १२।
श्रेयसामपि सर्वेषामात्मा ह्यवधिरर्थतः।
सर्वेषामपिभूतानां हरिरात्मात्मदः प्रियः॥ १३।
यथा तरोर्मूलनिषेचनेन तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोप
शाखाः। प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां तथैव
सर्वार्हण मच्युतेज्या॥ १४॥

(स्क० ४ अ० ३१)

श्रीनारदजी ने कहा-हे राजाओ! इस संसारमें जिसके द्वारा विश्वव्यापी श्रीभगवानकी सेवा होती है वही जन्म, वही मन, वही

भाग्य, और वही कर्म श्रेष्ठ है; नही तो, जिसके द्वारा श्रीभगवान प्रसन्न नहो कर भक्तोको आत्म स्वरूपका लाभ नही देते हैं उससे, शुद्ध मातापितासे उत्पन्न होना, यज्ञोपवीत संस्कार और यज्ञकी दीक्षा इन तीन प्रकारके जन्मोंसे, वा वेदमें कहे हुए कर्मोंसे अथवा देवताओंके समान बडी भारी आयु पानेसे, कौन फल है? कोई फल नहीं है, अथवा बहुत सा पढना, व्रत उपवास आदि तपस्या, कहने की चतुराई, अनेको वार्ताओंका स्मरण रखनेकी शक्ति, उत्तम बुद्धि शरीरका बल, इन्द्रियोंकी चतुराई प्राणायाम आदि योग-साधन, सांख्य-ज्ञान, संन्यास, वेदोंका पढ़ना और अनेकों प्रकारके दान, तीर्थयात्रा आदि जो अनेक साधन हैं, उनसे कौन लाभ है? अर्थात् कोई लाभ नही। क्योंकि—विचार करके देखने पर, अपने निमित्त ही औरोका प्रियपना है, इस कारण सब प्रकारके ही कल्याणकारी फलोंकी अवधि आत्मा ही है, तैसे ही-सकल प्राणियोंके अन्तर्यामी, और सकल प्राणियोकी अविद्या दूर करके उनको आत्म प्राप्ति कराने वाले और परमानन्द रूप होनेके कारण सबके अत्यन्त प्रिय वह आत्मा श्रीभगवान ही हैं। जैसे वृक्षकी मूलमें जल देनेसे बडे २ गुच्छे और उनकी छोटी २ शाखा तथा उनकी औरभी छोटी २ टहनी तथा उसके भी अग्र भागमे के पत्र पुष्प आदि ये सभी तृप्त होते हैं, जो उनके ऊपरके भागमें जल सींचने से नहीं होता, जैसे भोजन करने पर उस भोजनसे भिन्न २ सकल इन्द्रियोंकी ही तृप्ति होती है, जो उन इन्द्रियों पर अन्नका लेप करनेसे नहीं हो सकता है, वैसे ही अच्युत श्रीभगवानकी आराधना करने पर मानो सब प्राणियोंकी तृप्ति हो जाती है। और भी:—

स्वदर्शन स्पर्शन पूजनैःकृतो, नमांसि विष्णु प्रतिमेव वैष्णवः।
धुन्वनव सत्पत्र जनस्य यत्र तन्- (हरि भक्तिसुधोदय)

भक्त दास श्रीभगवान की प्रतिमा के समान अपने दर्शन, स्पर्शन और पूजाद्वारा लोक के अज्ञानान्धकार को दूर करने के लिये संसार मे रहते हैं, उनमे उनका अपनी कोई स्वार्थ नही है, जगत के कल्याण के हेतु वे दीप के सदृश शोभायमान रहते हैं।

इस भावका श्रीमद्भगवद्गीता मे यों वर्णन है:—

मत्कर्म-कृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ।
५५ (अ० ११)

हे अर्जुन ! मेरा भक्त ऐसा होना चाहिये कि मेरे ही निमित्त सब कर्म करे, मेरेमें तन्मय हो कर मेरे को ही अपना सब कुछ समझे, किसी विषय में आसक्ति न रक्खे, प्राणीमात्रका अहित न चाहने वाला हो (किन्तु हित चिन्तक हो), ऐसा ही भक्त मुझको प्राप्त करता है ।

श्रीभरत जी और श्रीलक्ष्मण जी यद्यपि श्रीभगवान रामचन्द्र जी के सखा थे किन्तु इन लोगोंका भाव दास ही का था। श्रीभरत जी ने श्रीभगवान के निमित्त माता और भी राज्य का त्यागकिया, स्वेच्छा से मुनि व्रत धारण का कष्ट सहर्ष स्वीकार किया और श्रीभगवान के निमित्त और उन्ही के नाम से दास के भाव में राज्य का पालन किया। श्रीभरत जी दासभाव के सर्व श्रेष्ठ उदाहरण हैं। भाविकको अपने सब कृत्यों को श्रीभगवान के निमित्त ही और उन्हीं के नाम से करना चाहिये और अपने सब कर्म को श्रीभगवान के चरण में अर्पण करना चाहिये जैसा कि श्रीभरत जी श्रीचरण-पादुका में करते थे। श्रीभरतजी का वचन हैः—सिर भर जाऊँ उचित असमोरा । सब में सेवक धर्म कठोरा । (श्रीराम चरितमानस) । श्री लक्ष्मण जीने श्रीभगवान के निमित्त मातापिता, स्त्री, गृहसुख आदि का त्याग किया और वनवास के समय ऐसी सेवा की कि कहा जाता है कि वे रात्रि में कभी सोये नहीं किन्तु निरंतर चौकी पहरे मे प्रवृत्त रहते थे। सेवा धर्म की प्रकृष्टता से लंका की सेना भालू बन्दरों के प्रति श्रीमुख वचन ऐसा हैः—तुम अति कीन्ह मोरि सेवकाई । मुखपर केहि बिधि करौं बडाई । ताते मोहि तुम अति प्रिय लागे ॥ मम हित लागि भवन सुख त्यागे । अनुज राज सम्पत्ति वैदेही ॥ देह गेह परिवार सनेही ॥ सब मोहि प्रिय नहिं तुमहि समाना । मृषा न कहौं मोर यह बाना । सब कहँ प्रिय सेवक यह नीती । मोरे अधिक दास पर प्रीती । दो० अबगृह जाहु सखा सब, भजहु मोहि दृढ़ नेम । सदा सर्वगत सर्वहित, जानीकरेहु अतिप्रेम ।

ऊपर श्रीभगवान के उपदेश में "सर्वगत सर्वहित" जो वाक्य हैं वे इसभाव के मुख्य लक्षण हैं। भाव यह है कि श्रीभगवान् का निवास सब प्राणियों में विना अनुभव किये और जैसे श्रीभगवान सब प्राणियों के हित साधन में सर्वदा निरत रहते हैं उसी प्रकार भाविक को भी परोपकारी कार्य्य में विना योग दिये दास भाव की उपासना निःसार है। सब में श्रीभगवान् का वास और ऐसा जान उनके उपकार, विशेष कर पारमार्थिक, में प्रवृत्त होना परमावश्यक है। कुरुपाण्डव युद्ध (कर्मयोग पृष्ठ १०३) की भांति राम-रावण युद्ध भी सब के शरीर में और भी विश्व में धर्म और अधर्म के बीच अब भी जारी हैं। श्रीभगवान अपनी सेना में दाखिल होने के लिये और उनके वास्ते युद्ध करने के लिये लोगोंको आह्वान कर रहे हैं और स्पष्ट कह रहे हैं कि इस युद्ध में प्रवृत हो कर और अधर्म स्वरूपी कुरु और राक्षस दल को नाश कर अपना और विश्व का मङ्गल करो और मेरा प्रिय पात्र होवो और अपने खोए हुए आत्मराज्य को जो यथार्थ स्वराज्य है प्राप्त करो और यथार्थ स्वतंत्र बनो और इसमें मैं (श्रीभगवान) सहायता करूंगा। यह ऐसा युद्ध है जिस में जय अवश्य होगी, कभी हार की सम्भावना नही है। लिखा है:—

यत्र योगेश्वर्ः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूति ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम (गीता अ० १८)

हे राजन! जिस पक्ष में योगेश्वर श्रीभगवान और धनुषधारी अर्जुन (भाविक साधक) हैं उसी ओर राज्य, लक्ष्मी, विजय, नीतिहैं यह मेरा दृढ़ निश्चय है। यथार्थ में यही मुख्य दास भाव है कि अधर्म को नाश कर प्रेम राज्य (धर्म राज्य) जिस को राम राज्य भी कहते हैं उस की स्थापना करने का यत्न करना। सबों को इस में योग देना चाहिये जिसमें जगत में परम शान्ति विराजमान करें।

सख्य-भाव।

जब उपासक और श्रीउपास्यके बीचकी प्रेम-डोरी सेवा-यज्ञ द्वारा संचालित और आकर्षित हो कर दोनोंको अत्यन्त समीप कर देती है और दोनोंके बीचके अन्तरालको बहुत कुछ दूर कर देती

है, तो ऐसे निकटवर्ती भावको ही सख्यभाव कहते हैं। इस भावमें भी सेवा-धर्म बना रहता है किन्तु भाव अधिक मधुर और प्रगाढ़ हो जाता है और एकताकी मात्रा बढ़ जाती है। सच्चे मित्रोंमें जो शुद्ध और निष्काम प्रेम रहता है उससे इस भावकी, सांसारिक भावोंमें किसी प्रकार अल्प अंशमें, तुलना हो सकती है। दास-भावमें भाविक प्रारम्भमें अपनी सेवाके धर्मको शास्त्र तथा श्रेष्ठ भगवद्भक्तों के आदेशानुसार निश्चय करता है, किन्तु इस सख्यभावकी अवस्थामें शास्त्रकी और श्रेष्ठ भगवद्भक्तोंकी आज्ञाके सिवाय उन्नतशील भाविक को श्रीउपास्यकी आज्ञाका अंतरमें सीधे भी समय २ पर आवश्यकतानुसार अनुभव होता है और वह उस आदेशके अनुसारभी सेवामें प्रवृत्त होता है। इस भावका केवल यही तात्पर्य्य नहीं है कि केवल श्रीउपास्यका मित्र-भावसे निष्काम प्रेम करना, किन्तु इस भावमें उपास्यके लिये मित्रभाव तो स्वाभाविक हो जाता है किन्तु वह संसार के प्राणि मात्रको अपने श्रीउपास्यका अंश (सखा) समझ उसी दृष्टि से सबको मित्र-भावसे देखता और यथासम्भव उनका परोपकार और हितसाधन कर अपने भावका परिचय देता। परमात्मा और जीवात्मामें शुद्ध स्वरूपकी दृष्टिसे यह सख्य-भाव अनादि है। श्वेताश्वतरोपनिषत्का वचन है "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते" (११।४।५)। इस शरीररूपी वृक्षमें के सुन्दर पर वाले दो पक्षी एक साथ सखाकी भांति वास करते हैं। यहां दो पक्षीसे तात्पर्य्य श्रीपरमात्मा और जीवात्मासे है। इस कारण ज्ञानदृष्टि से जीवात्मा परमात्मा के सखा हैं और जीवात्मा गण आपसमें एक दूसरेके भी सखा हैं, जिसके कारण सबोंके साथ मित्र भाव रखना उनका परम कर्तव्य है। भाविकको चाहिये कि श्री-उपास्य और उनकी विभूति संसारके प्रति प्रेम-भाव और मित्र-भाव रख करके उनकी तृप्तिके साधनके निमित्त सेवा कार्य्यमें प्रसन्नतासे प्रवृत्त रहें, और उसके सम्पादनमें आवश्यक होने पर कष्ट भी उठावें और उस कष्टको कष्ट न मान वरु उससे हर्षित हों। जो स्वभावतः

अनायास ऐसा नहीं कर सकते वे इस भावके भाविक कदापि नही हैं।

श्रीरामचरित मानस में मित्र के धर्मका श्रीमुख से यों वर्णन है:—

चौपाई ।

जो न मित्र दुख होहिं दुखारी। तिन्हैं बिलोकत पातक भारी।
निज दुख गिरिसम रज कै जाना। मित्रक दुख रज मेरुसमाना।
जिनके अस मति सहज न आई। ते शठ हठ कत करत मिताई।
कुपथ निवारि सुपंथ चलावा। गुण प्रगटे अवगुणहिं दुरावा।
देत लेत मन शंक न धरहीं। बल-अनुमान सदा हित करहीं।
विपतिकाल कर शतगुण नेहा। श्रुतिकहे संत मित्र गुण एहा।

(किष्किन्धा कांड)

जो श्रीभगवानके परम प्रिय अंश संसारके प्राणियोंके साथ निष्काम मित्रभावका अभ्यास नहीं कर सकते हैं, वे सर्वात्मा के मित्र श्रीउपास्यदेवके सखा कैसे हो सकते हैं! इस सख्यभावमें जितनाही अधिक प्रेम और मधुर भावकी वृद्धि है, उतनाही त्याग की मात्रा भी बढ़ जाती है। आजकलभी सच्चे मित्र अपने मित्रके लिये आवश्यकहोने पर बहुत कुछ त्याग करते हैं, बार बार कष्ट भी उठाते हैं, तथापि अपने भावमे विचलित नही होते ओर त्याग और कष्ट ही उनके आनन्दका कारण होता है। अब इस सांसारिक दृष्टान्त को लेकर विचारना चाहिये कि श्रीउपास्य के प्रति मित्र-भाव के निमित्त भाविक को कितना त्याग करना चाहिये और आवश्यक होने पर उनकी प्रीति के निमित्त कितना बड़ा कष्ट उठाना चाहिये। श्रीव्रजगोपिकाओंमें भी प्रारम्भ में दासी-भाव और तत्पश्चात् सख्य भावकी उत्पति हुई और इन्हीं भावोंके कारण उन अन्तः-स्मणीया स्त्री-रत्नों ने श्रीभगवान वृन्दावनविहारी को

निमित्त अपने गृह, परिवार, लोकलज्जा आदि को प्रसन्नता से त्याग किया जिनका त्यागना परम कठिन और दुष्कर है। *

इस भाव के भाविक का प्रेम-पूरित हृदय, लोहा-चुम्बक के समान, श्रीउपास्य के चरणकमल की ओर विना परिश्रम आपसे आप स्वभावतः ऐसा आकर्षित रहता है कि दोनों पृथक् न रहसकते और न होसकते। अनेक काल से जिस उपासक ने प्रेम-पाश में स्वतः आबद्ध होकर और श्रीउपास्य को आबद्ध कर अपने चित्तरूपी भ्रमर को श्रीउपास्यके श्रीचरणकमल के मकरन्द के आस्वादन में संलग्न करने की चेष्टा की और जिस रसा-स्वादन की मधुरता के कारण वह ऐसा मत्त, मग्न और तन्मय होजाताथा कि उसका चित्तभ्रमर उस रसको त्यागकर अन्यत्र जाने में असमर्थ हो जाता था और शरीर, मन और वचन से कार्य करते रहने पर भी वह श्रीचरणकमल में ही लवलीन रहता था, उसका विशेष परिणाम इस अवस्था में विशेष रूप से देखाजाता है। इस अवस्था में भाविक का चित्त सदा सर्वदा अनवरत श्रीउपास्य के चरणसरोज में ही प्रविष्ट रहता है और उस को छोड़कर अन्यत्र जाना नहीं चाहता। अंतर हृदय में जो श्रीचरणका रसास्वाद मिलता है वह ऐसा मधुर और अमृतमय है कि चित्त आपसे आप सदा उसमें लीन रहता है। जैसे २ भाविक भाव-साधनाओंमें उन्नति करता है और जैसे जैसे उसकाहृदय सरोवर की प्रेम-वारि अधिक शुद्ध और स्वच्छ होती जाती है और वह जितनी अधिक मात्रामें प्रेम-वारिसे श्रीचरणके प्रक्षालन में युक्त रहता है, उतनाही अधिक श्रीचरण के मकरन्द के रसास्वादनकी मात्रा और मधुरता बढती जाती है।

श्रीव्रजगोपियोंकी इस तन्मय अवस्थाका वर्णन श्रीमद्भागवत-पुराणमें यों है:—

---

* श्रीमद्भागवत पुराण का वचन है:— "हानाथ रमणप्रेष्ठ क्वासि क्वासि महाभुज! दास्यास्ते कृपणायामे सखे दर्शय सन्निधिम्। ३९। (स्क० १० अ० ३०) गोपियां श्रीभगवान को सम्बोधन कर कहने लगीं कि हानाथ! हा रमण! हा अतिप्रिय! हा महापराक्रमी! हा सखे! तुम कहां हो! कहां हो! तुम्हारे वियोगसे अति दीन हुई मुझ दासी को तुम अपनी समीपता दिखाओ।

या दोहने ऽवहनने मथनोपलेप
प्रेंखेंखनार्भ रुदितो क्षणमार्जनादौ ।
गायंति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकंठ्यो
धन्या व्रजास्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः । १५ ।

(स्क० १० अ० ४४)

जो गोपियों, गौ के दूध दुहते समय, धान आदि कूटते समय, दही को मथनेमें, लीपने में, सोतेहुए बालकों के झूले को झटका देने में, रोतेहुए बालकों को चुप करने में और बुहारी देने में चित्त में प्रेमयुक्त और गद् गद कंठ हो कर इन श्रीभगवान कृष्णका गान करती हैं, वे घरके सब काम करते हुए भी श्रीभगवान कृष्ण की ही ओर चित्त लगानेवाली गोकुलकी स्त्रियां धन्य हैं। और भीः—

त्रिभुवन विभवहेतवेऽप्यकुन्ठ--
स्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात् ।
न चलति भगवत्पदारविन्दा-
ल्लवनिमिषार्द्धमपि स वैष्णवाग्र्यः

(श्रीमद्भा०)

त्रिलोक का राज्य मिलनेपर भी इन्द्रादि देवगण जिसको खोज में व्यग्र रहते हैं, ऐसे श्रीभगवान के चरणारविन्द से लव निमेष के आधे समय के लिये भी जिसका चित्त अन्यत्र विचलित नहीं होता है किन्तु श्रीभगवान के पादपद्म को ही सार जान उसीमें दृढ़ विश्वास रख स्थिर रहता है वही वैष्णवश्रेष्ठ हैं ।

: इस अवस्था में भाविकका चित्त स्वभावतः श्रीउपास्यके श्रीचरण कमलके मकरन्दके रसास्वादनमें मग्न रहता है, जैसाकि कहा जा चुका है, किन्तु इसके लिये उसे विशेष चेष्टा करना आवश्यक नहीं होता और सांसारिक कार्य्योंके सम्पादन में प्रवृत्त रहनेपर भी इस भावमें व्याघात नहीं होता, क्योंकि वे कार्य्य भी प्रेम से प्रेरित होकर श्रीउपास्य के निमित्त ही त्याग की भांति किये जाते हैं। ऐसे भाविक श्रीगोपिकाओं की भांति सांसारिक कार्य्य करते रहने पर भ

अपने चित्त को सदासर्वदा अनवरत श्रीउपास्य के चरणसरोज में संनिवेशित रखता है और उससे कदापि विचलित नहीं होता। शरीर, वचन, बुद्धि से कर्तव्यपालन में प्रवृत्त रहने पर भी उसका चित्त श्रीउपास्य में ही रहता है जो उसके सर्वस्व स्वरूप हो जाते हैं। जो अमृत के सरोवर में अवगाहन कर रहा है वह किस प्रकार अमृतके पानको त्याग कर नालेके गंदा जलको पीना चाहेगा, इसी प्रकार जिस को श्रीउपास्यके चरणामृतका रसास्वादन मिला है वह उस को त्याग कर विषय रूपी नाली के मलिन जल को कैसे पी सकता है?

श्रीउपास्यके निरंतर चिंतन और सेवनका परिणाम यह होता है कि उपासक और श्रीउपास्यमें निकटस्थ सम्बन्ध होनेके कारण दोनों प्रेमसूत्र से आबद्ध हो कर ऐसा समीपवर्ती हो जाते हैं कि इस अवस्थाकी आध्यात्मिक दशामेंश्रीउपास्यका सद्गुण और भी किंचित विभूति उपासकमें प्रकट होने लगती हैं, यहां तक कि उसके स्थूल शरीरकी भी आकृति बदल जाती है। सख्यभावके बहुत बड़े भक्त श्रीभगवानके परम प्रिय श्रीअर्जुन थे और कहा जाता है कि वे श्रीभगवान श्रीकृष्णचन्द्रके समान आकृतिआदिमें परिणत हो गये थे। ऐसा होना कोई आश्चर्य्य नहीं है: -
श्रीमुखका वचन है:—

अनन्यचेताः सततं योमां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ! नित्ययुक्तस्य योगिनः। १४।
गीता, अ. ८

विषयान्ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते। २७।
भाग. प्र. स्क. ११ अ० १४।

मय्यावेश्यमनः कृत्स्नं विमुक्ताशेषवृत्तियत्।
अनुस्मरंत्यो मां नित्यमाचिरान्मा मुपैष्यथ। ३७।
ए. स्क. १० अ. ४७।

हे पार्थ ! जो चित्तसे अन्य भावनाओंको दूर करके प्रतिदिन निरन्तर मेरा ही स्मरण करता है, उस समाहित चित्त योगीको मैं सहजमें ही प्राप्त हो जाता हूं * । विषयोंके ध्यान करने से चित्त विषय ही को प्राप्ति करता है, और मुझको चित्तमें स्मरण करनेसे मुझमें ही लीन होता है । हे गोपियो ! मेरेमें मनको पूर्णरूपसे संनिवेशित करके और अन्य सम्पूर्ण भावनाओंसे चित्तको खाली करके मुझको सतत स्मरण करते रहने से शीघ्र मुझको प्राप्त होवोगी ।

मनमें ऐसी क्रिया शक्ति है कि जो कोई मन द्वारा एकाग्रता और श्रद्धासे जिसका ध्यान और चिंतन करता है वह उसके सदृश होने लगता है और उसका गुण उसमें आने लगता है । कीट भ्रमरीके भयसे उसमें चित्त सतत एकाग्र रखनेके कारण स्वयं भ्रमरी हो जाता है । इसी प्रकार श्रीउपास्यके ध्यान चिंतनसे ध्याता उन्हींके समान होने लगता है । यह नियम है कि जिसमें जिसका चित्त पूर्ण संलग्न होता है उसको उसीकी प्राप्ति होती है, वरु वह वही हो जाता है । छान्दोग्योपनिषत्का वचन है: —

खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिंल्लोके पुरुषो-भवति । ३ । १४

यंयं लोकं मनसा संविभाति विशुद्ध सत्वः कामयते-यांश्च कामान् । तंतं लोकं जायते तांश्च कामां ॥ १०

मुण्डकोपनिषत् ३-१

मनुष्य अपनी इच्छा (संकल्प) का परिणाम है, जैसी उस की इच्छा (सकल्प) इस जन्ममें हैं वैसी ही वह दूसरे जन्ममें होगा । विशुद्ध बुद्धिवाले मनुष्य जिस २ लोक की मन से भावना करते हैं और जिन २ इच्छाओं को प्राप्ति की चाहना करते हैं वही लोक और उन्हीं इच्छाओं को प्राप्त करते हैं । सृष्टि भी प्रजापति के मानसिक संकल्प का परिणाम है और प्रत्येक मनुष्य व्यष्टि प्रजापति

---

* देखो श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय ८ श्लोक १४ और २१ और अध्याय १२ श्लोक ६, ७ और ८--

हैं अर्थात् अपने मानसिक संकल्प को फलीभूत करने की शक्ति उस में वर्तमान है किन्तु वह गुप्त है। अभी हम लोगों का मन मल विक्षेपादि दोषों से कलुषित है जिस के कारण मानसिक क्रिया शक्ति छपी हुई है, अतएव संकल्प सफल नहीं होता। दोषों के हटने पर जितना ही उस शक्ति का विकाश होगा, उतना ही वह कारगर होगी।

सखा भाव में घनिष्ठता के कारण यहां ही से मधुर भाव का प्रारम्भ होता हैं। श्रीभगवान मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीकौशलेश ने अपने सखा गुह निषाद पर जो अपने स्नेह की वर्षा की वह इस भाव की उच्चता का द्योतक है जिस के द्वारा फिर भी यही दिखलाया गया कि श्रीभगवान केवल प्रेम के भूखे हैं और विना प्रेम के केवल उच्च जाति, विपुलधन, बड़ी विद्या आदि उनको कदापि प्रिय नहीं है किन्तु कभी २ उनकी प्राप्तिमें ये बाधकभी होते हैं। लंकाकी विजय के बाद श्रीअवधपुरी को लौटने के समय तब गुहा निषाद को श्रीभगवान के दर्शन हुए तो श्रीभगवान ने सहर्ष गुह को अपने हृदय कमल में लगा लिया। श्रीभगवान के हृदय का स्पर्श जो ब्रह्मादि देवताओं को कठिन तपस्या करने पर भी दुर्लभ है वह सहज में ही निषाद को उन की एकान्तिक भक्ति के कारण प्राप्त हो गया। श्रीगोस्वामी तुलसीदास जी ने अपने रामायण में इस का वर्णन यों किया है:—

॥ चौपाई ॥

प्रभुहिं विलोकि सहित वैदेही। परेउ अवनि तनु सुधि नहीं लेही॥
परम प्रीति विलोकि रघुराई। हरषि उठाय लीन्ह उरलाई॥
छन्द। लिये हृदय लाय कृपानिधान सुजान राम रमापती। बैठारि परम समीप पूछी कुशल सो करि वीनती॥ अब कुशल पद पङ्कज विलोकि विरञ्चि शङ्कर सेव्यजे। सुखधाम पूरण काम राम नमामि राम नमामिते॥ सब भांति अधम निषाद सो हरि भरत ज्यों उर लाइये। मति मन्द तुलसीदास सो प्रभु मोहवश बिसराइये॥

अयोध्या के राज्याभिषेक के बाद निषाद को बीदा करते समय श्रीभगवान ने ऐसा कहा:—

तुम मम सखा भरत सम भ्राता। सदा रहेहु पुर आवत जाता॥

यहां श्रीभगवान ने मल्लाह की वृत्ति करने वाले श्रीनिषाद को

श्रीभरत जी के समान मानो जिन श्रीभरत जी के विषय में श्रीमुख वचन है किः—

"सुनहु लषण भल भरत सरीखा, विधि प्रपंच महं सुना न दीखा।
होते न भूतल भाव भरत का, अचर सचर चर अचर करत को॥
और भीः—

भरत सरिस को राम सनेही। जग जपु राम राम जपु जेही।

श्री भगवानने अपनी कृपा और प्रीति जो प्रिय सखा श्रीसुग्रीव और श्रीविभीषण के प्रति दिखलाई उससे भी उनकी भक्तवत्सलता का परिचय मिलता है। जब श्री विभीषण अपने भाई रावण और लंका को त्यागकर श्रीभगवानकी शरण में आये, तो श्रीभगवान ने उन्हें अपनाने में कुछ भी देरी अथवा पेशोपेश नहीं की और मना करने पर भी शरणागत और आश्रयके पालन के अपने प्रण से विचलित नहीं हुये। श्री भगवान द्वारिकाधीश के प्रिय सखा परम दरिद्र श्री सुदामाका चरित्र सखा धर्म का परम उत्कृष्ट उदाहरण है। सुदामा ने दरिद्रता के दुःख से अत्यन्त पीड़ित रहनेपर भी श्रीभगवान से धन की प्रार्थना करने के संकल्प को कभी अपने चित्त में नहीं आने दिया, यद्यपि वे जानते थे कि प्रार्थना करते ही उनकी दरिद्रता मिटजायगी। वे बड़ी प्रसन्नता से दरिद्रताको सहते थे और अपनी दशा से संतुष्ट रह कर श्रीभगवान से अपने चित्त को कदापि पृथक नहीं करते थे। अपनी स्त्रीके बहुत अनुरोध किये जाने पर वे द्वारका में गये। श्रीसुदामा के मिलनका प्रसंग श्री मद्भागवत पुराणमें यों वर्णित हैः—

तं विलोक्याच्युतो दूरात्प्रियापर्यङ्क मास्थितः।
सहसोत्थाय चाभेत्य दोर्भ्यां पर्यं गृहीन्मुदा १८
सख्युः प्रियस्य विप्रर्षे रंगसंगातिनिर्वृतः।
प्रीतो व्यमुचदब्बिंदून्नेत्राभ्या पुष्करेक्षणः १९
अथोपवेश्य पर्यंके स्वयं सख्युः समर्हणम्।
उपहृत्यावनीज्यास्य पादौपादावनेजनीः २०
अग्रहीच्छिरसाराजन् भगवाल्लोकपावनः।
व्यलिप द्दिव्यगन्धेन चन्दना गुरु कुंकुमैः २१
धूपैः सुरभि भिर्मित्रप्रदीपावलि भिमुर्दा।
अर्चित्वावेद्य तांबूलं गाच स्वागतमब्रवीत् २२
(स्क१० अ० ८०)।

उस ब्राह्मण (सुदामा) को दूर से ही देख कर प्रिया के पलंग पर बैठेहुये श्रीभगवानने शीघ्रता से उठ कर और सन्मुख जाकर हर्ष से आलिंगन किया। तब अपने मित्र तिन विप्रर्षि के अंग के स्पर्श से अति आनन्द युक्त और तृप्त हुये तिन कमल नयन श्रीभगवान ने अपने नेत्रोंमें से आनन्द के आंसू बहाये। हे राजन्! तदनन्तर उस प्रिय और मित्र ब्राह्मण को पलंग पर बैठा आप ही पूजा की सामग्री लाकर, उस सखा के चरण को धोकर, वह जल श्रीभगवान ने, अपने आप लोक को पवित्र करनेवाले हो कर भी, मस्तक पर धारण किया और दिव्य गन्ध, चन्दन, अगर तथा केसर से उनके अङ्ग को लेपन किया। फिर सुगन्ध युक्त धूप और दीपकों की पंक्ति (आरती) से तिस मित्रका पूजन करके और तन्दुल और गौ अर्पण करके स्वागत प्रश्न पूछा। दर्शन होने पर भी श्रीसुदामा ने कोई प्रार्थना श्रीभगवानसे न की और इस प्रकार अपने सखा धर्म का कदापि भंग नही किया। तब श्रीभगवान ने श्रीसुदामा की स्त्री का भेजा हुआ प्रेम पूरित प्रेम स्वरूप तण्डुल (चावल) को स्वयं अपने हस्त कमल से लेकर परम प्रीति से उसको भोग लगाया और ऐसा कहाः—

नन्वेतदुपनीतंमे परम प्रीणनं सखे। तर्पयत्यंग मां बिश्व मे ते पृथुकतंडुलाः ६ (श्रीमद्भागवत स्क० १० अ ८१।

और बड़े आदर से श्रीभगबान ने कहा कि हे मित्र! मैं सत्य कहताहूं कि यह चावलों की भेट मुझे अत्यन्त प्यारी और तृप्त करने वाली है। यह चावल मुझे और मेरे आश्रय से रहनेवाले सब जगत् को भी तृप्त करेगा।

श्रीभगवान का वाक्य कि यह चावल का नैवेद्य जगतको तृप्त करेगा परम सत्य होने के कारण विचारणीय है। श्रीभगवान पूर्ण काम हैं, उनको कुछ भी अप्राप्त नहीं है, किन्तु भाविक भक्तगण जो पत्र, पुष्प, फल, जल आदि के समर्पण द्वारा उनकी सेवा करते है वह अपने हृदयके प्रेमोद्गारके कारण ही करते हैं। त्याग द्वारा श्रीभगवान की सेवा करने पर ही भाविक के हृदयस्थ विरहाग्नि की ज्वाला की किंचित शान्ति होती है जिससे प्रेरित हो कर वे अपनी उत्तमोत्तम वस्तु औरभी सेवा धर्मको श्रीभगवानको समर्पित

करतेहैं । यथार्थमें यह स्वयं प्रेमाप्लुत कृत्तज्ञहृदयहीं का समर्पण और आंतरिक भाव है, वाह्य वस्तु अथवा कर्म केवल उसका वाह्य सूचक है किन्तु यह भी आवश्यक है । इस कारण इस हृदयके प्रेमार्पणसे स्वतः जगतका वडा कल्याण होता है, क्योंकि श्रीभगवान सब की परम आत्मा हैं जिसके कारण उनमें प्रेमसे अर्पित वस्तु अथवा कर्म से सबकी तृप्ति होती है । परम प्रेम ही जगत का जीवन और मंगल का कारण है अतएव भावक के श्री उपास्य के चरणमें प्रेम समर्पण करने से जगत का कल्याण अवश्य होता है । यही कारण है कि श्री भगवान नन्दनन्दन जवरदस्ती करके भी स्वयं अपने गोकुलके प्रेमियों से प्रेम रूपी मक्खन हर लेते थे ताकि उसको ग्रहण कर जगत के कल्याण में उसे प्रयुक्ति करें । गोपियों के प्रेम रूप मक्खन अथवा सुदामा का तण्डुल प्रस्तुत रहने पर श्रीउपास्य उसे स्वयं ग्रहण करलेंगे । भाविक को समर्पणके लिये प्रेम नैवेद्य तय्यार रखना चाहिये । इसी कारण श्रीभगवान ने श्री सुदामाके निवेदित भोग से जगत का कल्याण होना कहा । इस पुस्तकके प्रथम खण्ड में यह बात बार २ कही गई है जिसकी पुष्टि ऊपर के वाक्य से फिर हो गई । श्री सुदामा का कथन हैः—

किंचितकरोत्युर्वपि यत्स्वदत्त सुहृत्कृत फल्ग्वपि भूरिकारी । मयोपनीतां पृथुकैकमुष्टिं प्रत्यग्रहीत्प्रीति युतोमहात्मा । ३५ तस्यैवमेसौहृद सख्यमैत्री दास्य पुनर्जन्मनि जन्मनिस्यात् । महानुभावेन गुणालयेन विषज्जतस्तत्पुरुष प्रसंगः ३६ श्रीभागवत स्क० १० अ० ८१ श्रीभगवान अपने दिये हुये बहुतसे भी ऐश्वर्य को थोड़ा जानते हैं और प्रेमयुक्त भक्तके करे हुये थोड़े से भी भजनको बहुतसामानते हैं, इस विषयमें प्रमाण मेरा ही उदाहरण है कि मेरा अर्पण किया हुआ चावल जो केवल एक मुट्ठी थी उसको उन महात्मा ने प्रीतियुक्तहो बहुत मानकर स्वीकार किया । ऐसा कहकर और श्री भगवानकी भक्तवत्सलता देखकर उस ब्राह्मणने मनमें प्रार्थनाकी कि मुझे आगेको जन्म जन्मान्तरमें तिन श्रीभगवान का प्रेम, सख भाव, मित्रता और सेवकभाव प्राप्त हो तथा महानुभाव और ऐश्वर्य्य आदि गुणों के वदले श्रीभगवान के साथ विशेष कर के सम्पदा पाने वाले मुझको उनके भक्तों की उत्तम सङ्गति हो ।

स्मरण रहे कि सब समयमें श्रीभगवान अपने भक्तों के चावल अच्छत (हृदय प्रेम) अथवा मक्खन (स्नेह) की भेंट स्वयं लेने के

लिये बड़े इच्छुक रहते हैं जिस से जगत का भी बड़ा मङ्गल होता है किन्तु भाविक को चाहिये कि श्रीभगवान को अर्पण करने के लिये हृदय-प्रेम रूपी चावल अथवा मक्खनका जोगार करें। सर्वात्मज्ञान और दया और निषकाम भजन स्मरण ध्यान रूपी धान अथवा दुधसे यह प्रेम चावल अथवा मक्खन तय्यार होता है।

श्रीभगवान ने सुदामा के चरणको स्वयं धो कर उस जल को मस्तक पर लिया यह उन के दिव्य गुण के अनुसार ही है क्योंकि श्रीमुख वचन है कि मैं अपने दास का दास हूं। एक दिन श्री नारदजी द्वारिकापूरी में श्रीभगवान के भवन में जाकर देखा कि श्रीअर्जुन पलंग पर लेटे हुये हैं और श्रीभगवान सिरहाने की ओर नीचे वैठे हुये उनके केश को संवार रहे है।

श्रीभगवान केवल भाव के भूखे है वस्तु के नहीं, इसका एक और भी उत्तम प्रमाण है। जब श्रीभगवान हस्तिनापुर में दुर्योधन का पाण्डवों का हिस्सा दे देनेके लिये समझाने गये जिसको उन्होंने स्वीकार नहीं किया, तब श्रीभगवान उनके यहां भोजन न कर भक्त श्रीविदुरके गृहमें आये किन्तु वे उपस्थित नहीं थे। उनकी धर्मपत्नी जो उत्तम सेविका थीं श्रीभगवान के आगमन के कारण प्रेम से ऐसा नितान्त विह्वल हो गई कि उन्हें शरीर आदि वाह्य पदार्थों की एक दम सुधि नहीं रही। ऐसी अवस्था में वे श्रीभगवान के लिये केला फल को अर्पण करने में केलेको तो वाहरी छिलका समझ फेंक कर केवल छिलके को अर्पित करने लगीं और श्रीभगवान बड़ी प्रसन्नता से केलेके छिलके को भोग लगाने लगे। विदुर के आने पर और उनके द्वारा छिलके के भोग को रोके जाने पर श्रीभगवान ने कहा कि हे विदुर! फल के छिलके ही मुझे बड़े मिष्ट और सुस्वादु बोध होते थे, क्योंकि वे बड़े प्रेम से अर्पित थे। यथार्थ श्रीभगवान केवल प्रेम और स्नेह केप्यासे हैं और इसी से उन की तृप्ति होती है और जगत का भी कल्याण होता है।

इस अवस्था में भाविक की अन्तरात्मा जागृत हो जाती है और तब उस को इस भाव की आध्यात्मिक अवस्था में आध्यात्मिक रहस्य का उपदेश मिलता है जो केवल बुद्धि द्वारा ग्राह्य न हो कर भाव में परिवर्तित हो जाता अर्थात् वह उस उपदेश

में तन्मय हो जाता है। यथार्थमें यह उपदेश हृदयमें अनुभव कराया जाता है किन्तु इसका कभी २ बाह्य आकारभी होता है जो यथार्थ में अन्तर्क्रिया का केवल द्योतक होता है । यह प्रेम पदेश है जो परमात्मा से जीवात्मा को मिलता है और केवल रसिक हृदय में ही यह प्रेमोपदेश रस प्रवेश करता अन्यमें नहीं ।

श्रीगीता का श्री मुख वचन हैः—

> सएवाऽयं मयातेऽद्ययोगः प्रोक्तः पुरातनः ।
> भक्तोऽसि मे सखाचेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् । ३ (अ. ४)

वही यह प्राचीन योग के उत्तम रहस्य को इस समय मैं ने तुम कोअपना भक्त और सखा जान कर कहा है ।

इस परम मंगल उपदेश-गीत का अनुभव केवल त्यागी रसिक की पवित्र अन्तरात्मा को ही हो सकता है, अन्यको नहीं । साधक की योग्यता और आवश्यकता के अनुसार इस अमृत रस का प्रसाद क्रमशः उनको मिलता है ।

श्री भगवान कौशलेश ने श्रीलक्ष्मणजी को स्वयं उपदेश किया और श्रीहनुमानजी को उपदेश श्री सीताजी से दिलवाया । श्री भगवान मथुराधीश ने अपने प्रियसखा श्री अक्रूरको अर्जुन की भांति यमुना जलमें निज रूप दिखाकर फिर श्रीगोपियों के पास भेज उनके द्वारा प्रेम की दीक्षा से दीक्षित करवाया । और भी उन्होंने जैसा कि श्रीअर्जुन को गीताका उपदेश किया, उसी प्रकार दूसरे प्रिय सखा श्रीउद्धवको भी उपदेश किया । श्री उद्धवजी को श्रीभगवान ने कहाः—नतथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शङ्करः । नच संङ्कर्षणो न श्रीर्नैवात्माच यथा भवान् । १५ श्रीमद्भागवत स्क-११ अ-१४ हे श्रीउद्धव! आत्मयोनि ब्रह्मा, शिव, बलरामजी, लक्ष्मी और मेरी आत्मा मुझको वैसा प्रिय नहीं है जैसाकि तुम हो श्रीउद्धव जी अपने को दास ही मानते थे । लिखा हैः त्वयोप भुक्त स्रग्गं ध वासोऽलंकार चर्च्चिता, । उच्छिष्ट भोजनो दासास्तव मायां जये महि ४६ श्रीभाग० स्क० ११ अ० ६ । तुम्हारे प्रसादि माला, चन्दन वस्त्र, आभुषण धारण करने वाले और उच्छिष्ट भोजन करने वाले हम दास तुम्हारी माया को जीत रहे हैं इसमें सन्देह नहीं । अन्तिम उपदेश जो श्रीभगवान ने श्रीउद्धवको दिया उसको अपना धर्म अर्थात् भागवत धर्म कहा, उसका वर्णन श्रीभागवत पुराण में यों हैः—

हन्तते कथयिष्यामि ममधर्म्मान् सुमगलान् । यान् श्रद्धयाचरन मर्त्यो मृत्यु जयति दुर्जयम् ८ कुर्यात्सर्वाणि कर्माणि मदर्थं शनकैः स्मरन् । मय्यर्पित मनश्चितोमद्धर्मात्मगनो रतः ९ मामेव सर्वभूतेषु वहिरंतरपावृतम् । ईक्षेतात्मनि चात्मानं यथा खममलाशयः १२ इति सर्वाणिभूता निमद्भावेन महाद्युते । मभाजयन्मन्यमानो ज्ञानं केवलमाश्रतः । १३ ब्राह्मणे पुल्कसेस्तेने ब्रह्मण्ये ऽर्के स्फुलिंगके । अक्रूरे क्रूरके चैव समदृक्पंडितोमतः १४ नरेष्वभीक्ष्णं मद्भावं पुंसोभावयतोऽचिरात् । स्पर्धाऽसूया तिरस्काराः साहंकारा वयंतिहि १५ विसृज्य स्मयमानान् स्वानूदृशंव्रीडांचदैहिकीम् । प्रणमेद्दंडवद्भूमा वाश्वचाण्डाल गोखरम् । १६ सर्वं ब्रह्मात्मकं तस्य विद्ययात्ममनीषया । परिपश्यन्नुपरमेत्सर्वतो मुक्त संशयः । १८ अयं ह सव कल्पानां सध्रीचानो मतोमम । मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्काय वृत्तिभिः १९ योयो मयिपरे धर्मः कल्पते निष्फलायचेत् । तदायासो निरर्थः स्याद्भयादेरिव सत्तम २१ (स्क० ११ अ० २९)

श्रीभगवान ने कहा कि हे श्रीउद्धवजी ! मैं तुम को अत्यन्त सुखद अपना (श्रीभागवत) धर्म कहता हूं जिसको श्रद्धासे आचरण करने से मृत्यु भी जीती जा सकती है यद्यपि उसका जीतना परम कठिन है । मनुष्य मेरा स्मरण करता हुआ मेरे निमित्त धीरे २ सब कर्मोका आचरण करे, संकल्पविकल्पात्मक मन और चित्त को मेरी ओर लगावे और भागवत धर्मों के आचरण में मन की प्रीति रक्खैं, ९ चित्त को निर्मल रक्खे, और जैसे आकाश विश्व को भीतर-बाहर से व्याप्त किये हुआ है किन्तु कहीं भी आसक्त नहीं होता है, तैसे ही सकल प्राणियों में और अपने में भी भीतर और वाहर भी मैं ही आत्मामें आत्म रूप से व्याप्त रहा हूं, मेरे स्वरूपको परिच्छिन्नता नहीं है. ऐसी दृष्टि रक्खे हे महाज्ञानवान ! इस प्रकार केवल ज्ञान दृष्टि का आश्रय रख कर जो पुरुष सकल प्राणियो को मेरा स्वरूप मानता और सत्कार करता है, वही पण्डित है, यह वार्ता सवको मान्य है । उसकी दृष्टि में चाण्डाल, ब्रह्मणोंके धनका छीननेंवाला वा ब्राह्मणों को दान देने वला, सूर्य्य वा अग्निकी चिनगारी,शान्त वा क्रूर, ऐसे परस्पर विरोधी पदार्थ भी एक समान ही होते हैं । उत्तम, मध्यम और हीन, ऐसे सब ही मनुष्य मात्र के ऊपर नित्य मेरी भावना (भगवत् बुद्धि) रखने वाले पुरुष के द्वेष, असूया (दूसरे के गुण को दोष कहना),

तिरस्कार और अहंकार ये सब दूर हो जाते हैं। अपने मित्र भी अपना हास्य करने लगे, तो उसपर ध्यान न दे, और शरीर के विषयमें "मैं अच्छा हूं, वह बुरा है" ऐसा असम दृष्टि और निन्दा की लज्जा को छोड़ कर, कुत्ते, चाण्डाल, बैल, गदहे, इन पर्यन्त सबों को दण्डवत प्रणाम करें। इस प्रकार आचरण करने वाले पुरुष को, सर्वत्र ईश्वर बुद्धि रखने के कारण, ज्ञान उत्पन्न होकर, सब विश्व ब्रह्मात्म रूप दीखने लगता हैं, ऐसी बुद्धि होय और सब संशय छूटे तो वाह्य क्रिया से उपराम होवे (अर्थात् वाह्य के बदले आंतरिक सेवा में प्रवृत्त हो)। सकल प्राणियों में शरीर, वाणी और मन के व्यापारों से ईश्वर बुद्धि रखना ही सब उपायों में उत्तम उपाय है, ऐसा मेरा मत है। भागवत धर्मोंका नाश नहीं होता, इसमें कुछ विशेषता नही है, क्योंकि हे साधुवर्य! भयका अवसर आने पर भागना, शोक के समय विलाप करना आदि व्यवहार का निरर्थक परिश्रम भी यदि पर ब्रह्मरूप मुझे निषकाम बुद्धि से अर्पण कियाजाय तो वह धर्म ही होता है।

श्रीउपास्य की कृपा से इस भाव की उच्च अवस्थामें भाविक का अन्तर (ज्ञान) चक्षु खुलजाता है, और श्रीभगवान के विश्व रूप प्रत्यक्ष देखपडता कि जिसे देखा है जैसा अर्जुन ने उसका आन्तरिक भाव यह है कि ऐसा भाविक सर्वत्र, छोटे बड़े में, धनी दरिद्र में, सुखी दुःखीं में, पुण्यात्मा पापात्मा में, स्त्री पुरुष में, बालक वृद्धमें, स्वस्थ और व्याधिग्रस्त में, पशुपक्षी में, पर्वत नदी में, वृक्ष और लता में, सूर्य्य और चन्द्र मे, आकाश और पाताल में, मर्त्य और अंतरिक्षमें, शत्रु मित्रमें, सुरूप कुरूप आदिमें सर्वत्र श्रीउपास्यका ही प्रकाश प्रत्यक्ष स्वरूप से देखता है और जगत के व्यापार को भी उन्हीं की शक्ति से संचालित अनुभव कर सबोंके साथ वह सर्वत्र और सब अवस्थामें सखा (मित्र) भाव रखता है। इसी आवश्यकता के कारण श्रीभगवान ने ऊपर के उपदेश में समदर्शी भाव पर बहुत ज़ोर दिया है। मित्र (सखा) भाव वाला किसीसे घृणा नही करता, क्योंकि सबों में श्रीउपास्यका अंश वह देखता है, अतएव सबको वह अपना प्रेमप्रदान करता और यथा सामर्थ्य और अवकास उनका उपकार भी करता। कोई भी उसकी दया और मंगल कामनासे वंचित नहीं रहते। श्रीमद्भगवद्गीता में भी कहा है:—

विद्याविनय सम्पन्ने ब्राह्मणे गविहस्तिनि ।
शुनिचैवश्वपाकेच पंडिताः समदर्शिनः १८ अ ५
सुहृन्मित्रार्युदा सीन मध्यस्थ द्वेष्य बंधुषु ।
साधुष्वपिच पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ९ । अ ६
सर्वभूतस्थमात्मानं सर्व भूतानिचात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सवत्र समदर्शनः २९ । अ ६
सर्वभूतेषु येनैकं भाव मव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु त ज्ज्ञानं विद्धि सात्विकम् २० अ १४

श्रीभगवान को सर्वव्यापा जाननवाला विवेकी विद्या और विनय से युक्त ब्राह्मण, चाण्डाल, कुत्ता, गऊ और हाथी मे भेद नही जानता किन्तु सबको समान दृष्टि से देखता है । जो पुरुष दुष्ट, मित्र ओर शत्रुसे उदासीन, द्वेषी और बन्धुका मध्यस्थ और साधु और पापी को समान देखता है वही उत्तम है । योगयुक भाविक सब को समान देखनेवाला अपने को सब भूत मे और सब जीवों को अपनेमें स्थित देखता है । हे अर्जुन, सब प्राणियों में एक अविनाशी आत्म भाव और नानात्व मे एकत्व देखना यही सात्विक ज्ञान है ।

इस अवस्था मे सब प्राणियों में भगद्भाव केवल बुद्धिगम्य सिद्धान्त मात्र नहीं रहता किन्तु प्रत्यक्ष हो जाता । इस भाविक की अन्तरात्मा श्रीउपास्य के प्रेम के पवित्र स्पर्श से संकुचित भाव को त्याग कर और सर्वात्मभाव की दृष्टिसे दया से द्रवीभूत हो कर ऐसा व्याप्त और विस्तृत हो जाती है कि वह दूसरे के सुख से सुखी, दुःख से दुःखी, चिंता से चिंतित और प्रसन्नता से प्रसन्नचित होता है। ऐसा भाविक संसार के सब प्राणियों को श्रीउपास्य का अंश और रूप अनुभव कर उन के उपकार करने के धर्म को श्रीउपास्य की उत्तम सेवा समझता है। श्रीभागवत पुराण में लिखा है:—

अग्नौ गुरावात्मनि च सर्वभूतेषु मां परम् । अपृथग्धी रुपासीत ब्रह्मवर्चस्व कल्मष : ३२ सर्वाश्रम प्रयुक्तोयं नियमः कुलनंदन । मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्काय संयमः ३५ वेदाध्याय स्वधा स्वाहा वल्यन्नाद्यै र्यथोदकम् । देवार्ष पितृ भूतानि मद्रूपाण्यन्वह यजेत् ५० । स्क० ११ अ १७ इतिमां यः स्वधर्मेण भजन्नि त्यमनन्य भाक् । सर्वभूतेषु मद्भावो मद्भक्तिं विन्दतेऽचिरात ४४ । ऐ० अ० १ ।

और वेदाभ्यास से प्राप्त हुये तेज को धारण करने वाला और ि.ॅ ाप हुआ वह सर्वत्र समबुद्धि रख कर अग्नि, गुरु, जीवात्मा और सब प्राणियों में मुझ परमात्मा की उपासना करे। हे कुलको आनन्द देन वाले उद्धव जी! यह कहे हुये शौचादि नियम, मन-वाणी और देह का निग्रह तथ सब ाणीमात्र में मेरी भावना यह धर्म सब आश्रमों को वि‌ित है। गृहस्थ वेदपाठ रूप ब्रह्म यज्ञ से ऋषि‌ो का, स्वधाकार से पितरों का और स्वाहाकार से देवताओं का और बलिदान कर के प्राणियों का और अन्न जलादि के दान से मनुष्य का, इस प्रकार पंचयज्ञसे उन ऋषि आदि सवों को ईश्वर रूप जान कर तृप्त करे। इस प्रकार जो मनुष्य अपनेधर्म को पालन कर मेरी सेवा करता है, स्त्री पुत्रादिकोंमें आसक्त नही होता है और सब प्राणियो मे मेरी भावना रखता है वह शीघ्र ही दृढ भक्ति को पाता है

श्रीभगवानने श्रीअर्जुन को श्रीगीता के भक्तियोग-अध्याय १२ में इस भावका लक्षण यों कहा है:—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एवच। निर्ममो निरहंकारः समदुःख सुखः क्षमी १३ संतुष्टः सततंयोगी यतात्मा दृढ निश्चयः। मय्यर्पित मनो बुद्धि र्यो मद्भक्तः समे प्रियः १४ यस्मान्नोद्विजते लोको लोका न्नोद्विजते चयः। हर्षामर्ष भय द्वेगैर्मुक्तो यः सच मे प्रिय. १५ अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः। सर्वारंभपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः १६ यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षतिः। शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः समेप्रियः १७ समः शत्रौच मित्रेच तथा मानापमानयोः। शीतोष्ण सुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः १८ तुल्यनिंदास्तुतिर्मौनी संतुष्टोयेन केन चित्। अनिकेतः स्थिरमति भंक्तिमान्मे प्रियोनरः १९ येतुधर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते। श्रद्दधानामत्परमा भक्तास्ते ऽतीवमे प्रियाः २०

जो सब प्राणियों मे द्वेष बुद्धि नहीं रखता किन्तु उनके साथ मित्रभाव रखता और दया दिखलाता (उपकार करता), ममता और अहंकार से रहित होता, दुःख और सुख में समान रहना, दूसरे के अपराध को प्रसन्नता से क्षमाकरना, सदा संतुष्ट रहना, मन और इन्द्रिय को शुद्ध कर अपने वशमें रखना

अपने सत्य सिद्धांत और संकल्प में दृढ़ रहना और मेरे में अपने मन और बुद्धि को समर्पित रखना, ऐसा भक्त मेरा प्रिय (सखा) है। जिससे किसी प्राणीको भय और शंका नही होती और उसी प्रकार उसको भी किसी से भय और शंका नहीं होती, हर्ष, क्रोध भय और चिन्ता से मुक्त रहता, ऐसा व्यक्ति मेरा प्रिय (सखा) है। जो किसी काम्य वस्तु की अपेक्षा नहीं करता, पवित्र, अपने कर्तव्यके पालन मे निपुण, कर्म के फल से उदासीन जिसके अन्तः करण में कभी दुःख प्रवेश नहीं करता, सकाम संकल्प से किसी कर्म को आरंभ नहीं करने वाला, ऐसा मेरा प्रिय (सखा) है। जो लाभ से न हर्ष और हानि से न दुःखित होता, न चिंता करता, न कोई आकांक्षा रखता, शुभ और अशुभ दोनों फलों का त्याग करता, ऐसा भक्त मेरा प्रिय (सखा) है। शत्रु मित्र और मान और अपमान में समान रहता, शीत उष्ण, सुख दुःख में भी एक रस ही रहता, आसक्ति से रहित होता, निन्दा स्तुति को समान मानता, मन के विकार अथवा चञ्चलता से रहित रहता, जिस अवस्था में रहे उसी में सन्तुष्ट रहता, किसी स्थान विशेष से आसक्तिवद्ध नही रहता, स्थिरबुद्धि वाला, ऐसा भक्त मेरा प्रिय (सखा) है। श्रद्धा से मेरे मे अनुरक्त होकर जो भक्त इस ऊपर कहे हुए सिद्धान्त का पालन करते हैं वे मुझ को अत्यन्त प्रिय (बड़े प्रिय सखा) हैं।

ऊपर के लक्षणों में भी समता, निर्वैरभाव, मित्र और करुणाभाव अर्थात् परोपकार का सम्पादन मुख्य हैं। मित्र और करुणाभाव कदापि भावना मात्र नही हैं किन्तु उस को कार्य्य में परिणत करनेसे ही (अर्थात् जिस दुःखित को दशा पर दया आवे उसके दुःख को दूरकरनेका यत्न करनेसे ही) दया करनाहै अन्यथा उसको दया नहीं कहसकते। इस प्रसंग में साधनसंग्रह प्रथमखंड का पृष्ठ २८६ और २६० द्रष्टव्य है। श्रीमद्भागवतपुराण में श्री मुखवचन है:—एतावाज्जन्म साफल्यं देहिनामिह देहिषु ! प्राणैरर्थैर्धिया वाचा श्रेय एवाचरेत्सदा ३५। स्क० १० अ० २२

इस ससार के प्राणियो के जन्म की इतनी ही सफलता है कि अपनी प्राण (शक्ति), धन [दान], बुद्धि (हितचिंतन) और वचन (दूसरोंको हितोपदेश करना)से निरन्तर दूसरोंका कल्याण करे।

श्रीरामावतार मे लंकापुरी में सहायक भालू बन्दर और श्रीकृष्णावतार में व्रज के गोप वालक इस सखा भाव के परमोत्तम

उदाहरण हैं । त्रेता में रावणादि और द्वापर में कंसादि राक्षस रूपी अधर्म के दल को नाश करने के लिये इन सखाओं ने श्रीभगवान के पक्ष में रह कर और उन द्वारा अपने प्रिय शरीर को प्रसन्नता से आपत्ति मे डाल कर अपने प्रेम-धर्मका परिचय दिया । ये दोनों धन्य हैं । भालू वन्दर पशु होने पर भी सर्वात्मा श्रीभगवान के निमित्त अपने को अर्पण किया और व्रज के गोपवालकों ने गौ के चरवाहे होने पर भी श्रीभगवान के लिये अपने को अर्पण किया जिन को व्रज के विद्वान याज्ञिक ब्राह्मणों ने भी नही पहचाना । श्रीमद्भागवत पुराण का वचन हैः—

अहो भाग्य महो भाग्य नन्दगोप व्रजौकसाम् ।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णब्रह्म सनातनम् ३२ [स्कं० १० अ० १४]

अहो ! नन्दगोप के गोकुल में वसने वाले गौ, गोपवाल, गोपी आदि सबोंका कैसा परम भाग्य है , क्योंकि जो परमानन्द रूप सनातन पूर्ण ब्रह्म है वे अपने मन वाणी आदि के अगोचरपना रूप स्वभाव को त्यागकर जिनके मित्र हुये हैं, उनके भाग्य का जितना वर्णन करें उतना थोड़ा ही है ।

इसभाव के भाविक को कष्ट होने पर उसके प्रेमकी मात्रा और भी अधिक वढजाती है और उस कष्टको भी श्रीउपास्य की कृपा का फल ही समझना है जिस को वह अपने अवशेष विकारके नाश होनेके लिये आया हुआ जानता है और इस कारण प्रसन्न रहता है । श्रीउपास्यका भेजाहुआ सभी कुछ उसको अमृत है किन्तु अमृत भी यदि श्रीउपास्य के सम्बन्ध से रहित हो तो वह उसको विष है । लिखा है :—

भवत्सुहृद्यनीश्वरे सुहृदि हन्त राजच्युति
मुकुन्द वसतिर्वने परगृहेच दास्यक्रिया ।
इयं स्फुटममङ्गला भवतु पाण्डवानां गतिः ।
परन्तु ववृधेत्वयि द्विगुण मेव सख्यामृतम् ।
भक्तिरसामृतसिन्धु

पाण्डवादि के अज्ञातवास के समय श्रीनारद जीने कहा कि हे मुकुन्द ! तुम (श्रीभगवान) पाण्डवों के सुहृद रहने पर भी उनको राज्य च्युति, वनवास और दूसरे के दास्यवृत्ति आदि स्पष्ट अमंगलमयी दुर्गति हुई, तथापि इन पाण्डवोंका तुम्हारे मे सख्यामृत भाव द्विगुण वढगया ।

इस भाव में भाविक का अन्तःकरण और आत्मा श्री श्रीउपास्य के भाव से भावित अर्थात् तन्मय होने के कारण वह श्रीउपास्य की इच्छा और धर्म के नियम को अनायास ठीक २ समझ जाता है और उसी के अनुसार उसका वर्ताव होता है। श्रीउपास्य के दैवी गुणों का उस में आविर्भाव होने के कारण और तदनुसार ही उसका क्रियाकलाप और भावना के रहने के कारण मानों वह सदा श्री उपास्यके साथ क्रीडा करता रहता है। श्री उपास्य के कृपापुंज का जो अंतर में उसे साक्षात् रूप में अनुभव होरहा है और हृदय में श्री चरणामृत के रसास्वादन का जो सौभाग्य उसे प्राप्त है उसकी मात्रा और मधुरता इतनी बढ़जाती है कि वह प्रायः अपने को विस्मरण करजाता। जैसे मृगा मधुर ध्वनि में अनुरक्त होकर उसमें ऐसा आसक्त और तन्मय हो जाता है कि अपने को एक दम भूल जाता है, ठीक वैसी ही अवस्था इस भाविक को उच्चदशा मे होती है। जैसे मृगा मधुर ध्वनि मे तन्मय होनेपर और वधिक से पकड़े जानेपर वह समझता है कि वह पकड़ा रहा है जिसके कारण उसकी प्राण चली जायगी किन्तु ध्वनि के साथ अपनेतन्मय प्रेम को वह त्यागना नहीं चाहता और अपने शरीरको ख़तरेमे डालकर भी अपने प्रेम का निर्वाह करता अर्थात् भागता नहीं, वैसाही यथार्थ में सच्चे प्रेम का कठिन परिणाम होता है। भाविक अपने हृदयक्षेत्रमें जो श्रीउपास्य के साथ क्रीड़ा में रत रहता है उसका यथार्थ स्वरूप और उस के आनन्दका वर्णन शब्द से नहीं हो सकता है। योग्य भाविक को अब भी इस बाल क्रीड़ा में योग देने का सौभाग्य प्राप्त होता है, और यह क्रीडा ही संसार का परम मङ्गलकारी है। अहंकार आदि को शुद्ध कर के श्रीचरण में समपर्ण करने पर और शुद्ध प्रेम के रंगसे रंजित होने पर भाविक श्रीउपास्य का सखा बन जाता है और नित्य क्रीडा मे सम्मिलित होता है जो जगत के कल्याण के लिये सदा जारी है।

जैसाकि पहिले भी कहा जाचुका है प्रेमराज्यमें बाधा देनेवाला अधर्मरूपी राक्षस दलको पराभव करने के कार्य्यमे जब श्रीभगवान रघुनाथजी प्रवृत्त हुये तो मनुष्यको कौनकहे भालू बन्दर पशु और पक्षी जटायु तक उनके काममें योग देकर अपने प्रेम का परिचय दिया जिसका परिणाम यह हुआ कि वे सब श्रीभगवान के आत्मीय सखा बनगये। जटायु के मृत शरीर को श्रीभगवान का स्वयं अपने

हस्त कमलसे दाह और क्रिया करना, इससे अधिक श्रीभगवान की भक्तवत्सलताका और क्या प्रमाण हो सकता है? श्रीभगवान ने जो जटायुको उस समय कहा वह सखाभावका परम तत्व है और भाविककोहृदयमे उसे रत्न बनाकर रखना चाहिये। श्रीमुख वचन है।

परहित वश जिनके मनमाहीं। तिन कह जग दुर्लभ कछु नाहीं॥

(रामायण)। और भीः—

कोमलचित अतिदीनदयाला। कारण बिन रघुनाथ कृपाला।
गृध्र अधर्म खग आमिषभोगी। गतितेहि दीन्ह जोजाचत योगी(ये)

जो कहते हैं कि भारतवर्ष में एक जाति (नेशन) नहीं है और न था उनको समझना चाहिये कि यहांकि जातिमें मनुष्यको कौन कहे पशुपक्षी भी शामिल हैं। ऐसी वृहत् जाति अन्य किसी देशमें नहीं है। जो इस समय में भी इस श्रीराम-रावण (धर्माधर्म) के युद्ध में धर्म को ओर हो कर अधर्म के पराभव करनेमें योग देंगे वे श्रीभगवान के प्रिय सखा का दर्जा पावेंगे। कौन कितना कार्य्य किया अथवा करसकेगा इसका श्रीभगवान कुछभी विचार नहीं करते किन्तु कार्य्य जिस आंतरिक भाव और प्रेम से कियाजाय वही मुख्य है। इसी कारण से श्रीभगवान ने भालू वन्दर को सहायता ली जिसके द्वारा संसारको दिखलायागया कि वे केवल भाव चाहते हैं और छोटे की सेवा उनको वैसी ही प्रिय है जैसे बडोंकी, बल्कि छोटे की सेवा अधिक प्रिय है। लंका जानेके लिये समुद्र में सेतुके बाधनेमें एक गिलहरि (रुषी) ने भी योग दिया जो सहर्ष स्वीकार हुआ। श्रीभगवानने अर्जुन को भी कहा कि मैं कौरव दल को मार चुका हूं, तुम केवल निमित्त मात्र होवो। इस युद्ध में विजय श्रीभगवान की तो उनके अपने प्रभावसे अवश्य होती है और होगी किन्तु बडा सौभाग्य का विषय है कि श्री भगवान सबोंको इस में योग देने का और प्रेम का विकाश करने का मौका देते हैं।)

इसी प्रकार श्रीभगवान कृष्णचन्द्रजी धर्मरूपी गौवच्छोंकी रक्षा सेवास्वयं करतेथे और अब भी करते हैं और श्रीवृन्दावनमें जो गोप बालक इस कार्य्य में प्रवृत्त थे वे उनके बड़े प्रिय सखा हुये। इस धर्म गौका दुग्ध ज्ञान है और इस ज्ञानसे प्रेम रूपी मक्खन निकलता है जो सेवा रूपी मिश्री से युक्त करने से श्रीभगवान को परम प्रिय भोग है। श्री भगवान अबभी चाहते हैं कि भाविक इस धर्म (गो) रक्षा के कार्य्य में प्रवृत्त होकर

श्रीभगवानका सखा बनें। सखाभाव में उपास्य और श्रीउपास्य में बहुत कम अन्तर रहजाता है, जैसाकि पहलेभी कहाजाचुका है। यह भाव वह है जब कि प्रेम की अधिकता के कारण भाविक श्रीउपास्य को आलिङ्गन करना चाहता, उनके साथ क्रीड़ा करना चाहता, और महाप्रभु श्रीभगवान चैतन्यदेवजी के शब्दमें मारामारी (अर्थ. बांही) करना चाहता है जैसाकि बचपन में बालक अपने सखा बालकके साथ करते हैं। यह सबोंका सार्वजनिक अनुभव है कि बाल्यावस्थामें बालकों को अपने साथी बालकों के संग रहते, उनके साथ क्रीड़ा, भ्रमण, खेल, वार्तालाप, परस्पर सहायता आदिसे जो आनन्द मिलता है वैसा आनन्द फिर किसी अन्य सांसारिक भावमें नहीं मिलता। बालकाल में विना किसी चिन्ताके रहनेके कारण सखाओं के समागम और मित्रता का आनन्दानुभव बहुत मधुर हो जाता है जिसको वह कभी भूल नहीं सकता और बड़े राज्य के पाने पर भी अथवा अन्य सांसारिक भाव में वैसा स्वच्छ मधुर आनन्द उस को कदापि मिल नहीं सकता है। जब कि सांसारिक सखाभाव ऐसा उत्तम है तो आनन्दके केन्द्र श्रीभगवानके सखाभाव के महत्व और आनन्द का कौन वर्णन कर सकता है? परम धन्य वह भाविक है जिस को श्रीभगवान को कृपा से इस भाव में पदार्पण करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

ऊपर कहे हुये अधर्म से युद्ध करना और धर्म (गौ) की रक्षा और सेवा करना श्रीभगवान की ऐसी सेवा है जिस में वाह्य शस्त्र अथवा शारिरीक वल के प्रयोग करने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस में आवश्यक है कि यम नियम [देखो प्र० ख० पृष्ठ १०८] रूपी कवच को धारण कर और शमदम दया प्रेम परोपकार रूपी आंतरिक शस्त्र से सुसज्जित हो कर इस युद्ध और रक्षा के कार्य्य रूपी सेवा में भाविक प्रवृत्त होवे। प्रेम दया और परोपकार ऐसे शस्त्र हैं जिन से अधर्म के दुर्दान्त कामादि दल सहजमें हीं पराभव हो जाते हैं। इस सेवा कार्य्य में प्रवृत्त भाविक कदापि किसी से द्वेष नहीं करता, किसी की हानि करने की कदापि चिन्ता नहीं करता वल्कि जो उस को अनिष्ट करना चाहते उनकी भी हितकामना ही करता और उनको द्वेष हिंसा से मुक्त करने की भावना रखता। प्रेम में वड़ी प्रवल शक्ति है जो अपने स्पर्श से लोहे को स्वर्ण बना सकता है, पत्थर को

द्रवीभूत कर सकता है और इस का प्रभाव पशुपक्षी वनस्पति तक पर भी पड़ता है, मनुष्य का ता क्या कहना है ? कहा जाता हैं कि श्री शुकदेव जी के गृह से परिव्रजन (त्याग) करने पर उनके सर्वोत्तम प्रेम भाव के कारण वृक्षों के साथ भी उनका तन्मयता (एकीभाव) देखागया। इस युग में भी महात्मा श्रीभगवान बुद्ध देवजी महात्मा ईसुक्राइस्ट, श्रीभगवान चैतन्य महा प्रभु आदिने इस प्रेम धर्म का आचार्य्य बनकर इसके महत्व को प्रत्यक्ष करके दिखला दिया। श्रीभगवान बुद्ध देवजी राजपुत्र हो कर भी इस परम प्रेम के कारण केवल चिथड़े पहिन कर प्रायः मैदान अथवा बांस के बाग में रहकर जगत के कल्याण में सदा प्रवृत्त रहतेथे और उनको आतरिक अभिलाषा यही थी कि विश्व के पापका फल उनके पास भोगनेके लिये आवे ताकि सबके सब सुखी हो जायं। महात्मा इशूक्राइष्टने शूलि पर लटकाये जानेपर भी अपने शत्रुओं की क्षमाके लिये प्रार्थना की क्योंकि वे समझते थे कि वे अज्ञानी हैं। भगवानश्रीचैतन्य महाप्रभुने नवाबके काजी और जगाई मधाई डाकूको केवल श्रीहरिनाम और भगवत्प्रेम के बल से उत्तम बना दिया। सखा भाव के भाविक भी सबके साथ प्रेम करता. सबके कल्याण की कामना करता और प्रेम के प्रयोग से हिंसा और द्वेष भावको पराभव करता।

वात्सल्य भाव

वात्सल्यभाव भी इस सख्यभाव के अन्तर्गत है। श्री भागवत पुराणका वचन है:–न कर्हिचिन्मत्पराः शान्तरूपे नङ्क्ष्यन्ति नो मे निमिषो लेढि हेतिः। येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च सखा गुरुः सुहृदो दैव मिष्टम् ३८ (स्क०३ अ २५) श्रीकपिलदेवजी ने कहा कि हे मातः! जिनका प्रिय, आत्मा, पुत्र, सखा, गुरु, सुहृद और इष्ट देवता मैं ही हूं, तिन एक मेरा ही आश्रय करने वाले भक्तोंका; शान्त रूप वैकुण्ठ मे किसी प्रकार नाश नही होता है, क्यों कि मेरा कालचक्र उनको ग्रास नहीं करता है। वात्सल्य भाव का तात्पर्य्य है कि जैसा कि माता पिता का मधुर स्नेह अपने बालक में रहता है जिसके कारण वह बालक के निमित्त बड़ी प्रसन्नतासे अनेक कष्ट सहते हैं और सदासर्वदा उनका चित्त उस बालक की मधुर मूर्ति और क्रीड़ा में संलग्न रहता है, वैसाही भाव इस भाविक का श्रीउपास्य में रहता है। उसमें यह प्रेम स्वाभाविक हो जाने पर वे सबोंपर दयाकरने लगते हैं। सन्तानके प्रति जो मातापिताका स्नेह,

विशेष कर माताका, रहना है उसका किंचित् वर्णन दासभाव में हो चुका है। यही भाव यहां उपासकमें भी परिवर्तित होजाता है। श्रीउपास्य के वात्सल्यभाव का ध्यान करते करते उपासक में स्वयं वात्सल्य भाव आजाता है और वह श्रीउपास्य के प्रति वात्सल्य प्रेम प्रकाशित करने लगता है। कहाजाता है कि निरंतर स्मरण चिन्तन के कारण श्रीभगवान वृन्दावन बिहारी एकवार श्रीराधा के रूप में परिवर्तित हो गए और श्रीमती राधा जी ने श्रीभगवान के स्वरूप को धारण किया। यह आश्चर्य्य नहीं है। प्रेम रूपी पारस को परिवर्तन करने का अवश्य सामर्थ्य है। वह प्रेमी को प्रेमपात्र के रूप मे परिणत कर देता है और अधिकता होने पर एक भी कर देता है। [देखो प्रथम खंड के पृष्ठ ३३६]। उसी नियमानुसार श्रीउपास्य का परम कारुणिक वात्सल्य प्रेम जो संसार के प्रति हैं वह चिन्तनके बलसे उपासकमें प्रगट हो जाता है और तब स्वयं श्रीउपास्य उस प्रेम के पात्र बन जाते हैं। ऐसे उपासक को श्रीउपास्य बालमूर्ति को होते हैं जिनपर वह वात्सल्यप्रेम का निछावर कर के अपने को तृप्त करता है जिस के बिना उसकी शान्ति नहो होती। श्रीवल्लभ सम्प्रदाय मे यह भाव मुख्य है और वहां इसभावसे बड़े प्रेम और त्याग के साथ श्रीउपास्यकी मधुर सेवा की जाती है। ऐसे उपासक श्रीउपास्यकी बाल क्रीडा का प्रत्यक्ष अनुभव कर माता के समान स्नेह से प्रफुल्लित रहते हैं। श्रीकाक भुशुण्डि आदि भी इस मधुर बाल मूर्तिके उपासक थे। श्रीदशरथ जी में तो यह भाव ऐसा प्रबल था कि वियोग को सह्य ही नही कर सके। माता श्रीकौशल्या जी और श्रीनन्द यशोदा जी को इस भाव से साक्षात् उपासना करनेका परम सौभाग्य प्राप्त हुआ। श्री शंकर की भी उपासना बालयोगी अथवा वटुक के रूप में की जाती हैं। श्रीशक्ति की भी उपासना बाला रूप में होती है। इस भाव के भाविक कोभी साक्षात् उपदेश मिलता है। श्रीनन्द यशोदा आदि को उपदेश मिला था। जैसा कि गाय चरते रहने समय में अपने बछड़े से अलग रहने पर भी वह अपने चित्त को बछेड़े पर ही संनिवेशित रखती है और आवश्यक होने पर चरना भी त्याग कर उस के पास आ जाती, औरजैसा कि कछवी अपने बच्चेकी पुष्टि केवल स्मरण द्वारा करती है, जैसा कि माता अपनी सन्तान के लिये अपने कष्ट को कष्ट नही समझती, उसी प्रकार इस भावके भाविकका चित्त सदा

सर्वदा श्रीउपास्य पर अनुरक्त रहता है और वह अपने स्नेह की वर्षा करने से ही तृप्त रहता किन्तु उस के बदले में कुछ नही चाहता, क्योंकि पिता माता को बालक से बाल्यावस्था में उन की सेवा-शुश्रुषा के बदले कुछ भी पाने की आशा नहीं रहती है। सांसारिक वात्सल्य भाव भी निष्काम है, क्योंकि वर्तमान ही मुख्य है जिस में बदले में कुछ पाने की आशा नही रहती है। भविष्यत तो अनिश्चित है, क्योंकि हो सकता है कि बालकके युवा होने के पूर्व ही माता पिता शरीर त्याग करें और अनेक ऐसा करते भी हैं। यह वात्सल्य भाव सब प्राणियोंमें स्वाभाविक है, अतएव उत्तम है। पशु पक्षी में भी यह भाव वर्तमान है। वे भी अपनी सन्तान के लिये स्वाभाविक रूप से बड़ा स्नेह दिखलाते और उनकी तुष्टिके लिये सहर्ष अपने पर कष्ट सहलेते। पशु पक्षियोंको तो अपनी सन्तान से न कोई स्वार्थ साधन की आशा रहती है और न कभी स्वार्थ साधन होता है किन्तु केवल स्वाभाविक प्रेम से प्रेरित हो कर ही वे अपनी सन्तान के प्रति स्नेह दिखलाते हैं और उन के दुःख से दुःखित और प्रसन्नता से प्रसन्न होते हैं और उन की सेवा में निरन्तर रत रहते हैं। यदि सन्तान के लिये कोई कष्ट भी उठाना पड़े तो माता पिता उसे सहर्ष स्वीकार करते। इस भाव में भी प्रेमपात्र के लिये निष्काम त्याग ही मुख्य है। ऐसा भाविक सदा सर्वदा सेवा और त्याग करते रहने से ही प्रसन्न रहता है और इस में व्याघात पाने से ही वह विरह की ज्वाला में पड जाता है जो उस के हृदयाश्रु के मोचन का कारण होता है। जैसे माता पिता सन्तान के वियोग से परम कातर हो जाते हैं वही दशा इस भाव के भाविक की भी होती है। इस भाव में वियोग अथवा सेवा से च्युति असह्य होजाता। किन्तु वात्सल्य भाव में भी भाविक को प्रायः समय २ पर वियोग प्रतीत होता है, जब कि उसके परम स्नेहपात्र उस के हृदय से अलक्षित हो जाते हैं जिस के होने पर उसको बडी विरह वेदना होती है जो दुःखद होने पर भी उस को शुद्ध ही करती है और उस के प्रेम की परीक्षा कर उसकी मात्रा को बढ़ा देती है। फिर मिलन होने पर वह कृतकृत्य हो जाता है और तब उसके आनन्द की सीमा नहीं रहती।

आत्मनिवेदन की प्रस्तावना।

दास भाव में श्रीउपास्य और भी विश्व को उनका अंश और रूप मान कर दोनों की सेवा की जाती है, सख्य भाव में उपासक श्रीउपास्य और उनके अंश विश्व को सखा मान कर दोनों की सेवा करता है, उसी प्रकार वात्सल्य भाव में भी श्री उपास्य और उनके रूप विश्व इन दोनों की वात्सल्य प्रेम के कारण सेवा की जाती है। वात्सल्य भाव वाला प्राणिमात्र पर दया करता और उनके हित में प्रवृत्त रहता है।

अंतिम भाव आत्मनिवेदन के वर्णन के पूर्व यह आवश्यक है कि इस के पूर्व की साधनाओं का उपसंहार की भांति सूक्ष्म में उल्लेख हो, क्योंकि उन में विना परिपक्व हुए भाविक आत्मनिवेदन के योग्य नहीं हो सकता। साधक शास्त्र के आदेशानुसार निष्काम कर्मयोग और अभ्यास द्वारा शरीर, इन्द्रिय और मन को शुद्ध और वशीभूत करता है और तत्पश्चात् परमार्थ तत्व के सिद्धान्तों को जानने की प्रवल जिज्ञासा होनेपर उन (सिद्धान्तों) का उपदेश पाता है और उनका अध्ययन करता है। सिद्धान्त के श्रवण, मनन, निदिध्यासन द्वारा साधक के चित्त की वृत्ति अन्तर्मुख होती है और सूक्ष्म बुद्धि द्वारा वह उन (सिद्धान्तों) का ज्ञान और विश्वास प्राप्त करता है। किन्तु इतने से भी उसको शान्ति नहीं मिलती, क्योंकि बुद्धि के सूक्ष्म हो जानेपर भी उसमें ऐसी सामर्थ्य नहीं है कि परम शान्ति के आकर श्रीभगवान् के चरण कमल में प्रवेश करे। कठोपनिषत् का वचन कि "दृश्यतेत्वग्रयाबुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः" अर्थात् "सूक्ष्मदर्शी उत्तम और सूक्ष्म बुद्धि से आत्मा को देखते हैं" यह प्राज्ञ-आत्मा जो कारण शरीर का अभिमानी (देखो प्रथमखंड, पृष्ठ १५७-१५८) है उस के लिये है, श्रीभगवान् के लिये नहीं। जब हृदय के शुद्ध होने पर श्रीभगवान् के चरणारविन्द के रसास्वादन के लिये अन्तरात्मा में प्रवल

पिपासा उत्पन्न होती है, तभी साधक भक्ति मार्ग के निकट पहुंचता है, अन्यथा नहीं।

साधक इस पिपासा के वेग के कारण श्रीभगवत्सम्बन्धी वार्ता के सुनने के लिये व्याकुल रहता है जिसके प्राप्त होनेही पर उस की व्याकुलता किंचित्काल के लिये मिटती है। जहां कहीं श्रीभगवत्सम्बन्धी गान, कीर्तन, भजन, कथा, व्याख्या आदि होते हैं वहां २ जाकर वह प्रसन्नता लाभ करता है, मानो मरुभूमि में तृषित पथिक को जल मिलगया। इस के वाद वह स्वयं श्रीभगवान् के यश, कीर्ति, चरित्र और उन के तत्व के रहस्यों का कीर्तन और उपदेश करना प्रारम्भ करता है ताकि श्रीभगवान् का नाम और पवित्र चरित्र विश्व में फैले और सर्वत्र मंगल और शान्ति प्रदान करे, जैसा कि उसने स्वयं बोध किया है। वह कीर्तन द्वारा श्रीभगवान् के पावन नाम और यश को सर्वत्र प्रचार कर संसार के ताप को शान्त करता है। जब साधक का कीर्तन द्वारा चित्त और वुद्धि श्रीभगवान् में आकर्षित होजाती है, तव वह श्रीभगवान् के चरण के आश्रय विना रह नहीं सकती। श्रीभगवान् का कीर्तन परमसुखद सत्संग श्रोता, वक्ता दोनों के लिये है। साधक का मन श्रीभगवान् में अर्पित होने पर वह अपने सांसारिक कर्तव्य के सम्पादन में लगे रहने पर भी मन को श्रीचरण से पृथक् नहीं करता। तत्पश्चात् श्रीचरण का निरंतर स्मरण, ध्यान और सेवा द्वारा श्रीभगवान् का अस्तित्व सर्वत्र सवों में अनुभव करता है जिससे सर्वात्मभाव का किंचित् वोध उसे होता है। उसे अर्चन द्वारा श्रीभगवान् के श्रीचरण के चरणामृत (तेजपुंज) के पान करने का सौभाग्य प्राप्त होता है जिसके कारण वह अपने को भी प्रायः भूलने लगता है और ऐसा होने पर जगत् के मंगल के लिये वह एक केन्द्र सा वन जाता है।

वह वन्दन द्वारा श्री भगवान् के विश्वरूप की सेवा करता

है और दास भाव में प्रवृत्त होकर सब कामों को श्रीभगवान् ही के निमित्त करता है, कदापि अपने स्वार्थ के लिये नहीं। इस अवस्था में व्यवहार और परमार्थ एक होकर दोनों श्रीभगवान् की सेवा में परिणत हो जाते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता का वचन है:—

सततं कीर्त्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते १४ अ० ९

कोई २ निरन्तर मेरे कीर्तन में प्रवृत्त रहकर, कोई २ अविचल मन से मेरे लिये परिश्रम करते हुए, कोई २ भक्ति से मुझको प्रणाम करते हुए, और कोई २ मुझमें चित्त संनिवेशित करके मेरी उपासना करते हैं। सख्यभाव में श्रीउपास्य का विशेष सन्निकटवर्ती भाव प्राप्त करता है और विशेष प्रियपात्र बनजाता है जबकि श्री उपास्य के आदेश और उपदेश का उसे अनुभव होता है।

जैसा कि प्रथम खंड के कर्म योग पृष्ठ ६६ और भक्तियोग पृष्ठ २०९ में कहा जाचुका है, कि श्रीभगवान् के अपने आनन्द भाव के वितरण करने का शुभ संकल्प ही सृष्टि (नानात्व) का कारण है। यह संकल्पही उनकी आनन्दमयी पराशक्ति है जो परम प्रेम स्वरूपा है। इस प्रेम-संकल्प को कार्य्य में परिणत करने को वेद ने पुरुष यज्ञ (प्रेम यज्ञ) कहा है जिस के द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और पालन होते हैं; और आनन्द का विकाश ही इस का लक्ष्य है, जैसा कि कहा जाचुका है। अर्थात् श्रीभगवान् का अपनी शक्ति से युक्त हो कर सृष्टि का उद्भव, स्थिति और पालन करना ही उन के लिये यज्ञ (त्याग) करना है, क्योंकि इस के लिये उन को अपने को अपनी माया से आवद्ध, करना पड़ता है और अपरिच्छिन्न रहने पर भी परिच्छिन्न भाव ग्रहण करना पड़ता है जिस के विना सृष्टि का उद्भव सम्भव नहीं है। श्रीभगवान् स्वयं और स्वेच्छा से अपनी प्रेम स्वरूपा परा शक्ति के आश्रय से यह प्रेम-यज्ञ करते हैं जो उन के लिये निष्काम त्याग है, क्योंकि इस के

द्वारा अपने आनन्द भाव का वितरण कर दूसरों को उस से परितृप्त करने के सिवाय उन्हें अपना कोई स्वार्थ इस में नहीं है। श्रीमद्भगवद्गीता का वचन है :—

न मे पार्थाऽस्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ।२२ अ०३

हे पार्थ ! मैं कर्म (प्रेम यज्ञ) के करने में बाध्य नहीं हूं, क्योंकि तीनों लोकों में कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो मुझे अप्राप्त है अथवा जिस की प्राप्ति करना चाहिये, तथापि स्वेच्छा से (यज्ञ के भाव से) कर्म (प्रेम यज्ञ) में प्रवृत्त होता हूं।

किन्तु यह प्रेम यज्ञ श्रीभगवान् को क्लेशजनक न हो कर आनन्द-मूलक है, चूंकि प्रेम का यथार्थ स्वरूप ही आनन्द है और उस में क्लेश का लेश मात्र भी रह नहीं सकता। अतएव प्रेम, यज्ञ और आनन्द एक दूसरे से स्वतंत्र और पृथक् नहीं हैं और न हो सकते हैं। प्रेम का अस्तित्व ही त्याग (यज्ञ) पर निर्भर है और त्याग का लक्ष्य ही आनन्द है जो प्रेम का स्वरूप है। इस सृष्टि का जीवन ही यह प्रेमानन्द यज्ञ है। जहां प्रेम है वहां यज्ञ है और जहां यज्ञ है वहां प्रेम है। प्रेम विना यज्ञ (त्याग) में परिणत हुए रह नहीं सकता और यज्ञ विना प्रेम के हो नहीं सकता है। इस परम यज्ञ का स्वरूप ही स्वेच्छा और प्रसन्नता से निष्काम त्याग करना है जिस का सम्पादन ही आनन्दमूलक है।

यह प्रेम शब्द ब्रह्म और प्रणव की आत्मा है जो सृष्टि का कारण और यज्ञ की माता है। प्रेम और यज्ञ (त्याग) का संयोग ही आनन्द है। यह त्रिपुटी (प्रेम, यज्ञ और आनन्द) स-शक्ति श्री भगवान् के परम भाव हैं और इन्हीं का विकाश यह परम सुन्दर विश्व वाटिका है। श्री भगवान् के सच्चिदानन्द भाव में प्रेम सत्, यज्ञ चित् और आनन्द आनन्द भाव हैं और उन की पराशक्ति में भी प्रेम ह्लादिनी (परमप्रकाश ज्योति) शक्ति, यज्ञ संवित् (चित्) शक्ति और

आनन्द सन्धिनी शक्ति हैं। इस परम यज्ञ का नाम वैष्णव ग्रन्थों में श्रीभगवान् की नित्य लीला अथवा क्रीड़ा अथवा विहार कहा गया है, और इस के लक्ष्य आनन्द वितरण का नाम विलास भी है। चूंकि यह सृष्टिव्यापी प्रेम-यज्ञ श्रीभगवान् की परम करुणा और माधुर्य्य भाव का प्रकाशक है जिस में त्याग के सिवाय कोई स्वार्थ नहीं है, अतएव यह यथार्थ में उन की परम माधुरी लीला ही है जिस का केवल उद्देश्य प्रेमानन्द का सर्वत्र प्रचार करना है। यह प्रेम-यज्ञ ही इस चिद्रूपी विश्व-वाटिका का कारण, आधार, जीवन, नियम और गति है। लिखा है:—

एषास्य परमा गतिरेषास्य परमा संपदेषोऽस्य परमो लोक एषोऽस्य परम आनन्द एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति। बृहदारण्यकोपनिषत्।४-३-३२

आनन्द ही जीव की परमगति, परम सम्पत्, परम लोक, और परम आनन्द है। इस आनन्द के कणामात्र को पाकर सब जीते हैं। इस परम यज्ञ का मुख्य लक्ष्य इस विश्ववाटिका को तर्पित कर श्रीभगवान् के प्रेमी-भक्त रूप मनोहर पुष्पों का विकाश करना है जो अपनी दैवी सुगन्धि से इस को सुवासित और प्रफुल्लित कर और स्वयं श्रीचरण में समर्पित हो कर इस यज्ञ के उद्देश्य को पूर्ण कर विश्व को परितृप्त करें। इस कारण इस मङ्गलमय सृष्टि में जहां देखिये वहां, कहीं इस प्रेम-यज्ञ का अन्वेषण, कहीं संकल्प, कहीं वेदी, कहीं यजमान, कही आचार्य्य, कहीं होता, कहीं आयोजना, कहीं सामग्री, कहीं कुण्ड, कहीं अग्नि, कहीं मन्त्र, कही देवता और कही अनुष्ठान हैं। सूर्य्य ज्योति से, चन्द्रमा रश्मि से, मेघ वर्षा से, वायु स्पन्दन से, आकाश विस्तार से, अग्नि उष्णता से, जल रस से, पृथ्वी गन्ध से, उद्भिज्ज अन्न, फल, औषधि से, पशु शरीर से, पक्षी शब्द से, और देवर्षि पितृ अन्तर्हित कार्य्य से प्रेमयज्ञ ही कर रहे हैं। यद्यपि इन में से

किसी को इस यज्ञ से अपना कोई स्वार्थ-साधन नहीं है, तथापि इस में योग देकर और उस के द्वारा श्रीभगवान् के आनन्दभाव का वितरण कर उनकी विश्व-हित सेवा कर रहे हैं और औरों को इस महत् कार्य्य में प्रवृत्त होने के लिये उच्च और स्पष्ट स्वर से उपदेश ही नहीं, किन्तु आवाहन भी, कर रहे हैं। वे साफ २ कहते और बतलाते हैं कि यह विश्व ही प्रेम-यज्ञ है और जो इस में प्रवृत्त होना नहीं चाहता उस के लिये यहां स्थान नहीं है। विश्व (ब्रह्माण्ड) में मनुष्य (पिण्डाण्ड) भी सूक्ष्म ब्रह्माण्ड होने के कारण यह भी इस प्रेम-यज्ञ ही का फल है, प्रेम-यज्ञ ही के लिये सृष्ट है। इसी का क्षेत्र है और यही उस में साक्षात् अथवा असाक्षात्, ज्ञात अथवा अज्ञात, हो भी रहा है। किसकी सामर्थ्य है जो इस प्रेम यज्ञ का विरोध करके ठहर सके? प्राचीन काल में रावणादि बड़े २ प्रतापियों ने इसके विरुद्ध होना चाहा किन्तु बड़े प्रभावशाली होने पर भी अन्त में उनकी हार हुई। यह प्रेमयज्ञ जिसमें दूसरों के हित के लिये अपने को स्वाहा करना पड़ता है ऋषि-धर्म है। दूसरों को कष्ट देकर भी अपना स्वार्थ साधन करना इसके विरुद्ध कर्म है जिसको आसुर भाव कहते हैं। और दूसरों को बिना हानि पहुंचाये केवल अपने स्वार्थ-साधन में रत रहना, अथवा कुछ पाने पर ही उसके बदले में कुछ देना, देवता भाव है। देवासुर, संग्राम का तात्पर्य्य ही है कि दूसरों को कष्ट देकर स्वार्थ साधन करना जो आसुर भाव है उसको पराभव करना और इस संग्राम में असुरों की पराजय अवश्य होती है, क्यों कि वह सृष्टि के नियम (प्रेम यज्ञ) के विरुद्ध है। आसुर भाव को देवभाव (सकाम-यज्ञ) से पराजय कर फिर उसको ऋषि भाव (प्रेम-यज्ञ) में परिणत करना अन्तिम लक्ष्य है। इसका वर्णन प्रथम खंड के कर्म योग पृष्ठ ६० से ६३ तक में है। इस विश्व में सर्वत्र यही त्रिपुटी (प्रेमानन्द यज्ञ अथवा प्रेमानन्द लीला) देखी जाती है। विश्व में कोई ऐसी वस्तु है ही नहीं जो इनसे खाली

हो। यही वेद शास्त्र है, यही योग जप है, यही नेमधर्म है, यही ज्ञानज्ञेय है, यही भावभक्ति है, यही इष्ट अनिष्ट है, यहांतक कि रागद्वेष, सुख दुःख आदि द्वंद्व भी इस त्रिपुटी से बाहर नहीं हैं। जैसा कि प्रकाश के अस्तित्व के साथ २ उसके विरोधी अप्रकाश (तम) का भी अस्तित्व आजाता है, सत् के साथ असत्, चित् के साथ जड़ आनन्द (एकता) के साथ विच्छेद (शोक), इसी प्रकार प्रेमानन्द लीलामयी पराशक्ति के कारण उसकी विरोधिनी अपरा-शक्ति (मूल प्रकृति) का भी प्रादुर्भाव हुआ जिसका उद्देश्य विरोध द्वारा पराशक्ति की प्रकृष्टता को दिखलाना है। इस विषय का वर्णन प्रथमखण्ड के पृष्ठ २१३ में हो चुका है।

प्रेम-यज्ञ को सृष्टि की किसी वस्तु से भय नहीं है, क्योंकि इस सृष्टि की उत्पत्ति और स्थिति इसी के लिये है। मूल प्रकृति के त्रिगुण (रज, तम, सत्व) में भी इस त्रिपुटी की छाया पड़ी है जिसके कारण रजोगुण में क्रिया (यज्ञ) सत्वगुण में सुख (आनन्द) और तमोगुण में केवल सत्ता (प्रेम) देखे जाते हैं।

विश्व में प्रत्येक जीवात्मा तो यथार्थ में आनन्द ही अन्वेषण करता है किन्तु प्रकृति के गुणों के भुलावे में पड़कर उसको प्रकृति के विषय (पदार्थ) में ढूंढ़ता है और उसमें प्रेम की त्रिपुटी की छाया रहने के कारण उससे उसको थोड़े काल के लिये किंचित् सुख भी मिलता है जिसके कारण उसकी स्पृहा बढ़ती जाती है। अतएव लोभी लोभ में, क्रोधी क्रोध में, कामी काम में, मानी मान में, दुष्ट दुष्टता में, चोर चोरी में और ऐसे अन्य भी इसी प्रेमानन्द ही की खोज, अज्ञान के कारण यथार्थ को न जान कर अयथार्थ में कर रहे हैं, और आनन्द के बदले दुःख पा रहे हैं। जब जीवात्मा विषय भोग के अयथार्थ सुख के बाद दुःखयंत्रणा भोगता है तब उसकी आंख खुलती है और तब से वह प्राकृतिक गुणों के फंदे से मुक्त होने का यत्न करता है। प्रेम-यज्ञ (परमार्थ साधन) के विरुद्ध कर्म (स्वार्थ साधन) करने से और उस में बाधा

पहुंचने से पराशक्ति (सृष्टि स्वभाव) उसको ठीक करने की चेष्टा करती है और इस चेष्टा ही को दुष्ट-कर्म-फल भोग कहते हैं; अर्थात् बाधा जनित क्षोभ के शान्त करने की चेष्टा ही के कारण बाधा करने वाले को दुष्ट फल भोगना पड़ता है जिसके कारण उसको धीरे २ ज्ञान होने से वह सुधरता है। फल के रूप में कष्ट का आना भी कर्ता की भलाई के लिये ही है; अतएव परमेश्वर की ओर से बाधक के लिये कष्ट प्रदान भी प्रेम ही के कारण है। अतएव विश्व में जहां कहीं कष्ट और क्लेश है वह श्रीभगवान् की दया का ही परिणाम है; ताकि दुःख से ज्ञान होकर आसुरभाव का पराभव हो। जीवात्मा को अभ्यन्तर के असुरदल (स्वार्थ विषय भोगेच्छा) की कैद से मुक्त करने के लिये ही दुःख भेजकर ज्ञानबल का संचार कराया जाता है। किन्तु इस में विशेषता तो यह है कि जीवात्मा जिस जन्ममें, जिस समय में, जिस दुःख की जितनी मात्रा सहने योग्य रहता है उतना ही उसको प्रारब्ध के रूप में कर्म-फल मिलता है; अवशेष संचित की भांति रहता है जो सहन करने की सामर्थ्य के आने पर ही धीरे २ आता है। अतएव इस कर्मफल की नीति में भी श्रीभगवान् की दया का प्रमाण मिलता है।

प्रेम यज्ञ में प्रवृत्त होने से ही प्रकृति के त्रिगुण शुद्ध हो जाते हैं। प्रेम यज्ञ के अनुष्ठान से तमोगुण के आलस्य का पराभव होता है और रजोगुण का स्वार्थ भी परमार्थ में परिणत हो जाता है और सत्वगुण के सुख का बन्धनकारी भाव आनन्द में परिणत होने से शुद्ध हो जाता है।

किन्तु यह परिवर्तन (ऊर्ध्वगति) अर्थात् ईश्वरोन्मुख होना क्रमशः होता है। पहिले मनुष्य उस प्रेम की किंचित् छाया अथवा कण मात्र को पाकर उसको स्त्री पुत्र आदि के लिये व्यवहार करता अर्थात् उनके सुख की सामग्रियों को जुटाने में अपनी शक्ति और समय को व्यय करता जिसके कारण उसकी अहंता स्त्री

पुत्र तक बढ़ जाती है। किन्तु इस से भी उसे शान्ति नहीं मिलती, क्योंकि वह स्त्री पुत्र से अपने लिये सुख चाहता है अतएव यह त्याग स्वार्थ मूलक है, और जब तक स्वार्थ है, तब तक शांति कहाँ ? इस के बाद वह पड़ोसियों में अपनी ममता को बढ़ाता है जो उससे उत्तम हैं किन्तु यहां भी स्वार्थ है, क्योंकि पड़ोसियों से भी कभी कोई सहायता मिलने की आशा रहती है। इस से उच्च भाव मित्र और दुःखियों के लिये त्याग है। ऐसे उदाहरण इस समय में भी देखे गये हैं, जिस में मित्र ने मित्र के लिये अपनी सम्पत्ति को अर्पण कर दिया और ऐसा कर मित्र के दुःख को मिटाकर उस को अपने ऊपर लिया। परम उच्च भाव वह है जब कि प्रेमी चाहता है कि वह जो कुछ प्रेम पात्र के आनन्द के लिये भावना अथवा कार्य्य करे उसकी सुधि प्रेम पात्र तक को न हो। यह निष्काम प्रेम की चरम सीमा है।

इतने पर भी जीवात्मा को शान्ति नहीं मिलती, क्योंकि शान्ति (आनन्द) के सरोवर केवल श्रीभगवान् हैं और उन के परम शुद्ध अंश में भी शान्ति केवल कणा मात्र है जिससे क्षणिक शान्ति तो मिल सकती है किन्तु परम शान्ति, जिसके अन्वेषण के लिये जीवात्मा स्थान २ में अनेक काल से भटक रहा है और दुःख भी उठा रहा है, वह विना श्रीचरण के आश्रय के कैसे मिल सकती है ? श्री स्वामी रामानुजाचार्य्य ने अपने श्रीभाष्य में इस विषय की एक प्राचीनोक्ति उद्धृत की है जो नीचे है:—

"आब्रह्मस्तम्बपर्य्यन्ता जगदन्तर्व्यवस्थिताः ।
प्राणिनः कर्मजनितसंसारवशवर्तिनः ॥
यतस्ततो न ते ध्याने ध्यानिनामुपकारकाः ।
अविद्यान्तर्गताः सर्वे तेहि संसारगोचराः ॥"

ब्रह्मा से लेकर घास पर्य्यन्त सब वस्तु जो संसार में हैं वे कर्मानुसार जन्ममृत्यु की भागी हैं। अतएव वे ध्यान के विषय

होने में सहायक नहीं हो सकतीं, क्यों कि वे सब अज्ञानपरायण और परिवर्तनशील हैं। शाण्डिल्य सूत्र के भाष्यकार श्रीस्वप्नेश्वर भी इस विषय में लिखते हैं,—"भगवन्महिमादिज्ञानादनुपथाज्जायमानत्वादनुरक्तिरित्युक्तं" अर्थात् श्रीभगवान् के गुणकर्म क ज्ञान होने पर जो अनुरक्ति होती है वही भक्ति है।

जैसा कि सूर्य्य समुद्र के जल को अपनी रश्मि के संयोग से परिवर्तन कर मेघ बना कर वर्षा कराते हैं और वह जल नद, नदियों में होता हुआ भी, अपने आदि कारण समुद्र के प्रेम के कारण उन की ओर ही आकर्षित हो कर, उन्हीं में प्रवेश करने पर शान्त होता है, अन्यथा नहीं, उसी प्रकार चिच्छक्ति के स्पन्दन के कारण जीवात्मा के श्रीभगवान् रूपी प्रेम सरोवर का प्रेमांश (चिदंश) रूपी एक विन्दु अथवा हंस होने के कारण उस का प्रकृति में बद्ध रहना अर्थात् नद, नदियों में घिरा रहना ही प्रवास और विच्छेद है जिस विच्छेद दुःख (विरह ज्वाला) अथवा पिपासा की तभी शान्ति होगी जब कि वह प्रेम सरोवर में पहुंचेगा, अन्यथा नहीं। यह हंस अपने प्रवास में अपने स्वरूप को भूल जाता है और अपने को काक (अहंकार) मान कर गदले डाबर (विषय भोग) के जल को पोकर कलुषित और दुःखित होता है। जब इस हंस (जीवात्मा) को अपने निवास स्थान मानसरोवर (श्रीभगवान् के चरणों) का स्मरण होता और पता (ज्ञान) चलता और कुछ सन्देसा भी मिल जाता है और राह दिखाने वाले (श्रीसद्गुरु) से भी सम्बन्ध हो जाता है, तब वह उस ओर की यात्रा में प्रवृत्त होता है।

इस प्रेम पथिक हंस की यह यात्रा बड़ी लम्बी होती है और मार्ग में अनेक विघ्नबाधा भी उपस्थित होती हैं जिन से छुटकारा पाना उस के लिये बड़ा कठिन हो जाता है। इस प्रेम मार्ग में विषय भोग रूप अनेक सुन्दर और मनोहर स्थान और पदार्थ मिलते हैं जिन को देख कर उसका चित्त बड़ा आकर्षित हो जाता और ऐसी भावना उठती है कि उन्हीं में अनुरक्त होकर वह क्यों नहीं

अपने को सुखी करे और मार्ग के कष्ट से छुटकारा पावे; क्योंकि हो सकता है कि उस का अन्तिम लक्ष्य काल्पनिक हो अथवा उस के लिये अप्राप्य हो। इस प्रकार उस के प्रेम की परीक्षा की जाती है। किन्तु यह पथिक मार्ग के भुलावे में कभी नहीं पड़ता, क्योंकि वह अपने लक्ष्य (श्रीउपास्य) में ऐसा तन्मय और स्नेह से आबद्ध रहता है कि अब उस के लिये उस से मुंह मोड़ना दुःसाध्य ही नहीं किन्तु असम्भव है। उसने श्रीसद्‌गुरु की कृपा से प्रियतम श्रीउपास्य की झलक को देखा है और भी उन के चरणारविन्द से प्रवाहित तेज पुञ्ज रूपी निर्मल आकाश गंगा के अमृत रस का आस्वादन किया है जिस के कारण वह अब कैसे लक्ष्य से विमुख हो सकता है। सरोज का मधुकर निकृष्ट गन्ध पर कैसे आसक्त हो सकता है? श्रीमहात्मा कबीर ने इस अवस्था के वर्णन में यों कहा है :—

"हंसा पाये मानसरोवर तालतलैया क्यों डोलै।"

अब उस को यह बोध होता है कि श्रीसद्‌गुरु और श्रीउपास्य की असीम कृपा से और सहायता से ही वह इस परम दुर्गम मार्ग में अग्रसर हो रहा है और मार्ग की कठिनाइयों और विघ्नों को (ऐसी सांसारिक अड़चन और विषयवासना की प्रबलता जो परमार्थ की विरोधी हैं) उन्हीं की शक्ति से वह अतिक्रम कर रहा है। यद्यपि वह उन की इस कृपा के पाने योग्य नहीं है, पर जानता है कि वह उन दोनों त्राण कर्ताओं (गुरु इष्ट) को विस्मरण कर रहा है किन्तु तथापि वे उस को विस्मरण नही करते। वह समझता है कि "मैं प्राय-ऐसी भावना रखता और करनी करता हूं जो उनके विरुद्ध हैं तथापि वे मेरी सुध ले रहे हैं और कठिन पथ में अग्रसर करा रहे हैं"। इतनाही नही, वह जानता है कि कोई भी व्यक्ति, कैसाहु क्षुद्र वह क्यों नहो , उन की दया से वंचित नही है, वल्कि जो प्राणी जितनाही नीचे सृष्टि के विकाश के क्रम में है, उतना ही अधिक वह उन की करुणा को प्राप्त कर रहा है। यथार्थ में श्रीगुरु वा उपास्य का जो

स्नेह(दया) संसार पर है, वह अपनी सन्तति पर माता के स्नेह से भी अधिक प्रगाढ़ और त्यागमूलक है। पद पद पर जीवों की वे रक्षा करते हैं और जो जितने के योग्य हैं उस को उतना प्रसाद (शुभ वासना) मिलता है। श्रीसद्गुरु और श्रीउपास्य की इस अवर्णनीय कृपा और मधुरभाव का बहुत बड़ा प्रभाव भाविक पर पड़ता है और उस के कारण उस का हृदय पिघल जाता, चित्त स्वच्छ हो जाता और अहंकार का अवशेष भाग शुद्ध हो जाता, और उस के प्रेम की मात्रा श्रीचरणों के लिये इतनी बढ़ जाती है कि अपने को बिना समर्पण किये उसे शान्ति नहीं मिलती।

ऐसा भाविक श्रीभगवान् के विश्वव्यापी प्रेमयज्ञ में समर्पण करने के लिये अपनी प्रिय वस्तु को शुद्धकर एक एक करके इस यज्ञ में स्वाहा करता है जिसके करने परही उस को प्रसन्नता होती है अन्यथा वह बड़ा दुःखी रहता है। ऐसे भाविक में प्रबल विरह ज्वाला उस समय भी जागरित होजाती है जब कि उस को इस प्रेम यज्ञ में अपने को स्वाहा करने में बाधा होती है। प्रेम यज्ञ में अपने को स्वाहा करना प्रेमी के साथ एकीकरण है और ऐसा न करने से पृथक् रह विच्छेद दुःख का भोगना है। श्रीभगवान् के माधुर्य आदि भावों का ज्ञाता भाविक कदापि उनसे पृथक् रहना सहन नहीं कर सकता है, उस को उनकी नित्य लीला में बिना शामिल हुए जीवन भी बहुत भार और दुखद सा मालूम होता, और इसकी प्राप्ति के लिये प्रेमाग्नि में स्वाहा करना उस के लिये स्वाभाविक भाव होजाता है। भाविक प्रथम शरीर को अर्पित करता है, किन्तु इससे जब उस को तृप्ति नहीं होती है, तब वचन, तब मन, तब बुद्धि, तब अहंकार को, किन्तु इतने पर वह अपने समर्पण को यथेष्ट नहीं समझता। फिर वह श्रीउपास्य के दीर्घ विच्छेद को सह्य न कर आत्मनिवेदन कर के शान्त होता है। बिना

आत्मनिवेदन के न प्रेम की पूर्ति हो सकती है और न प्रियतम का मिलन हो सकता है । कहा है कि "प्रेमगली अति सांकरी वहां न दोय समाहि" ।

कथा है कि एक प्रेमी अनेक दिनों के बाद अपने प्रियतम के दरवाजे पर आकर भीतर प्रवेश के लिये पुकारा । उत्तर मिला-कौन है ? उसने कहा—" मैं तुम्हारा प्रेमी हूं, " किन्तु दरवाजा नहीं खुला । वह वापस जाकर फिर अनेक दिनों के बाद आकर भीतर प्रवेश चाहा और "मैं तेरा रूप ही हूं" कह के परिचय दिया जिस पर उत्तर मिला कि यहां " मैं और तूं" के लिये स्थान नही है। वह फिर वापस गया और अनेक दिनों के बाद फिर अंदर प्रवेश के लिये पुकार करने पर और परिचय पूछे जाने पर कहा कि "तू है" । ऐसा करने से दरवाजा खुल गया । ऐसाही एकीभाव आत्मनिवेदन है।

आत्मनिवेदन और पराशक्ति ।

इस आत्मनिवेदन भाव को मधुरभाव, शृङ्गारभाव, शरणागत-भाव, कान्ताभाव आदि भी कहते हैं, किन्तु यह परम रहस्यमय शुद्ध आध्यात्मिक भाव है। इसकी प्राप्ति के लिये आनन्दमयी जगन्माता पराशक्ति के विशेष आश्रय और कृपा की आवश्यकता होती है जो उनके प्रेमामृत पुंज रूप चरण कमलों में अहंकार-रूपी मस्तक के अर्पण करने से सम्भव है । कोई २ कह सकते हैं कि शक्ति और शक्तिमान् के अभिन्न होने के कारण श्रीउपास्य और उनकी शक्ति में उपासना के लिये भिन्नता करने के लिये क्या आवश्यकता है ? उत्तर यह है कि यथार्थ में कोई भिन्नता नहीं है। यह आनन्दमयी चिच्छक्ति श्रीउपास्य की ही शक्ति है, कदापि उनसे भिन्न नहीं, किन्तु चूंकि उपासक को बिना उक्त शक्ति की सहायता के श्री उपास्य की प्राप्ति हो नहीं सकती,

अतएव उसको प्रथम उस दयामयी प्रेम रूपा शक्ति को अपने में जागरित करने की आवश्यकता है। परमात्मा और उनकी शक्ति के आपस में अभिन्न रहने पर भी शास्त्रों ने साधन की आवश्यकता की पूर्ति के लिये इनका पृथक् २ करके वर्णन किया है जैसा कि प्रथम खंड के ज्ञानयोग के पृष्ठ १५० से १५४ तक कहा जा चुका है।

केनोपनिषत् के तृतीय खण्ड में कथा है कि देवासुर संग्राम में विजय होने से देवताओं को अपने बल का अभिमान हो गया जिसको दूर करने के लिये उन लोगों के समक्ष एक यक्ष प्रकट हुआ। उक्त यक्षद्वारा एक तृण के दिये जाने पर अग्नि देवअपने सम्पूर्ण बल का प्रयोग करने पर भी उसको जलाने में असमर्थ हुए, वायु देवता भी अपने सम्पूर्ण बल से उस तृण को नहीं हिला सके, इन्द्र के आने पर यक्ष अलक्षित हो गया और उसके बदले आकाश में स्वर्णमयी स्त्री उमा प्रगट हुई। तब उन देवताओं ने समझा कि उनके जो बल, वीर्य्य हैं वे सब पराशक्ति के कारण हैं और बिना उस पराशक्ति की सहायता के वे स्वयं कुछ नहीं कर सकते हैं, और असुरों की पराजय (शरीर में जीव रूपी देवता द्वारा असुर रूपी इन्द्रिय अंतःकरण और उनके विकारों का निग्रह और परिवर्तन) केवल इस पराशक्ति की कृपा और शक्ति से ही हुई।

और भी प्रमाण है :—

"द्वेवाव खल्वेते ब्रह्मज्योतिषो रूपकं।" मैत्रायणी उपनिषत् ।६।३६ "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रियाच।" श्वेताश्वतर ३।८ "प्रज्ञा इत्येनद् उपासीत्। आनन्द इत्येनद् उपासीत्" बृहदारण्यक ३०।

निश्चय कर के ये सब, ब्रह्म और ज्योति (पराशक्ति) इन दोनों के ही रूप हैं। उनकी पराशक्ति अनेक प्रकार की है, ज्ञान शक्ति, बल (इच्छा) शक्ति और क्रिया शक्ति, ये स्वाभाविक हैं। प्रज्ञा रूप मान कर उपासना करनी चाहिये। आनन्द रूप मान कर उपासना करनी चाहिये। पराशक्ति का ही दूसरा नाम प्रज्ञा और आनन्द भी है। इसी पराशक्ति का और भी नाम विकाश भाव में क्षेत्रज्ञ, प्रत्यगात्मा, अन्नाद प्रयति, मातरिश्वा, आदि हैं। श्रीभगवान् की चित्-सत्ता चिच्छक्ति, आनन्द भाव आनन्दमयी शक्ति और सद्-भाव सत्ताशक्ति हो जाते हैं। इन तीनों के समूह को पराशक्ति कहते हैं। चूंकि श्रीभगवान् महेश्वर इस पराशक्ति से युक्त होने ही पर उपासना और ज्ञान के गम्य होते हैं, अतएव इस दयामयी शक्ति के परम प्रकाश और परमानन्द से विशुद्ध हुए विना जीवात्मा श्रीभगवान् के चरण सरोज में अपने को अर्पित करने योग्य हो नही सकता। इस आत्म निवेदन के लिये पराशक्ति के आनन्द अर्थात् ह्लादिनी भाव का आश्रय लेकर उस के आश्रय में आना और उस को अपने में प्रकट करना साधक के लिये आवश्यक है। लिखा है :—ह्लादिनी सन्धिनी संवित् त्वय्येके सर्वसंस्थितौ। विष्णु पुराण। ह्लादिनी (प्रेम रूपा), सन्धिनी (एकीकरण रूपा) और संवित् (चिच्छक्ति) ये तीनों शक्ति विश्वाधार अद्वितीय श्रीभगवान् में अवस्थित हैं। आत्मसमर्पण रूपी परम प्रेमोपहार का श्रीउपास्य के श्रीचरण में अर्पण इस आनन्दमयी परम प्रेम स्वरूपा पराशक्ति द्वारा ही होता है, अन्यथा नहीं। यह परमविद्या पराशक्ति ही अविद्या के महा-मोहान्धकार से साधक को पार करती है; जिस के होने पर ही वह श्रीउपास्य के दिव्यलोक को दिव्यनेत्र से देखता है।

पराशक्ति माता की प्रसन्नता के लिये बलिप्रदान आवश्यक है, किन्तु हिंसात्मक बाह्यबलि कदापि नहीं, क्योंकि उनका निवास सब प्राणियों में है और वे सब उनकी प्रिय सन्तति हैं जिनकी रक्षा और पालन वे अपने ऊपर कष्ट लेकर भी कर रही हैं।

इस में इन्द्रिय रूपी पशु और अन्तःकरण रूपी भोग को शुद्ध कर बलि और नैवेद्य की भांति माता के श्री चरणों में अर्पण करना चाहिये ताकि ऐसा होने और प्रसाद बन जाने पर ये स्वार्थ-साधन में नियुक्त न होकर उन के विश्वहित कार्य्य में नियुक्त हों, जो उनकी सेवा है। तत्पश्चात् अहंकार रूपी मस्तक को प्रेम रूप असि द्वारा पृथक् करके उन के चरण कमलों में समर्पण करना होगा, जिस को वे माला बनाकर अपने गले में रक्खेंगी जिस के बाद साधक का कार्य्य कलाप व्यवहार भजन आदि स्वयं साक्षात् रूप में उनकी इच्छा (शक्ति) के अनुसार होने लगेंगे और इस प्रकार नित्य सम्बन्ध स्थापित हो जायगा।

आत्मनिवेदन का स्वरूप।

भाविक साधक के निर्मल हृदय क्षेत्र में जो परमपवित्र सृष्टि-मंगलकारी यज्ञ का अनुष्ठान हो रहा है जिसके परमाचार्य्य श्री सद्‌गुरु हैं, स्रुवा सेवा-धर्म है जिसके द्वारा शरीर, मन, बुद्धि, अहंकार आदि यज्ञ की सामग्रियां वैराग्यरूपी जल से परिमार्जित, दयारूपी दुग्ध से सम्मिलित और ज्ञानरूपी अग्नि से उत्तापित हो हविष्य बन कर परम यज्ञपुरुष श्रीउपास्य के निमित्त अन्तरस्थ यज्ञ कुण्ड में 'त्वदीयंवस्तुगोविन्द तुभ्यमेव समर्पितम्' के भावसे समर्पण रूपी आहुति दी जा रही है, उसमें अब पूर्णाहुति अथवा अंतिम सर्वस्व समर्पण की बारी आई है और यही आत्मनिवेदन है। लिखा है—

> तपस्विनो दानपरा यशस्विनो।
> मनस्विनो मंत्रविदः सुमंगलाः।
> क्षेमं न विन्दन्ति विना यदर्पणं।
> तस्मै सुभद्रश्रवसे नमोनमः॥१७॥

श्रीभागवत पु० स्क० ५।

तपस्वी, दानी, यशस्वी, योगी, मन्त्रवेत्ता और सदाचारी ये सब जिसको अपनी तपस्यादि बिना के समर्पण किये कल्याण का लाभ

नहीं कर सकते हैं उस कल्याणरूपी यशस्वी श्रीभगवान् को बार २ नमस्कार है।

इस यज्ञ में विलक्षणता यह है कि इस प्रेमाग्नि में विरह ज्वाला रहने पर भी इस का आंतरिक पवित्र स्पर्श अन्तरात्मा के लिये मधुरातिमधुर और शीतल (आनन्दप्रद) है, यद्यपि इसका बाह्य-स्पर्श भूतात्मा के अवशेष कामादि दोषों के विकार को नष्ट कर उन को पवित्र रूप में परिवर्तित कर देता है। लिखा है:—

पीडाभिर्नवकालकूट-कटुतागर्व्वस्य निर्वासनो,
निःस्पन्देन मुदां सुधा-मधुरिमाहङ्कारसंकोचनः।
प्रेमासुन्दरि! नन्दनन्दनपरो जागर्ति यस्यान्तरे,
ज्ञायन्ते स्फुट मस्य वक्रमधुरास्तेनैव विक्रान्तयः॥

(विदग्धमाधव)

व्रज की सखी दूसरी सखी से कहती है—हे सुन्दरि! श्रीनन्दनन्दन सम्बन्धी प्रेम जिस के अंतर में जागरित होता है वही इस प्रेम की वक्र और मधुर गति को जानता है। इस प्रेम की ऐसी पीड़ा है जो नवीन कालकूट विष के कटुत्व को भी परास्त करती है और जब यह प्रेम आनन्द की धारा को छोड़ता है तो अमृत की मधुरता के अहंकार को मात करदेता है।

प्रेम रूपी इस मरकत मणि का स्वच्छ स्पर्श रज, तम रूपी लोहे को स्वच्छ स्वर्ण (सत्त्व) में परिणत करना है। निष्काम त्याग इसका हृदय है, करुणा और परोपकार इस का प्राण है और स्वार्थ विस्मरण इस की आत्मा है। जब प्रेमज्वाला का प्रकाश हृदय को विशेष निर्मल और स्वच्छ करता है, स्वार्थ की ग्रन्थि को नष्ट करता है और श्रीउपास्य के मिलन के लिये परमानुराग को जाज्वल्यमान करता है, तभी साधक इस समर्पण का अधिकारी होता है। जैसा कि भक्ति सब साधनाओं का अंतिम परिणाम होने से सब साधनायें उस के अन्तर्गत हैं, उसी प्रकार आत्म-

निवेदन भक्ति की साधनाओं का अंतिम लक्ष्य होने के कारण भक्ति की सब साधनायें इस के अन्तर्गत है। अतएव पूर्व कथित साधनाओं का उच्च रूप में पुनः वर्णन इस प्रकरण में आवश्यक है, क्योंकि उन के पूर्ण होने पर ही इस भाव का आना सम्भव है।

इस यज्ञ के आत्मनिवेदन रूपी पूर्णाहुति करने में भी श्रीमद्गुरु की कृपा और सहायता की विशेष आवश्यकता होती है। लिखा है :—

मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद्वा।
महत्संगस्तु दुर्लभो ऽगम्यो ऽमोघश्च।
लभ्यते तत्कृपयैव। तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्।
तदेव साध्यतां, तदेव साध्यतां। नारदसूत्र।

परन्तु मुख्य साधना तो यह है कि महात्मा पुरुषों की कृपा और श्रीभगवान् की कृपा के लेश मात्र से भी यह भक्ति प्राप्त होजाती है। परन्तु महात्मा पुरुषों का संग होना दुर्लभ है, क्योंकि वह सत्समागम प्रथम तो महान् पुण्योदय विना होता नहीं और होजाय तो फिर निष्फल नहीं होता, अर्थात् सत्समागम का शुभ फल अवश्य होता है। परन्तु वह सत्समागम श्रीभगवान् की कृपा से ही होता है, क्योंकि श्रीभगवान् में और उन के भक्त में कुछ भेद नहीं है। इस कारण जिससे श्रीसद्गुरु की प्राप्ति हो वही यत्न करो।

श्रीविष्णुभगवान् ने श्रीनारद को श्रीध्रुव के निकट उन का सद्गुरु हो कर उपदेश करने के निमित्त भेजा था। श्रीप्रह्लादजी को भी श्रीनारदजी ने गर्भकाल में ही उपदेश किया था। स्वयं श्रीप्रह्लाद का वचन है:—

ऋषिःकारुणिकस्तस्याः प्रादादुभयमीश्वरः।
धर्मस्य तत्त्वं ज्ञानंच मामप्युद्दिश्य निर्मलम् १५

तत्त कालस्य दीर्घत्वात्स्त्रीत्वान्मातुस्तिरोदधे ।
ऋषिणानुगृहीतं मां नाधुनाप्यजहात्स्मृतिः १६

श्रीमद्भागवत, स्कं० ७ अ० ७

तब उन दयालु समर्थ ऋषि ने, उसका शोक दूर होने के लिये और मेरे उद्देश्य से धर्म का भक्ति रूप तत्त्व और आत्मानात्म-विवेक रूप निर्मल ज्ञान का उपदेश किया १५। मेरी माता के शरीर त्याग करने पर भी और अनेक काल बीतने पर भी ऋषि की कृपा के कारण उस भक्ति ज्ञान की मुझे अविच्छिन्न स्मृति है।

श्रीभगवान् ने गोपियों को श्रीदुर्वासा ऋषि के पास उपदेश पाने के लिये भेजा था और श्रीभगवान् की आज्ञा और उन में विश्वास के बलसे वे यमुना को पारकर श्रीसद्गुरु दुर्वासा के निकट पहुँचीं और उसी प्रकार वे श्रीदुर्वासाजी के वचन के विश्वास और बल से फिर यमुना पारकर श्रीभगवान् के निकट आपहुँचीं। यह आख्यान रहस्यमय है।

श्रीमद्भागवत पुराण का वचन है—

रहूगणैतत्तपसा न याति, न चेज्यया निर्वपणाद्गृहाद्वा ।
नच्छन्दसा नैवजलाग्निसूर्य्यैर्विना महत्पादरजोभिषेकम् १२

स्क० ५ अ० १२

श्रीभरतने रहूगण से यों कहा—हे रहूगण! श्रीभगवान् का ज्ञान विना पूज्यपाद महात्माओं की चरणसेवा के भिन्न न केवल तपस्या, न वैदिक क्रिया से, न अन्नदान से, न परोपकार से, न वेदाभ्यास से, न जलसेवा से, न सूर्य्योपासना से और न अग्नि की आराधना से प्राप्त होता है।

आत्मनिवेदन की आध्यात्मिक अवस्था की पूर्ण रूप से प्राप्ति जो भक्ति की पराकाष्ठा है; अत्यन्त कठिन है; और विना इस की प्राप्ति के श्रीउपास्य से साक्षात् मिलन हो नहीं सकता है। किसी अवस्था

अथवा भाव का पूर्णज्ञान विना उसी प्रकार की अवस्था अथवा भाव अपने में उत्पन्न किये अर्थात् अपने को विना उसके साथ एकीभाव किये हो नहीं सकता है। जब ज्ञान की यह दशा है तो आत्मा परमात्मा का प्रेम मिलन और ज्ञान विना एक को दूसरे में समर्पण किये अर्थात् एकीभाव किये कैसे हो सकता है। महाभारत के शान्ति पर्व अध्याय ३३६ में कथा है कि श्रीसनत्कुमारादि महर्षिगण श्वेतद्वीप में श्रीभगवान् के दर्शन निमित्त गये, उन्हें दर्शन न हुए और ऐसा आदेश हुआः—

गच्छध्वं मुनयः! सर्वे यथागतमितोऽचिरात्।
न सशक्यस्त्वभक्तेन द्रष्टुं देवः कथञ्चन। ५२
कामं कालेन महता एकान्तित्वमुपागतैः।
शक्यो द्रष्टुं स भगवान् प्रभामण्डलदुर्दृशः।
महत् कार्य्यञ्च कर्तव्यं युष्माभि र्द्विजसत्तमाः ५३
इतः कृतयुगेऽतीते विपर्य्यासङ्गतेऽपि च।
वैवस्वतेऽन्तरे विप्राः प्राप्ते त्रेतायुगे पुनः।
सुराणां कार्य्यसिद्ध्यर्थं सहाया वै भविष्यथ। ५४

हे मुनिगण! जैसे यहां आये तैसे यहां से तुम सब शीघ्र लौट जाओ, क्योंकि जो भक्ति रहित हैं वे किसी अवस्था में श्रीभगवान् के दर्शन नहीं प्राप्त कर सकते ५२। अनेक काल तक श्रीभगवान् के निमित्त कर्म करने पर ऐकान्तिकी भक्ति की प्राप्ति होती है और तभी वह श्रीभगवान् के दुर्दर्श तेज के दर्शन करने योग्य होता है। हे विप्रश्रेष्ठ! तुमलोगों को बड़े कार्य्य का सम्पादन करना चाहिये ५३। इस के बाद सत्ययुग के बीतने पर और त्रेतायुग के आने पर वैवस्वत मनु के समय में तुमलोग देवताओं की कार्य्यसिद्धि में सहायता करोगे ५४।

ऊपर के वाक्यों से यह सिद्ध होता है कि केवल तपस्याही द्वारा कोई ऋषीश्वर क्यों न हो जाए किन्तु तौ भी श्रीभगवान् की निष्काम सेवा की भांति सृष्टि के हित साधन में नियुक्त हुए विना

भक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती है और न श्रीभगवान् की प्रसन्नता का लाभ हो सकता है। असुर का काम सृष्टि की उर्ध्वगति में बाधा देना है और देवताओं का उर्ध्वगति में सहायता करना है, अतएव महर्षि श्रीसनकादिकों को देवताओं को सहायता करने की आज्ञा मिली जो श्रीभगवान् का अपना कार्य्य है। सदाचार, धर्म, ज्ञान, भक्ति आदि के प्रचार से सृष्टि को उर्ध्वगति में सहायता मिलती है, अतएव इनका संसार में प्रचार करना भक्तों के लिये आवश्यक है।

आत्मसमर्पण करने में उच्चकोटि के साधकों को भी कठिनता होती है, क्योंकि भक्ति मार्ग में यह अंतिम त्याग है। जिस जीवात्मा को शान्तिपद में आरूढ़ करने के लिये अनेकानेक जन्मों की बड़ी लम्बी जीवन यात्रा करनी पड़ी, अनेक कठिनाइयां झेलनी पड़ीं, अनेक विपत्तियों का सामना करना पड़ा, कठिन संसार-संग्राम में प्रवृत्त होकर अनेक आघात सहने पड़े और इतने कष्ट के बाद जब जय प्राप्ति का अवसर आया तो केवल उस विजय के लाभ को ही न त्यागना किन्तु उसके साथ आत्मा को भी समर्पण कर देना! यथार्थ में यह कठिन त्याग है। इस अवस्था के पहिले तो साधक ने केवल मोक्ष की इच्छा को त्यागा था, मोक्ष को नहीं। किन्तु इस भाव की उच्च अवस्था में साधक के समक्ष मोक्षपद दासी की भांति खड़ा रहता है और प्रार्थना करता है कि मुझे ग्रहण कीजिये और मोक्ष-जनित परमानन्द का अनुभव कीजिये। अब भी उस साधक को अखतियार है कि वह मोक्ष को गृहण करे अथवा उसे त्याग कर अपने श्री उपास्य के श्रीचरण की आंतरिक साक्षात् सेवा में युक्त होने के लिये आत्मनिवेदन करे। भाविक कदापि मोक्ष पर लुब्ध नहीं होता, उसके प्रेमार्द्र हृदय में मोक्ष के लिये (जो भी एक प्रकार का परमोच्च स्वार्थ है) स्थान कहां? उसका चित्त भ्रमर श्रीचरण के सरोज से कैसे पृथक् हो सकता है और बिना आत्मबलि के

उसे अब शान्ति कहां? अबतक जो उसको प्रेमानन्द का अनुभव श्रीउपास्य के सम्बन्ध से होता था उसका भी त्याग इस आत्मबलि द्वारा सम्भव है, क्योंकि इस में अनुभव करने वाली अन्तरात्मा का स्वयं अर्पण है। किन्तु यह आत्मनिवेदन आत्मा के अस्तित्व का लोप करना कदापि नहीं है। यह दीप निर्वाण के ऐसा निर्वाण अथवा अस्तित्व का लोप नहीं है। इस आत्मार्पण द्वारा साधक संकुचित जीवन को अर्पण कर विस्तृत जीवन का लाभ करता है। जब कि सृष्टि का उद्देश्य है कि इसके द्वारा एक श्रीमहेश्वर अनेक हो जायं तो इस अनेक के अस्तित्व का लोप करना कदापि उनको इष्ट हो नहीं सकता है। केवल सांख्य के मार्ग से चलने वाले जो श्रीमहेश्वर को अपना लक्ष्य न मान सीधे परब्रह्म में युक्त होना चाहते हैं वह कुछ काल के लिये महासुषुप्ति की अवस्था में पड़ जाते हैं जब कि उनका अस्तित्व भी अलक्षित हो जाता है। जिनका लक्ष्य श्रीमहेश्वर हैं उनका आत्मनिवेदन श्रीपराशक्ति के द्वारा होने के कारण अस्तित्व का लोप कदापि नहीं होता। जगन्माता अपनी शक्ति द्वारा एकता होने पर भी अस्तित्व का लोप नहीं होने देती। इस प्रेममार्ग में किसी वस्तु का भी नाश अथवा लोप नहीं है। जबतक कार्य्य कारण रूप सृष्टि जारी रहेगी और श्री भगवान् सशक्ति इसको चलाते रहेंगे, तबतक भक्त भी उनकी सेवा में प्रवृत्त रहेगा, किन्तु जब वह अपनी आत्मा तक को शुद्ध कर अर्पण कर देगा तब से वह निवेदितात्मा स्वार्थ के लिये नियोजित न हो कर केवल श्रीभगवान् के कार्य्य में व्यवहृत होगी।

सच्चे और शुद्ध प्रेम का स्वभाव ही नहीं किन्तु स्वरूप है कि जो कुछ उत्तम, पवित्र और सुन्दर वस्तु प्रेमी के पास हो अथवा लब्ध हो उस को आप स्वयं उपभोग न कर अपने प्रियतम को समर्पण करना, ऐसी सामग्री का कष्ट से भी संग्रह करना जो उसके प्राणप्रिय को अभीष्ट हो और उन को शुद्ध और उत्तम बना कर सादर भेंट करना, ऐसा कार्य्य करना जिस से प्रेमपात्र की तुष्टि हो,

यहां तक कि दिन रात शरीर, मन, वचन, बुद्धि द्वारा केवल ऐसी सेवा में प्रवृत्त रहना जो हृदयेश्वर को सुखद और इष्ट हो किन्तु इन सब के बदले में कुछ भी नहीं चाहना और उन की प्रसन्नता से ही प्रसन्न रहना।

अतएव प्रेम की पराकाष्ठा आत्मविस्मरण अर्थात् अपने पृथक् स्वार्थ को, और भी अपने को, नितान्त भूल कर सदा सर्वदा अपने प्रियपात्र की भावना और सेवा में निरन्तर प्रयुक्त रहना है और अन्तिम परिणाम इस का यह होता है कि दोनों के एक प्रेमसूत्र में बंधे रहने के कारण भेद मिट कर अन्तर् से आत्मक्षेत्र में एकता हो जाती है जिस के कारण प्रेमपात्र के आनन्द से ही यथार्थ में प्रेमी को साक्षात् रूप में आनन्द का अनुभव होता है। कहा जाता है कि प्रेमदासी लैली के शरीर में रुधिर मोक्षण के लिये नश्तर किये जाने पर उस के प्रियतम मज़नू के उसी अङ्ग से रुधिर निकला। ये दो प्रातःस्मरणीय प्रेमी रत्नों का प्रेम शुद्ध और निष्काम था, एक दूसरे के सुख में ही अपना सुख मानते थे, जिस के कारण इनका प्रेम आधिभौतिक भाव को त्याग कर आधिदैविक भाव में परिणत हो गया और तब उनका पवित्र प्रेम शरीर शरीर का प्रेम न रह कर अन्तरात्मा अन्तरात्मा का प्रेम हो गया। एकबार प्रेमादर्श मज़नू के समक्ष श्रीमती लैली के आने पर जिस का वह दिन रात ध्यान करता था, उस ने उस की कुछ भी परवाह न की और न स्वागत किया अथवा हर्ष प्रकट किया, बल्कि अपनी दृष्टि को फेर लिया। इस का कारण यह है कि उस का प्रेम श्रीमती लैली के शरीर से हट कर उस की विशुद्ध अन्तरात्मा में सन्निवेशित हो गया था और वह अन्तरात्मा उस के हृदय में विराजमान थी। प्रेम का यथार्थ केन्द्र अन्तरात्मा में स्थिति होने पर फिर किसी बाह्य आवरण की क्या आवश्यकता है? इन दोनों प्रेमपरायण लैली मजनू के विशुद्ध प्रेम का प्रभाव हिंस्र पशुओं पर भी ऐसा पड़ा कि वे उन

के संग से अपने हिंस्र स्वभाव को त्याग कर इन के सहचर बन गये और इन के साथ ही शरीर को भी त्यागा। श्री जयदेव की पतिव्रता स्त्री अपने प्रिय पति की झूठी मृत्यु के भी समाचार सुन कर तत्काल मृत हो गईं। जब कि किसी २ सांसारिक प्रेम की भी ऐसी उच्च गति है, ता फिर जीवात्मा और परमात्मा के नित्य अनादि स्वरूप सम्बन्धी प्रेम का क्या कहना है? यथार्थ में इस विश्व-बागीचे में प्रेमी-भक्त रूपी मनोहर पुष्प केवल प्रेमपूरित अश्रुवारि रूप भगवत्प्रेम के सिंचन से ही उत्पन्न होते हैं जो अपनी सेवारूपी सुगन्ध से जगत् को तृप्त कर श्रीउपास्य के उपहार बनते हैं।

जब कि भाविक श्रीउपास्य के प्रेम के रंग में ऐसा रंजित हो जाता है कि उस पर दूसरा रंग (किसी अन्य में आसक्ति) चढ़ नहीं सकता और उस की अन्तरात्मा पूर्ण रूप से उन में अनुरक्त हो जाती है तो उस को इस परम सम्बन्ध का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है और तब से उस को बोध होता है कि उस के शरीर, मन, बुद्धि, अहङ्कार आदि जो कुछ उस के सर्वस्व हैं वे सब उस के श्रीउपास्य के पवित्र प्रसाद हैं जो केवल दया दृष्टि के कारण उस को दिये गये हैं। तब वह समझता है कि उन को स्वार्थसाधन में प्रवृत्त करना उन का दुरुपयोग करना है, और ऐसा समझ उन में जो कुछ मल-विकार स्वार्थ साधन द्वारा प्रविष्ट हो गये हैं उन को निष्काम उपासना रूपी जल से हटाकर श्रीउपास्य की सेवा में नियुक्त करता है। ऐसा भाविक अपने शरीर, परिवार, सम्पत्ति आदि को श्रीउपास्य की वस्तु समझ उस की रक्षा और पालन अच्छी प्रकार करता है, इस में ढिलाई कदापि नहीं करता; किन्तु उन को स्वार्थ साधन की सामग्री न समझ श्रीउपास्य की सेवा की वस्तु समझता है। वह यह भी समझता है कि सेवा में भी कर्त्तापने का भाव रहने के कारण वह कभी अभिमान में परिवर्तित हो जा सकता है। अतएव आत्मसमर्पण आवश्यक है।

दास और सख्यभाव में यद्यपि स्वार्थसंबन्धी अहंभाव का श्रीउपास्य में समर्पण हो जाता है किन्तु तथापि "दासोऽहं", "सखाऽहं" रूपी शुद्ध निःस्वार्थ अहंभाव सूक्ष्मरूप में वर्तमान रहता है। किन्तु भाविक की वर्तमान अवस्था में उस का अनुराग श्रीउपास्य के प्रति इतना प्रबल और वेगवान् हो जाता है कि श्रीउपास्य से कुछ भी अंतर उसे सह्य नहीं होता; और नदी जैसे समुद्र की ओर धावमान होती है, उसी प्रकार श्रीउपास्य में अपने को अर्पण के लिये व्यग्र हो जाना। यह अर्पण पतग भाव के समान है। जैसा कि पतंग दीप की ज्योति से आकर्षित हो कर अपने को उसमें अर्पण कर देता है और जलते रहने पर भी मुँह नहीं मोड़ता अर्थात् पृथक् नही होना चाहता, वही अवस्था इस भाव की है।

अतएव वह आत्मसमर्पण करने पर प्रस्तुत होता है किन्तु आत्मसमर्पण की पूर्ति होने के पहिले उसे स्वार्थ (कौरव) के दल को नष्ट करना आवश्यक है जो थोड़ा कठिन कार्य्य नहीं है। इस अवस्था का वर्णन प्रथम खंड के पृष्ठ १०३ और १०४ में है। इस कौरव (स्वार्थ) दल का पूर्ण पराभव करने पर ही यह आत्म-निवेदन सम्भव है, अन्यथा नहीं। इस अर्पण के विषय में श्रीमद्भगवद्गीता का वचन है :—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गंतव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥

२४ अ० ४

तस्मात्सर्वेषुकालेषु मामनुस्मर युद्ध्यच।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्।

७ अ० ८

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासियत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय! तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

२७ अ० ९

येतु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मांध्यायन्त उपासते ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि न चिरात्पार्थ ! मय्यावेशितचेतसाम् ॥

६ व ७ अ० १२

संतुष्टः सततंयोगी यतात्मा दृढ़निश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्योमद्भक्तः स मे प्रियः ॥

१४ अ० १२

जो कुछ करना श्रीभगवान् में अर्पण करना, अर्पित सामग्री को भी श्रीभगवान् का ही अंश जानना, जिस में अर्पित किया जाय (हृदय अथवा अग्नि आदि में) उस को भी श्रीभगवान् का रूप ही जानना, आत्मसमर्पण भाव के कारण कर्ता को भी श्रीभगवान् ही जानना, श्रीभगवदर्पण रूपी निष्ठा (समाधि) द्वारा श्रीभगवान् लक्ष्य और गन्तव्य स्थान होते हैं २४ । इस लिए सब समय मुझ को स्मरण में रक्खो और युद्ध करो अर्थात् अपने कर्तव्य कर्म को करो; मन और बुद्धि को मुझ में अर्पण करने से निःसंदेह मुझ को प्राप्त करोगे ७ । जो कुछ कर्म करो, जो कुछ भोजन करो, जो कुछ यज्ञ करो, जो दान करो, जो कुछ तप करो, उन सब को, हे अर्जुन ! मुझ को अर्पण करो २७। जो मेरे में अनुरक्त हो कर और सब कर्मों को मुझे अर्पण कर अनन्य चित्त से मेरा ध्यान और उपासना करते हैं उन मेरे में संनिवेशित चित्त वाले भक्तों के लिये मै मर्त्यलोकरूपी संसार सागर से शीघ्र उद्धार करने वाला होता हूं ६,७ ।

समाहित चित्त वाले योगी, संतुष्ट, दान्त, शुद्ध निश्चय से नहीं टगने वाले और मेरे में मन बुद्धि को अर्पण किए हुए जो मेरे भक्त हैं वे मुझे प्रिय है १४ ।

इस समर्पण का प्रारम्भ तो साधना के साथ २ ही होता है । श्रवण, कीर्तन द्वारा शरीर, स्मरण, पादसेवन आदि से मन, अर्चन,

वंदन द्वारा बुद्धि और दास, सख्यभाव द्वारा अहंकार श्रीउपास्य में समर्पित होते हैं किन्तु विना आत्मनिवेदन के यह यज्ञ पूर्ण नहीं होता अर्थात् यथार्थ समर्पण आत्मनिवेदन करने से ही होता है। इस के पूर्व की अवस्था में पतन होने की सम्भावना रहती है। किन्तु आत्मनिवेदन के बाद इस की कोई सम्भावना नही रहती। समर्पण कार्य्य में अहंकार का समर्पण बड़ा कठिन है, क्योंकि इस अहंकार रूपी रक्तबीज के प्रत्येक रक्तबिन्दु से अनेक रक्तबीज (एक वासना से अनेक वासनायें) उत्पन्न होते हैं; किन्तु जब पराशक्ति इस की अहंता, ममता रूपी रक्त को स्वयं ग्रहण करलेती है अर्थात् इस को अपनी ह्लादिनी शक्ति से युक्त कर इस का पृथक् भाव हटा कर विश्वव्यापी स्वरूप में परिवर्तन कर देती है तभी यह शान्त और अर्पित होता है। ऐसे भाविक को विश्व श्रीउपास्यमय देख पड़ता है कि जिसके कारण वह सर्वों के साथ प्रेम करता, किसी से द्वेष नहीं रखता, दूसरे के दुःख से दुःखित होता, सुख से सुखी होता, और लोगों को श्रीउपास्य के चरण में युक्त करने के लिये विशेष चेष्टा करता।

यह आत्मसमर्पण सेवा-धर्म का अन्त नहीं है अथवा सेवा करने से छुटकारा पाने के लिये नहीं है किन्तु यथार्थ में यहां से मुख्य सेवा का प्रारम्भ होता है। यह श्रीउपास्य के परम अभीष्ट की पूर्ति करना है। जीवात्मा की संसार यात्रा का यही अन्तिम लक्ष्य है जिस के विना पूर्ण किये यात्रा की समाप्ति हो नहीं सकती है, और विना इस की पूर्ति किये निर्वाण—मोक्ष लेने वालों का भी कल्पान्तर में उत्थान होता है और जब तक वे आत्मनिवेदन नहीं करते तब तक उन को इस यात्रा का अन्त नहीं होता। आत्म-समर्पण करने पर निवेदित आत्मा को श्रीउपास्य जगत् के कल्याण के कार्य्य में स्वयं व्यवहृत करते हैं।

आत्मनिवेदन प्रथम और द्वितीय अवस्था में भाव-साधना ही है और केवल अंतिम अवस्था में परिणाम रूप में परिणत हो जाता

है। इस की तीन अवस्थायें हैं—(१) प्राथमिक आधिभौतिक (२) मध्यमा आधिदैविक, और (३) अंतिम आध्यात्मिक।

शरणागतभाव

प्रथम अवस्था को शरणागत भाव और कान्ता भाव भी कहते हैं। भक्तिरसायन में लिखा है:—

तस्यैवाहं ममैवासौ स एवाहमिति त्रिधा।
भगवच्छरणत्वं स्यात्साधनाभासपाकतः॥

उन (श्रीउपास्य) का मैं (साधक) हूं, मेरे (साधक के) वे (श्रीउपास्य) हैं और वे (श्रीउपास्य) ही मैं हूं—ऐसे तीन प्रकार के भाव से साधक भक्त साधन की दीप्ति को परिपक्वता होने से (साधन में कृतकार्य्य होने से) उपास्य के शरण में होना है। प्रथम भाव "उन का मैं हूं" में दोनों में उपास्य उपासक का सम्बन्ध रहता है जैसा कि षट्पदी का वचन है:—

"सत्यपिभेदापगमे नाथ तवाहं न मामिकी नस्त्वं-
सामुद्रोहि तरंगः क्वचन समुद्रोन तारंगः"

हे नाथ! तुम और मुझ में अधिष्ठान चेतन की दृष्टि से अभेद रहने पर भी मैं तुम्हारा हूं, तुम मेरे नहीं हो, क्योंकि समुद्र (श्रीउपास्य) में जो तरंग (अहंभाव युक्त जीवात्मा) उठते (स्फुरण होते) हैं वे जल (चैतन्य) रूप होने पर भी समुद्र (श्री उपास्य) के अंश हैं किन्तु तरंग (व्यष्टि चेतन) का समुद्र (श्रीउपास्य-समष्टि चेतन) नहीं है। दूसरा भाव "मेरे वे हैं" इस प्रकार है जैसा कि किसी अंधे भक्त को उक्ति है:—

"हस्तमुत्क्षिप्य यातोसि बलात्कृष्ण! किमद्भुतम्।
हृदयाद्यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते॥

हे श्रीभगवान्! बलपूर्वक हाथ छोड़ा के जा रहे हो इस में क्या आश्चर्य्य है? किन्तु यदि तुम मेरे हृदय से चले जाओ तब तुम्हारे

पौरुष को मैं मानूंगा। श्री सूरदास जी ने भी इसी भाव का एक दोहा कहा है:—

दो०-कर छुटकाए जात हौ, अबल जानि के मोहि।
हिरदय से जब जाहुगे, मर्द बखानौं तोहि ॥७॥

तीसरा भाव "वे मैं हूं" में भक्त श्रीउपास्य के साथ एकत्व देखता है। विष्णुपुराण का वचन है:—

सकलमिदमहंच वासुदेवः परमपुमान् परमेश्वरः स एव एकः।
ये सब मेरे सहित वासुदेव ही हैं और वेही एक पुरुषोत्तम रूप हैं।

ये ऊपर कथित तीन भावों में "तस्यैवाऽहं" (उन का मैं हूं) दास भाव है, ममैवासौ (मेरे वे हैं) सख्यभाव है और सएवाऽहं (वेही मैं हूं) आत्मनिवेदन भाव की प्रथमावस्था है, क्योंकि यहां भी अहम् किसी रूप में विद्यमान है जो इस को तीसरी अवस्था में एकदम नहीं रहता। दास और सख्य भाव मर्कटी भाव है। जैसा कि मर्कट (बन्दर) अपने बच्चे के दृढ़ता से उस का गला पकड़े रहने पर अनायास उसे ले चलता है किन्तु यदि बच्चा पकड़ना छोड़दे तो वह गिरजायगा, उसी प्रकार इस भाव के भाविक श्रीउपास्य को अपने प्रेम रूपी हाथ से पकड़े रहता है और वे इस को सादर वहन करते हैं। आत्मनिवेदन मार्जार भाव है जिस में मार्जार—बिल्ली अपने बच्चे को स्वयं मुख में लेकर ले चलती है, बच्चे को कुछ भी करना नहीं होता।

श्रीभगवान् ने गीता के सब उपदेशों को दे कर अंतिम उपदेश शरणागत होने का दिया। शरणागत के उपदेश भक्ति मार्ग के महावाक्य हैं जो ये हैं:—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददामीति मतिर्मम॥

अध्यात्मरामायण।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहंत्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि माशुच ।

६६ गीता० अ० १८

श्रीमर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं कि जो एकबार भी मेरी शरण में आने के लिये याचना करता है उस को मैं सब प्राणियों से अभयदान देता हूं - ऐसा मेरा प्रण है। श्रीभगवान् कृष्णचन्द्र ने श्री अर्जुन से कहा कि तुम सब धर्मों को छोड़ कर मेरी शरण में आवो। मैं तुम को सब पापों से मुक्त करूँगा। तुम शोकमत करो। और भी :—

सर्वधर्मान्परित्यज्य कृष्णैकं शरणं व्रज ।

(ब्रह्मसंहिता)

मर्त्यौयदा त्यक्तसमस्तकर्मा निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे। तदाऽमृतत्वं प्रतिपद्यमानो, मयात्मभूयाय च कल्पतेवै ।

(श्रीभागव० ३४ स्क० ११ अ० २९)

सोऽयं यः शरणंप्राप्तो ममतस्य यदस्ति च ।
सर्वेताभ्यां तदर्थंहि तद्भोग्यं ह्यहंमम ।

(६४ पद्मपुराण, पाताल खण्ड अ० ५०)

सब धर्मों को त्याग कर एक श्रीभगवान् की शरण में जा। श्रीभगवान् ने श्रीउद्धव को कहा कि जब मनुष्य सब कर्मों को छोड़ कर आत्मा की सेवा करने का अभिलाषी हो कर मुझ को आत्मसमर्पण करता है, तब वह शीघ्र अमृत पदवी पाकर मेरे सदृश भाव के पाने के योग्य होता है। मेरे शरणापन्न के सब कुछ श्रीउपास्य के हैं मेरा कुछ नहीं,यहां तक कि मेरी आत्मा भी मेरी नही है। उन की वस्तु को वे ही भोग करें, ऐसी धारणा ही आत्मसमर्पण है।

श्री विश्वनाथ ने श्रीगीता की टीका में शरणागत का लक्षण यों कहा है :—

नतुयोहिं यच्छरणो भवति सहि मूल्यक्रीतः पशुरिव तदधीनः सः तं यत्कारयति तदेव करोति यत्र स्थापयति तत्रैव तिष्ठति यद्भोजयति तदेव भुङ्क्ते इति शरणापत्ति लक्षणस्य धर्मस्य तत्त्वं ।

जो श्रीउपास्य की शरण में जाता है वह खरीदे हुए पशु की भांति अपने मालिक (श्रीउपास्य) के अधीन हो जाता है। वे जो करवाते हैं वही करता है, जहां रखते हैं वहीं रहता है, जो भोजन देते हैं, वही खाता है—यह शरणागत के धर्म के लक्षण हैं। वायुपुराणका वचन है:—

आनुकूलस्यसंकल्पं प्रतिकूलस्य वर्जनं ।
रक्षिष्यतीति विश्वासो भर्तृत्वे वरणं तथा।
निक्षेपणमकार्पण्यं षड्विधा शरणागतिः।

श्रीउपास्य की इच्छा के अनुसार संकल्प और व्यवहार करना, उन के विरुद्ध कर्म का वर्जन करना, वे रक्षा करेंगे ऐसा विश्वास करना, पति के ऐसा उन को मानलेना, श्रीउपास्य के निमित्त कार्य्य करने में सकोच न करना—ऐसी छः प्रकार की शरणागति है।

शरणागत होने का मुख्य स्थान हृदय है। हृदय मन्दिर को विकारों से शुद्ध कर और प्रेम-प्रेरित निष्काम सेवा से परिमार्जित कर और अहंता ममता और स्वार्थ रूपी अंधकार को ज्ञानरूपी प्रकाश से नाश करने पर ही भाविक श्रीसद्गुरु की कृपा से उसके पवित्र और गुह्य प्राकार में शरणार्थ प्रवेश करने में समर्थ होता है जहां श्री उपास्य का वास है। गीता के १८ वें अध्याय, श्लोक ६१ में भी श्रीभगवान् ने हृदय को ही अपने निवास का स्थान वताया जाता कि:—ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन् सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया। हे अर्जुन! श्रीभगवान् सब

प्राणियों के हृदय में रहते हैं और यन्त्र पर चढ़े हुए की भांति सब को अपनी माया से चलाते हैं। श्रीभगवान् अपने वास के स्थान को हृदय बना कर कहते हैं :—

तमेवशरणंगच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शांतिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥६२॥

गी० अ० १८।

इस हृदयस्थ श्रीभगवान् की शरण में सब प्रकार से जावो। उन की कृपा से परम शान्ति और शाश्वत पद का लाभ होगा। ऊपर के वाक्य से स्पष्ट है कि हृदय में ही हृदयस्थ श्रीउपास्य की ही शरणागत अर्थात् आत्मसमर्पण करना होगा। श्रीमद्भागवत पुराण का वचन है :—

अधोक्षजालंभमिहाशुभात्मनः शरीरिणः संसृति-चक्रशातनम्। तद्ब्रह्मनिर्वाणसुखं विदुर्बुधास्ततो भजध्वं हृदये हृदीश्वरम् ॥३७॥

स्क० ७ अ० ७।

श्रीप्रह्लाद जी ने दैत्य बालकों से कहा कि हे मित्रो! मन से होने वाला अधोक्षज श्रीभगवान् का स्पर्श ही इस लोक में अशुद्ध अन्तःकरणवाले पुरुष के संसार चक्र का नाश करने वाला है और वही ब्रह्म के विषय मोक्ष रूप सुख है, ऐसा ज्ञानी पुरुष कहते हैं। इस कारण तुम अपने हृदय में ही विद्यमान अन्तर्यामी श्रीभगवान् का भजन करो। प्रेम का केन्द्र हृदय ही है, अतएव इस अवस्था का मुख्य कार्य्य क्षेत्र हृदय ही है जिस का रहस्य श्रीसद्गुरु की कृपा से बोध होता है और उन्हीं की कृपा से वह इस के दिव्यभाग में प्रवेश कर सकता है।

अहंकार, अहंकृतिभाव और ममता का अभाव, विश्व को श्रीउपास्यमय जान सब को प्रेम की दृष्टि से देखना, श्रीउपास्य में चित्त को निरन्तर संलग्न रखना, और निष्काम भाव से केवल उन्हीं

के कार्य्य के सम्पादन में सब प्रकार से प्रवृत्त रहना आदि इस अवस्था में स्वाभाविक हो जाते हैं; किन्तु प्रारम्भिक अवस्था में इन के उच्चभाव को प्राप्ति के लिये यत्न करना आवश्यक होता है। किसी सन्दिग्धकार्य्य के सामने आने पर उस के लिये भाविक हृदयस्थ हो कर तत्र स्थित श्रीउपास्य की अनुमति की जिज्ञासा करता है जिस के उत्तर में उस के मन में आज्ञा की साफ २ स्फूर्ति हो जाती है और वह तदनुसार करता है। जिन कार्य्य के करने अथवा न करने के लिये आज्ञा शास्त्र में स्पष्ट है उन को तो शास्त्र के आदेशानुसार ही वह करेगा। शास्त्र की आज्ञा को श्रीउपास्य की आज्ञा ही मानना चाहिये और तदनुसार कार्य्य करना चाहिये। श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय १६ में श्रीमुखवचन है।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि २४

हे अर्जुन ! जो पुरुष शास्त्र में कहे हुए धर्म को छोड़कर अपने इच्छानुसार चलते हैं वे मनुष्य सिद्धि, सुख और मोक्ष को नहीं पाते, इस लिये कर्त्तव्य और अकर्तव्य कर्म के निश्चय करने में शास्त्र के प्रमाण को मानकर और शास्त्र की आज्ञा को जान कर जो विहित हो उस कर्म को करे।

ऐसा भाविक अपनी निन्दा स्तुति से क्षुभित न होगा, दूसरे की हानिकरने की इच्छा कदापि न रखेगा; किन्तु सबों की भलाई करने में तत्पर रहेगा। बड़ी विपत्ति के आने पर भी सत्य और न्याय का त्याग नहीं करेगा और हानि अथवा लाभके कारण भी धर्म से विच-लित न होगा किन्तु उसमें दृढ़ ही रहेगा और दूसरे के कुव्यवहारको भी शान्ति से सहलेगा और संसार को हितकामना में विशेष प्रवृत्त

रहेगा। किन्तु जिन को यह उच्च अवस्था प्राप्त नहीं है किन्तु स्वार्थ, अज्ञान और अपनी प्रतिष्ठाके कारण कहते हैं कि मैं कुछ नहीं करता, जो कुछ कार्य्य किये जाते हैं उन को श्रीभगवान् स्वयं करते हैं, ऐसे मिथ्याचारी हैं। आजकल ऐसे लोग अनेक देखे जाते हैं। किन्तु जिन को यह अवस्था प्राप्त है, वे वाह्य रूप में इस को कभी प्रकाशित नहीं करते किन्तु करनो से दीनातिदीन बने रहते हैं।

इस अवस्था की प्राप्ति की मुख्य साधना और भी इस अवस्था की पूर्व दशा का वर्णन श्रीमद्भागवत में यों है:—

हरिः सर्वेषुभूतेषु भगवानास्त ईश्वरः। इति भूतानि मनसा कामैस्तैः साधुमानयेत् ३२ निशम्य कर्माणि गुणानतुल्यान्वीर्याणि लीलातनुभिः कृतानि यदाऽतिहर्षोत्पुलकाश्रुगद्गदं प्रोत्कण्ठ उद्गायति रौति नृत्यति ३४ यदा ग्रहग्रस्त इव क्वचिद्धसत्याक्रन्दते ध्मायति वन्दते जनम् मुहुः श्वसन्वक्ति हरे जगत्पते नारायणेत्यात्मगतिर्गतत्रपः ३५ तदापुमान्मुक्तसमस्त-बंधनस्तद्भावभावानुकृताशयाकृतिः। निर्दग्धबीजानुशयो महीयसा भक्तिप्रयोगेण समेत्यधोक्षजम् ३६ एतावानेव लोकेऽस्मिन्पुंसः स्वार्थः परः स्मृतः। एकांत भक्ति गोविंदे यत्सर्वत्र तदीक्षणम् ५५ स्क. ७. अ. ७. तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनाम् प्रवृत्तंच निवृत्तंच श्रोतव्यंश्रुतमेवच १४ मामेकमेवशरणमात्मानं सर्वदेहिनाम् याहि सर्वात्मभावेन मया स्याह्यकुतोभयः १५ श्रीमद्भागवत स्क० ११ अ० १२।

सकल प्राणियों में दुःखहर्ता श्रीभगवान् वास कर रहे हैं ऐसा मन में रखकर उन प्राणियों के जो२ मनोरथ हों उन को पूर्ण कर के उन का यथोचित सम्मान करे। श्रीप्रह्लादजी कहते हैं कि हे

दैत्यपुत्रो ! श्रीभगवान् के कर्म, गुण, अतुलनीय वीर्य, शरीर के द्वारा की हुई लीला जो हैं उन को सुन कर जब अतिहर्ष से शरीर के ऊपर रोमांचित खड़े हो कर नेत्रों में आनन्द के अश्रु आजाते हैं और गद्‌गद कण्ठ होकर पुरुष ऊंचे स्वर से गान करने लगता है, रोदन करता है और नृत्य करने लगता है, तैसे ही जब पिशाच से ग्रसा हुआ सा होकर कभी २ हंसने लगता है, विलाप करने लगता है, श्रीभगवान् का ध्यान करता है, लोकों को वन्दना करता है और कभी २ श्रीभगवान् में बुद्धि लीन हो जाने के कारण निर्लज्ज होकर वारंवार श्वास छोड़ता हुआ "हे हरे ! हे जगत्पते"। ऐसा उच्चारण करता है, तब वह भक्तियोग के द्वारा, जिस के संसार के बीज रूप अज्ञान और वासना जलगये हैं, जिस के मन और शरीर यह दोनों श्रीभगवान् को लीलाओं के चिन्तन से उन लीलाओं का अनुकरण करने लगे हैं और जिस के पुण्यपाप आदि रूप सकल बन्धन टूटगए हैं, ऐसा होता हुआ श्रीभगवान् के स्वरूप को प्राप्त होता है । श्रीभगवान् में एकनिष्ठ भक्ति और स्थावर जङ्गम रूप सकल प्राणियों में श्रीभगवान् हैं ऐसा देखना, यही इस लोक में पुरुष का उत्तम हित कार्य कहा है। श्रीभगवान् कहते हैं कि हे उद्धवजी ! मेरे भजन का प्रभाव ऐसा है, इस कारण तुम श्रुति, स्मृति, विधि, निषेध, प्रवृत्त कर्म, श्रवण करने योग्य और श्रवण किया हुआ सब शास्त्र छोड़कर सकल प्राणिमात्र के अन्तर्यामी एक आत्मा मुझको "सब जगत् भगवद्रूप है" ऐसी भावना से शरण आओ और मेरी प्राप्ति करके संसार भय से छूट जाओ। १४ और १५ ।

ऊपर कथित वाक्यों में श्लोक ३२ और ५५ और अंत के १४ और १५ बड़े महत्व के हैं और भक्ति और इस भाव के सार हैं। श्री उपास्य को सब प्राणियों में देखना और ऐसी दृष्टि के कारण उन की प्रसन्नता को श्रीउपास्य की प्रसन्नता जानना और उन्हीं का

रूप जान कर उन के हितसाधन में प्रवृत्त होना भक्तिमार्ग का अंतिम लक्ष्य है जिस के विना शुद्ध प्रेम का विकाश हो नहीं सकता। श्रीउपास्य के सर्वात्मभाव के साथ ही आत्मनिवेदन (शरणागत) किया जाता है। शरणागत को शास्त्र के धर्म के त्यागने का तात्पर्य्य यह है कि जब से उस को श्रीउपास्य का आदेश सीधे मिलने लगता है और उस आदेश के अनुसार जिस परम आंतरिक सेवा में वह प्रवृत्त होता है वह शास्त्रकथित विधि-निषेध से भी उच्च और कठिन है जिस के द्वारा जगत् का बहुत बड़ा कल्याण होता है। सांसारिक कार्य्यों में भी योग्यता में उन्नति होने से कार्य्य का परिवर्तन होता है, वही बात यहां पर भी है। श्रीमद्भागवत पुराण का वचन है:—

देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां न किंकरो नायमृणी च राजन्।

हे नृप! भक्त देवता, ऋषि, भुत, आत्मीय, नर, किंकर अथवा पितृगण इन में से किसी का भी ऋणी नहीं रहता अर्थात् इन सब के ऋण से मुक्त हो जाता है।

यह विश्व ही श्रीउपास्य के प्रेम-यज्ञ अर्थात् करुणा भाव का परिणाम है जैसा कि प्रथम खंड के पृष्ठ २१० में कहा जा चुका है। स्थूल जगत् में श्रीभगवान् को स्थावर, विशेष कर धातु और प्रस्तर में, इस प्रकार अपने को प्रकृति से आबद्ध करना पड़ता है कि वहां चेतन के अस्तित्व का कोई बाह्यलक्षण भी देखने में नहीं आता। उद्भिज्ज में थोड़ा २ प्राण शक्ति प्रकट होती है किन्तु अवयव नहीं। पशु योनि में अवयव होते हैं किन्तु चिंताशक्ति का अभाव रहता है। श्रीभगवान् के इन तीन राज्य में करोडों वर्ष आवद्ध रहने पर जब प्रकृति सूक्ष्म और शुद्ध होती है तो मनुष्य शरीर तय्यार होता है। अर्थात् श्रीभगवान् की शक्ति ही तमोगुण (स्थावर उद्भिज्ज) से रजोगुण (पशु) को उत्पन्न कर फिर सत्वगुण (मनुष्य के शरीर के निमित्त प्रकृति) का प्रादुर्भाव करता है।

मनुष्य को भी स्थावर, उद्भिज्ज और पशु की आवश्यकता रहती है और भी श्रीभगवान् इस सृष्टि के हित के लिये अपनी विभूति सूर्य्य, चन्द्र, अग्नि, वायु, जल, गौ, समुद्र, हिमालय, वृक्ष, अन्न, औषधि आदि द्वारा जगत् का रक्षापालन करते हैं। सृष्टि का केवल उद्देश्य है कि मनुष्य जो श्रीभगवान् के प्रेम-यज्ञ का फल है वह अपने को आत्मनिवेदन कर इस यज्ञ का मुख्य सेवा में योग दे, किन्तु मनुष्य इस में योग देने के बदले अधर्माचरण द्वारा बाधा देता है। जैसा कि बालक माता की गोद में रक्षित रहने पर भी उन्हीं को लात मारता है किन्तु माता उस से रुष्ट न हो उस की रक्षा ही करती है, उसी प्रकार श्रीभगवान् बाधा पाने पर भी रुष्ट न हो कर दया ही करते हैं। अधर्माचरण करना मानो श्रीभगवान् को आघात करना है (देखो प्रथम खंड पृष्ठ ३१०), किन्तु इस आघात के निरंतर लगते रहने पर भी श्रीभगवान् माता के समान हम लोगों पर स्नेह ही रखते हैं और सदा रक्षा-पालन में ही नियुक्त रहते हैं। वे कर्म के फल के नियमानुसार दुष्ट कर्म के दुष्ट फल को भेज कर भी दया ही करते हैं, क्योंकि उस के द्वारा दुष्ट स्वभाव रूपी व्याधि की शान्ति होती है। यह ऐसा ही है जैसा कि माता बालक को कड़ुवी औषधि देकर रोग से मुक्त करने की चेष्टा करे। और भी देखा जाता है कि श्रीभगवान् अत्यन्त दरिद्र, अत्यन्त दुःखित, अत्यन्त व्याधिग्रस्त, कोढ़ी, अंधा, पंगु आदि के शरीर में प्रसन्नता से विराजमान रहते हैं ताकि वे भी उन्नति करें और उन को देख कर दूसरे को उन के प्रति दया और उपकार करने का संयोग मिले। श्रीभगवान् संसार का अपने विश्व रूप द्वारा आधिभौतिक उपकार करते हैं, श्रीनरनारायण के रूप में तपस्या कर के और भक्तों को प्रेरणा कर आधिदैविक उपकार अर्थात् धर्म, ज्ञान, भक्ति आदि का विस्तार करते हैं और श्रीसद्गुरु के रूप में (आत्मनिवेदना दि में सहायता देकर) आध्यात्मिक उपकार करते हैं जो परमोच्च है। श्रीमद्भागवत पुराण का वचन है :—

यत्र नारायणोदेवो नरश्च भगवानृषिः।
मृदु तीव्रं तपोदीर्घं तेपाते लोकभावनौ।२२।

स्कं० ३ अ० ४

नैवापयोत्यपचितिं कवयस्तवेश ब्रह्मायुषाऽपि कृत-मृद्धमुदःस्मरन्तः। योऽन्तर्बहिस्तनुभृतामशुभं विधुन्व-न्नाचार्य चैत्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति।६।

स्कं० ११ अ० २६

जहां (श्रीबदरिकाश्रम में) श्रीदेवनारायण और भगवान् नर यह लोकों पर अनुग्रह करने वाले दोनों ऋषि कोमल और तीव्र दुर्घट तप कल्प को समाप्तिपर्यंन्त करने का निश्चय किये हुए विराजमान हैं। हे श्रीभगवन्! तुम प्राणियों के अन्तःकरण में अन्तर्यामी रूप से और बाहर श्रेष्ठ गुरु रूप से रह कर विषयवासना रूपी अमंगल को दूर करते हो और उन को अपने स्वरूप का दर्शन देते हो, ब्रह्मज्ञानी पुरुष इस तुम्हारे उपकार का स्मरण करते हैं और परमानन्द से भी पूर्ण रहते है, ऐसे ब्रह्मज्ञानी भी तुम्हारे उपकारों का पलटा कभी नहीं चुका सकते। वे केवल तुम्हारे उपकारों का नित्य ही स्मरण करते हैं।

किन्तु शोक है कि अनेक मनुष्य में, श्री भगवान् के इस असीम करुणा के कारण त्याग का भाव उत्पन्न न होकर, हिंसा भाव उत्पन्न होना है जो यहां तक बढ़ जाता है कि श्री भगवान् के प्रिय अंश निरपराध पक्षी आदि जो किसी की हानि नहीं करते किन्तु उनमें से कई लोगों का उपकार भी करते उनको लोग मार डालते हैं और भी अन्य प्रकार की हिंसा करते हैं। जब भाविक को एक ओर श्रीभगवान् की अतुलनीय मधुर करुणा, प्रेम और यज्ञ और दूसरी ओर मनुष्य का उपकृत होने के बदले अधर्माचरण द्वारा उन को अघात पहुंचाना और उस आघात के पाने पर भी करुणा की वर्षा की कमी नहीं, इसका यथार्थ ज्ञान और अनुभव होता है तो

उसका शुद्ध हृदय प्रेम से प्लावित हो जाता है और ध्यान चिंतन द्वारा करुणा और मधुर भाव उस में भी जागरित हो जाता है। प्रेम में ऐसी शक्ति है कि प्रेमी में प्रेमपात्र के गुण को उत्पन्न कर देता है, बल्कि दोनों को एक कर देता है श्रीभगवान् के यह ऊपर कथित करुणा (मधुर) भाव हो भाविक को विशुद्ध प्रेम द्वारा श्री भगवान् में आकर्षित करता, न कि उनका ऐश्वर्य्य भाव, और इसी कारण भाविक श्रीउपास्य से कुछ भी नहीं चाहता किन्तु केवल उनकी करुणा और मधुरता के भावों को संसार के कल्याण के लिये संसार में अपने प्रेम-यज्ञ द्वारा फैलाना चाहता है। वह मनुष्य समाज की शोचनीय दशा को देखकर परम व्याकुल हो जाता है, जैसा कि उसके प्रिय श्री उपास्य भी उनके हित के लिये व्यग्र रहते हैं। और श्री उपास्य के सर्वात्म-भाव की दृष्टि से संसार के दुःख और उसका कारण अधर्माचरण को अपना दुःख और अधर्माचरण समझता है, वरन उससे भी अधिक अनुभव करता है। श्रीउपास्य का प्रेम उसे (भाविक को) बाध्य करता है कि वह संसार के दुःख और उस के कारण अधर्माचरण के घटाने, और सुख और उसके कारण धर्मके बढ़ानेके काम (प्रेम-यज्ञ में जिस में श्रीउपास्य स्वयं नियुक्त हैं, उस में वह थोड़ी भी सेवा कर के योग दे और यही प्रेम-यज्ञ है। ऐसा भाविक सर्वात्मभाव की दृष्टि से संसार के दुःख और अधर्म को अपना दुःख और अधर्म अनुभव करता है, वरन उस से भी अधिक और यथासामर्थ्य सेवा द्वारा इन के घटाने का यत्न करता है। वह भी तीनों प्रकार की सेवा में प्रवृत्त होता है। श्रीउपास्य के निमित्त अन्न, वस्त्र, जल, द्रव्य आदि आवश्यक पदार्थ दीन दरिद्ररूपी श्रीनारायण को अर्पण कर और आश्रितों के पालन-पोषण के लिये उचित सांसारिक कर्तव्य का सम्पादन कर आधिभौतिक सेवा (उपकार) करता है; कीर्तन, भजन, उपदेश, कथा, व्याख्यान और वर्णाश्रमधर्म और उन के कर्तव्य के पालन द्वारा बाह्य भाव से और श्री उपास्य के श्रीचरणों में निरन्तर

चित्त को युक्त कर उन में से निर्झरित करुणा और मधुर रस के प्रवाह को सर्वत्र फैला कर अन्तर से आधिदैविक सेवा (उपकार) करता और श्रीसद्गुरु की सहायता से आत्मनिवेदन कर विश्व की परम श्रेयस्कर आध्यात्मिक सेवा (उपकार) करता है । यह प्रेम-यज्ञ ऐसा है कि इस का बहुत बड़ा प्रभाव दूसरों पर पड़ता है और अनेक योग्य साधक इस के कारण श्रीउपास्य की सेवा में प्रवृत्त होते हैं। जब २ कोई पवित्रात्मा सज्जन निःस्वार्थ भाव से श्रीभगवान् के स्नेह से प्रेरित हो श्रीभगवान् के लिये संसार के हित के काम में प्रयुक्त होते हैं, तब तब उनका प्रभाव अवश्य जनसमुदाय पर पड़ता है और अनेक लोग उन के प्रेम के बल से प्रेरित हो कर स्वयं उन के इस विश्वहित कार्य्य में योग देते हैं। आज कल की भी यह हालत है और भविष्यत् में भी यही होगी।

ऐसे भाविक के शुद्ध प्रेम का प्रभाव चेतन को कौन कहे जड़तक पर भी पड़ जाता है। ऐसे भाविक प्रेम से जिस प्रतिमा अथवा चित्र की पूजा और ध्यान करते हैं वह तेजपुंज से पूरित होकर सजीव हो जाती है। ऐसे भाविक की प्रतिमा को सर्दी-गरमी मालूम पड़ने लगती है गरमी में पंखा न करने से पसीना आता, जाड़े में कपड़ा न देने से ठण्ढक लगती, भोग न देने से भूख से कष्ट होता है और आवश्यकता होने पर वह बोलती भी है। आजकल भी भाविक के श्री ठाकुरजी की प्रतिमा में ये सब बातें देखी गई हैं। ऐसे भाविक की सहानुभूति और करुणा दृष्टि से कोई भी दुःखी वंचित नहीं रहता और वह अपनी निरंतर प्रार्थना और हितचिंता से संसार के पाप के बोझ को घटाता है, क्योंकि शरणागत की केवल भावना में भी बहुत बड़ा प्रभाव रहता है। ऐसा साधक दिनरात प्रेम यज्ञ में योग देने में व्यग्र रहता, कभी इस से खाली नहीं रहता यहां तक कि शयनकाल में भी वह प्रेम-सेवा में ही लगा रहता और जगत् का उपकार करता रहता है।

ऐसा भाविक प्रेम-यज्ञ के लिये अपने सर्वस्व के त्यागने के लिये प्रस्तुत रहता है यदि आवश्यक हो। वह कदापि हिंसा, असत्य, क्रोध, लोभ, अभिमान, मद, मत्सर, ईर्ष्या, इन्द्रियलोलुपता आदि दुर्गुणों से सम्पर्क नहीं रखता, क्योंकि वह समझता है कि इनके व्यवहार से उसके हृदयस्थ परम इष्ट श्रीउपास्य को आघात पहुंचेगा। वह प्राण अथवा सर्वस्व को बचाने के लिये भी हिंसा असत्यादि का कदापि व्यवहार नहीं करता। रामचरितमानस में लिखा है:—

रघुवंशिन कर यही बड़ाई। प्राण जाय वरु बचन न जाई।

पूर्वकाल में राजा हरिश्चन्द्र ने राज्य त्याग, महात्मा दधीचि ने शरीर त्याग, धर्मात्मा पाण्डवों ने वनवास और अज्ञात वास इस प्रेम ही के कारण किया, क्योंकि सत्य और परोकार श्रीउपास्य के रूप ही हैं। इस युग में श्रीमीराबाई, कलकत्ता पाईकपाड़ा राज्य के प्रसिद्ध मालिक लाला बाबू आदि ने अपने राज्य को इसी भगवत् प्रेम ही के कारण त्याग किया। यथार्थ त्याग आंतरिक भाव है, बाह्य भाव नही। योगवाशिष्ठ में कथा है कि ज्ञानी चूड़ाला रानी ने अपने पति के सब बाह्य पदार्थों के त्याग करने पर उन को त्यागी नहीं माना। राजा जनक, अम्बरीष आदि राज्य करते रहने पर भी यथार्थ त्यागी भक्त थे, अर्थात् राज्यसिंहासन पर रह कर भी विना आसक्ति के केवल श्रीउपास्य के लिये उन के प्रिय कार्य को और कर्तव्य को सम्पादन करना त्याग ही है। भिन्न २ भाविकों का बाह्य भाव और क्रिया कलाप उन की अवस्था और प्रारब्ध कर्मानुसार भिन्न २ रहता है किन्तु आंतरिक भाव एक ही प्रकार का होता है अर्थात् उनकी सब वस्तु, उन के सब कर्म, उन की सब भावना, उन की आत्मा तक केवल श्रीउपास्य में अर्पित रहती हैं। श्रीउपास्य की इच्छा के अनुसार कोई भिक्षा मांगकर उनकी सेवा करता, कोई राज्य शासन कर उन की आज्ञा का पालन करता। उद्देश्य दोनों के एक रहते हैं।

ऐसे भाविक को श्रीमद्भगवद्गीता में "ज्ञानी" और "युक्ततम" कहा है। जैसा कि:—

चतुर्विधाभजंते मांजनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तोजिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥१६
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियोहि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहंसच मम प्रियः ॥१७
उदाराः सर्वएवै ते ज्ञानीत्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः सहि युक्तात्मा मामेवानुत्तमांगतिम् ॥१८
बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति समहात्मा सुदुर्लभः ॥१६

अ० ७ ॥

मय्यावेश्य मनोयेमां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धयापरयोपेतास्तेमे युक्ततमा मता ॥ २

अ० १२

हे भरतर्षभ! दुःखी, आत्मा के जानने की इच्छा करने वाला, धन की इच्छा करने वाला और ज्ञानी, ये चार प्रकार के मनुष्य मुझे भजते हैं। इन चारों में ज्ञानी श्रेष्ठ है, वह सदा मुझ से युक्त रहता है और मुझ में ही भक्ति रखता है, इस से ज्ञानी को मैं बहुत प्रिय हूं और ज्ञानी मुझको प्रिय है। ये चारों उत्तम हैं, परन्तु ज्ञानी मेरी ही आत्मा है। यह मेरा मत है। क्योंकि वह सदैव अपना चित्त मुझ ही में लगाये रहता है और सर्वोत्तम गति रूपी मेरे ही आश्रित रहता है। हे अर्जुन! बहुत जन्म तक ज्ञान को संचित करता हुआ जो इस संपूर्ण जगत् को वासुदेवमय जानता है, वह मुझे प्राप्त होता है परन्तु ऐसा महात्मा दुर्लभ है। श्रीभगवान् कहते हैं कि जो भाविक मेरे विश्व रूप में चित्त को संनिवेशित करके निरंतर मेरी सेवा में नियुक्त और भक्ति से मेरी उपासना करते हैं वे मेरे जानते उत्तमोत्तम हैं। यहां ज्ञानी कहने का तात्पर्य्य उसी से है

जिस को श्रीभगवान् के प्रेम-यज्ञ और उन के परम उदार करुणा-भाव का ज्ञान है और वह भी करुणा और मधुर भाव से पूरित होकर और श्रीभगवान् के विश्व रूप भाव का अनुभव कर इस प्रेम-यज्ञ में प्रयुक्त है और उन्हीं में तन्मय है। अंतिम श्लोक का भाव है कि श्रीभगवान् के सगुण रूप और भी विश्व रूप में जो मन को संनिवेशित कर नित्ययुक्त होकर अर्थात् केवल उन्हीं के निमित्त कर्म करने में प्रवृत्त होकर प्रेम पूर्वक उपासना करता है और शरण में जाता है वही सब से श्रेष्ठ है। भगवान् श्री शंकराचार्य्य ने इस श्लोक के भाष्य में श्री भगवान् के विश्व रूप का उल्लेख किया है और श्री श्रीधरस्वामी ने अपनी टीका में नित्ययुक्त का श्रीभगवान् के लिये कर्म करना ही अर्थ किया है। परा श्रद्धा शरणागत भाव है और उपासना का भी अंतिम लक्ष्य शरणागत भाव की ही प्राप्ति है। इस अवस्था को प्राप्ति के लिये पूर्ण निरहंकार और निरभिमान होना आवश्यक है, यहां तक कि सेवा और तितिक्षा के भी कर्तापने के भाव को त्यागना चाहिये। ऐसा भाविक समझता है कि केवल श्री उपास्य की कृपा और उन के द्वारा दी हुई शक्ति के कारण ही मैं कुछ तुच्छ सेवा कर सकता हूं अन्यथा मेरी सामर्थ्य कहां कि उस का सम्पादन करूं? अतएव उस को अहंकार अभिमान नहीं कलुषित करता। लिखा है:—

> हरौरतिंवहन्नेषो नरेन्द्राणां शिरोमणिः।
> भिक्षामटन्नरिपुरे श्वपाकमपि वन्दते॥
>
> पद्मपुराण।

श्री भगीरथ राजा राजकुलरत्न होने पर भी श्रीभगवान् में अपनी प्रीति को स्थापित कर शत्रु के घर से भी भिक्षा जाचना करते थे और चाण्डाल की भी वन्दना करते थे।

जैसा कि श्रीभगवान् सब प्राणियों में निवास करते हैं और सबों पर उन को दृष्टि रहती है उसी प्रकार भाविक भी सब से

प्रेम करता और चाण्डालादि दुःखित, पतित व्यक्ति उस की दया और श्रद्धा के वैसे ही पात्र हैं जैसा कि उच्च अवस्था के व्यक्ति रहते हैं। एकवार श्रीभगवान् के हस्तिनापुर से द्वारका लौटने पर उन के स्वजन के मिलन के विषय में श्रीमद्भागवत पुराण में ऐसा वर्णन है:—

भगवांस्तत्र बन्धूनां पौराणामनिवार्तिनां ।
यथाविध्युपसंगम्य सर्वेषां मानमादधे ॥२१
प्रह्वाभिवादनाश्लेषकरस्पर्शस्मितेक्षणैः ।
आश्वास्यचाश्वपाकेभ्यो वरैश्चाभिमतैर्विभुः ॥२२

स्क० १ अ० ११

तब श्रीभगवान् ने, अपने बलरामादि बान्धव तथा सकलपुरवासियों की भेंट यथोचित रीति से लेकर, किसी को मस्तक नवा कर, किसी को नमस्कार कर के, किसी को हाथ जोड़ नमस्कार कर, किसी को हृदय से लगा कर, किसी से हाथ मिलाकर, किसी की ओर दृष्टि दे कर, किसी को उपदेश कर के और किसी को इच्छित वरदान दे कर इस प्रकार वसुदेव जी से ले कर उन्हों ने चाण्डाल पर्यन्त सब का योग्यतानुसार सम्मान किया।

एक महात्मा एक बार श्रीभगवान् के भोग के लिये रोटी बनाकर दूसरा व्यंजन बना रहे थे कि इत ने में एक कुत्ता आकर रोटी को लेकर भाग चला। महात्मा कुत्ते को भी श्रीभगवान् का रूप मान कहने लगे कि "कृपाकर आप थोड़ा ठहरजाइए, रोटी रूखी है, उस में मुझे घी लगाने दीजिये तो उसे भोग लगाइयेगा"। महात्मा के सर्वात्म भाव की भक्ति के कारण श्रीभगवान् ने वीठल के रूप में प्रकट हो कर उन्हें दर्शन दिया। विष्णुपुराण का वचन है:—

एवं सर्वेषु भूतेषु भक्तिरव्यभिचारिणी ।
कर्तव्या पण्डितै ज्ञात्वा सर्वभूतमयं हरिम् । ५

अं० १९

इस प्रकार पण्डित को सब प्राणियों में अनन्य भक्ति करनी चाहिये।

भक्त के हृदय परम कोमल और करुणा से परिपूर्ण रहने के कारण पतित और दुःखित की दशा की ओर स्वभावतः उन का ध्यान विशेष आकर्षित होता है। उन की दशा के सुधारने में वे विशेष दत्तचित रहते हैं। चूंकि पारमार्थिक सुधार से सब सुधार सम्भव है, केवल आर्थिक सुधार यथेष्ट नहीं है, अत एव भाविक लोगों को ईश्वरोन्मुख करने के लिये अधिक यत्न करते हैं जिस से सांसारिक दशा का भी सुधार होता है। स्वामी श्रीरामानुजाचार्य्य के गुरु ने उन को आदेश दिया कि महामंत्र जो उन को दिया गया है उस को अनधिकारी को बतलाने से सुनने वाले को तो लाभ होगा किन्तु बतलाने वाले को नरक होगा। स्वामी श्रीरामानुजाचार्य्य ने अपने नरक के वास से भी दूसरों का लाभ हो इस को उत्तम समझ महामंत्र का उपदेश एक ऊंची जगह पर जाकर अनेक लोगों को दिया। अपने ऊपर कष्ट उठाकर भी दूसरों को लाभ पहुंचाना इस स्वामी श्रीरामानुजाचार्य के भाव को उन के गुरु ने परमोत्तम समझा और इस के लिये उन के त्याग भाव की सराहना की और कहा कि यह तुम्हारा त्याग कर्म श्रीभगवान् के लिये बड़ा प्रिय कार्य हुआ।

साधक जैसे २ प्रेम की आकर्षिणी शक्ति के सहारे श्रीउपास्य के निकटवर्ती होता जाता है उस से अधिक वेग से श्रीउपास्य उस की ओर आकर्षित होते जाते हैं, क्योंकि उन को भक्त से अधिक अन्य कोई प्रिय नहीं है। लिखा है :—

तुलसीदलमात्रेण जलस्य चुलुकेन च।
विक्रीणीते स्वमात्मानं भक्तेभ्यो भक्तवत्सलः॥
(विष्णुधर्म)

सदामुक्तोऽपि बद्धोऽस्मि भक्तेषु स्नेहरज्जुभिः।
अजितोऽपि जितोऽहं वै अवशोऽपि वशीकृतः॥

और भी :—

अहंभक्तपराधीनोह्यस्वतंत्र इव द्विज ।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः ॥६३
नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना ।
श्रियंचात्यंतिकीं ब्रह्मन्येषां गतिरहं परा ॥६४
ये दारागारपुत्रासान्प्राणान्वित्तमिमं परम् ।
हित्वामां शरणंयाताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे ॥६५

श्री भाग० स्क० ६ अ० ४

भक्त यदि श्रीभगवान् को एक दल तुलसी अथवा एक अञ्जलि जल प्रेम से देते हैं तो उस के कारण वे भक्तवत्सल उस के हाथ में अपनी आत्मा को बेंच लेते हैं। श्रीमुख वाक्य है कि मैं सदामुक्त रहने पर भी भक्त की स्नेह-डोरी से बन्धा हुआ रहता हूं और अजित होने पर भी भक्त द्वारा जीता जाता हूं और अवश होने पर भी भक्त के वश में हूं। जब ऋषि दुर्वासा जी राजा अम्बरीष के द्रोह के कारण सुदर्शनचक्र के आक्रमण से भीत होकर श्रीभगवान् की शरण में गये तो श्रीभगवान् ने कहा कि हे ब्राह्मण ! मैं भक्तों के वश में हूं, इस कारण तेरी रक्षा करने के विषय में स्वतन्त्र नहीं हूं। क्योंकि निरपेक्ष भक्तों के प्रेम ने मेरे हृदय को अत्यन्त वश में कर लिया है, इस कारण वे भक्त मुझे सब से अधिक प्यारे हैं ६३। हे ब्राह्मण ! जिन का मैं परम आश्रय हूं उन परम विवेकी भक्तों के बिना मैं, अपनी आत्मा और मेरा आश्रय करके स्थिर रहने वाली लक्ष्मी की भी, इच्छा नहीं करता हूं, फिर औरों की तो बात ही क्या ? ६४। जिन भक्तों ने स्त्री, घर, पुत्र, अपने प्राण, द्रव्य, यह लोक और परलोक, इन सबों को त्याग कर मेरा ही आश्रय लिया है उन को त्यागने में मैं कैसे समर्थ हो सकता हूं ? अर्थात् कभी समर्थ नहीं हो सकता। श्रीनारद जी ने एकबार देखा कि श्रीभगवान् सिंहासनस्थ व्यक्तियों की बड़ी प्रीति से पूजा अर्चा करने में

व्यग्र हैं। जिज्ञासा करने पर जाना गया कि वे उन के परम प्रिय भक्तगण हैं।

कान्ताभाव।

अहं-भाव अहंकृति-भाव को पुरुषभाव भी कहते हैं जिस के शुद्ध रूप (दासोऽहं सखाहं) को भी विना त्याग किये आत्मनिवेदन हो नही सकता। इस भाव के विरुद्ध कान्ताभाव है। जिस में इन भावों (अहंकार और कर्तापन) का पूरा अभाव रहता है। यद्यपि आत्मनिवेदन अन्य साधनों की दृष्टि से शुद्ध आध्यात्मिक भाव है, कदापि आधिभौतिक नही, क्योंकि इस में स्वतः आत्मा ही का समर्पण होता है, तथापि सांसारिक भावों में कान्ताभाव से इस की तुलना इस लिये की गई है कि आर्य्यमतानुसार जो पातिव्रत्य धर्म है वह संसार में किसी अश में इस का द्योतक है। "कान्ता भाव" कहने से यह तात्पर्य्य नहीं है कि भाविक शरीर की दृष्टि से स्त्री है अथवा हो गया, कदापि नहीं। इस कान्ताभाव कहने के दो कारण हैं:—प्रथम कारण। जैसा कि प्रथम खंड के ज्ञानयोग में कहाजाचुका है, प्रेम पुरुष श्रीभगवान् प्रेमयज्ञ अर्थात् प्रेम का प्रसार करने के लिये जब "एकोऽहं बहु स्याम्" यह संकल्प करते हैं, तब उनका यह संकल्प ही आनन्दमयी पराशक्ति हो कर उन की इच्छा की पूर्ति में प्रवृत्त होती है और संसार के उद्भव, स्थिति और पालन का कारण बनजाती है। जीवात्मा भी श्रीभगवान् की चिच्छक्ति का अंश है अतएव शक्तिरूप है और विश्व में केवल मात्र पुरुष श्रीभगवान् हैं। लिखा है:—

गोविन्द एव पुरुषो ब्रह्माद्याः स्त्रियएव च।४६

पद्मपुराण, पाताल खंड, अ० ६४

सर्वे देवाः प्राकृतिकायावन्तीमूर्त्तिधारिणः।
अहमात्मानित्य देही भक्तध्यानानुरोधतः २४।

विश्व में केवल श्रीभगवान् ही पुरुष हैं और ब्रह्मादि सब के सब उन की शक्ति (स्त्री रूपा) हैं। जितने देवता आदि मूर्तिमान् हैं, वे सब प्रकृति (शक्ति) के कार्य्य हैं, अतएव शक्तिरूप हैं, केवल मैं ही सनातन आत्मा शरीर में भक्तों के ध्यान द्वारा प्राप्त होने के लिये रहता हूं। परमपुरुष श्रीभगवान् को अपनी पराशक्ति और उन के अंशों के साथ संयोग ही उन की नित्य की विहारलीला है और यही सृष्टि का जीवन और पालन का कारण है और इसी द्वारा श्रीभगवान् के परम प्रेमानन्द का प्रसार और परस्पर प्रेमानुभव होता है जैसा कि पहिले भी कहाजा चुका है। इस को रमण, रति, रास आदि भी कहते हैं। लिखा हैः—

स्वयंहि बहवो भूत्वा रमणार्थं सहारसः।
तयातिरमया रेमे प्रियया बहुरूपया॥

(नारद पञ्चरात्र)।

श्रीभगवान् रमण (प्रेमानन्द का प्रसार) करने के लिये अनेक हो गये और उन्होंने अनेक रूपवाली अपनी प्रिया (जीवात्मा) के द्वारा रमण (प्रेमानन्द का वर्पण और आस्वादन) किया।

और भीः—

गोपीनां तत्पतीनाञ्च सर्वेषाञ्चैव देहिनाम्।
योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक्॥३६॥

(श्रीमद्भागवत पु० स्क० १० अ० ३३)

जो श्रीभगवान् श्रीगोपीगण और उन के पति और सब शरीर-धारियों की अन्तरात्मा में विचरते (विहार करते) हैं, वही नियंता अपनी लीला (प्रेमानन्द प्रसार) करने के लिये ही श्री कृष्ण रूप होकर प्रगट हुए और गोपियों के साथ क्रीडा (परमात्मा जीवात्मा की नित्यसिद्ध विहारलीला) की (जो परम आध्यात्मिक रहस्य है), इस में दोष क्या? विश्वमात्र ही श्रीभगवान् की शक्ति है। लिखा हैः—

एकदेशस्थितस्याग्ने र्ज्योत्स्ना विस्तारिणी यथा ।
परस्य ब्रह्मणः शक्तेस्तथेदमखिलं जगत् ।

विष्णुपुराण १·३२·३५

जिस प्रकार एक देशस्थित अग्नि का प्रकाश अधिक दूर तक व्याप्त रहता है, उसी प्रकार यह अखिल जगत् परब्रह्म की शक्ति है ।

जीवात्मा और परमात्मा (श्रीभगवान्) में शक्ति-शक्तिमान् अथवा "अंश"-"अंशी" का सम्बन्ध है और जीवात्मा की सब शक्तियां श्रीभगवान् की दी हुई हैं, अतएव स्वयं जीवात्मा श्रीभगवान् की शक्ति और वस्तु है। किन्तु जीवात्मा इस प्रेम-सम्बन्ध को भूल कर कर्ता और शक्तिमान् अपने को मानती है जो पुरुषभाव का ग्रहण करना है, अतएव इस अहंता (पुरुषभाव) के कारण श्रीभगवान् की नित्य लीला में योग देने के योग्य न रह कर सेवा करने के अयोग्य हो जाती है। अतएव जीवात्मा को अपने को श्रीभगवान् की शक्ति मानना (जिसको कान्ताभाव कहते हैं) अनादि, आध्यात्मिक और स्वाभाविक भाव है ।

पतिव्रता-भाव ।

दूसरा कारण यह है। जैसे कि पतिव्रता स्त्री अपने पति का केवल एक भोग मात्र है, स्वतन्त्र नहीं है, उसी प्रकार जीवात्मा का भी सम्बन्ध श्रीभगवान् से है, अतएव सांसारिक भाषा में इस को कान्ताभाव कहते हैं। इस अनादि सम्बन्ध और उस के धर्म का किञ्चित् आभास प्रकट करने के लिये सती साध्वी पतिव्रता स्त्री का जो सम्बन्ध और धर्म उस के पति से है उसकी तुलना दी गई है, यद्यपि यह सम्बन्ध और धर्म अतुलनीय है ।

यहां पर पतिव्रता धर्म का वर्णन करना प्रसंग-विरुद्ध नहीं होगा, क्योंकि उससे शरणागतभाव के भाविक के धर्म और लक्षण का भी

बोध हो जायगा, चूं कि उन का धर्म किसी अंश में पतिव्रता के समान और किसी अंश में उस से भी उच्च और कठिन है।

पतिव्रता स्त्री अपने पति की सेवा स्वार्थवश कदापि नहीं करती आर्य्य धर्म में विवाह संस्कार है और कर्तव्यपालन और धर्मोपार्जन के लिये है। यह पुत्र उत्पन्न कर देव, पितृ आदि ऋणों से मुक्त होने के लिये है, कदापि सुख प्राप्ति के लिये नही। स्त्री सहधर्मिणी है, पति को उनके धर्म और यज्ञ में सहायता देना उस का मुख्य धर्म है, अतएव अर्द्धांगिनी भी है। स्त्री पुरुष का सहवास शास्त्रानुसार यज्ञ अर्थात् त्याग है, कदापि सुख संभोग नही है और प्राचीन काल में यह इसी दृष्टि से देखा जाता था। स्त्री को सन्तान की उत्पत्ति, पालन में जो असीम कष्ट होता है वह प्रसिद्ध है। पहले के समय में सन्तानोत्पत्ति के बाद पुरुष, स्त्री में भाई, बहन का सम्बन्ध हो जाता था और अब भी होना चाहिये और कहीं २ इस काल में भी ऐसा देखा जाता है। पतिव्रता स्त्री अपने पति के कुरूप, अङ्गहीन, क्रोधी, क्रूर होने पर और पति द्वारा विना कारण अपने ऊपर कुव्यवहार, ताड़ना और भर्त्सना आदि के किये जाने पर भी और पति की बेपरवाही से अन्नादिक का कष्ट पाने पर भी प्रसन्न हो रहती है और मन में विना किसी प्रकार के विषाद को लाये पति की सेवा में ही प्रवृत्त रहती, कदापि विमुख नही होती, और सेवा वैसी ही उत्तमता से करती है जैसा कि पति से परितोषित होने पर करती। लिखा है—

गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वांवद किं न मे हृतम्।

रघुवंश काव्य।

कार्य्येषु मंत्री करणेषु दासी धर्मेषु पत्नी क्षमयाच धात्री।
स्नेहेषु माता शयनेषु भार्य्या रंगे सखी लक्षण सा प्रिया मे

नाटक।

(राजा अज अपनी रानी इन्दुमती के वियोग पर कहते हैं कि) हे निर्दयी मृत्यु ! तुमने मेरी गृहस्वामिनी जो मंत्री, एकान्तसखी और सुन्दर कला में प्रियशिष्या के समान मुझे थी उस के हर लेने में क्या क्या न मेरा हर लिया, अर्थात् सर्वस्व हर लिया। (श्री भगवान् रामचन्द्र श्रीसीता हरण के समय कहते हैं कि) (पतिव्रता) स्त्री पुरुष के व्यवहारिक कार्य्यों में मंत्री, आज्ञा के पालन में दासी, धर्म के सम्पादन में पत्नी (सहायिका), क्षमा में पृथ्वी, स्नेह करने में माता, शयन के समय भार्य्या, आमोद प्रमोद में सखी के समान होती हैं, वैसे ही लक्षण युक्त मेरी प्रिया है।

पतिव्रता स्त्री अपने पति को सेवा में मन, बचन, बुद्धि और शरोर से सदासर्वदा ऐसा अनुरक्त रहतो है कि अपने को एक प्रकार से विस्मरण कर जाती है अर्थात् वह अपने सुख, सम्पत्ति, आमोद प्रमोद के लिये तनिक भी इच्छुक नहीं रहतो, यहां तक कि भोजन, वस्त्र आदि आवश्यक वस्तुओं की भी परवाह अपनी पति-सेवा की दृष्टि में नहीं करती और आवश्यक होने पर अपने पति के लिये इन का त्याग भी प्रसन्नता से करती है। भूषण आदि का भी व्यवहार केवल पति के प्रीत्यर्थ ही करती, कदापि अपनी तुष्टि के लिये नहीं। उस के लिये पातिव्रत्य-धर्म का पालन ही उपासना-भक्ति है; और भी वह सिवाय अपने पति के किसी अन्य पुरुष को पुरुष ही नहीं समझती, जैसा कि ठीक आत्मनिवेदन की अवस्था के भाविक की भावना श्रीउपास्य के प्रति रहती है। कहा है :—

एकै धर्म एक व्रतनेमा। काय वचन मन पतिपद प्रेमा॥
उत्तम के अस बस मनमाहीं। सपनेहु आन पुरुष जग नाहीं॥
(श्रीरामचरित मानस)

तीर्थ, व्रत, जप, तप, अनुष्ठान जो पारमार्थिक कर्म होने के कारण बड़े आवश्यक हैं और जिनका फल प्रायः स्थायी है उनका भी पतिव्रता निरादर करती है; अर्थात् विना पति की आज्ञा के इन

में प्रवृत्त नहीं होती; और यदि होती भी है तो केवल पति की आज्ञा के पालन करने के लिए ही। उस को पति में अनुरक्ति इतनी पक्की रहती है कि उस के परम इष्ट और उपास्य भी पति ही होते, अन्य कोई नहीं, अर्थात् वह पति ही को श्रीभगवान् का रूप जानती है। इस धर्म की चरम सीमा यह है कि पति के अर्थ अथवा पति की आज्ञा से वह बड़े हर्ष से अपनी प्राण को त्याग ने पर भी उद्यत रहती है, यदि अत्यन्तावश्यक हो।

प्राचीन समय में भारतवर्ष में पति के साथ किसी २ पतिव्रता के सहशरीरत्याग की प्रथा थी वह एक प्रकारका आत्मनिवेदन ही है। पतिव्रता का पति के साथ अपनी स्वेच्छा और पातिव्रत्य धर्म के प्रभाव के बल से प्रयाण करने में सिवाय त्याग और प्रेम की प्रेरणा के और क्या उद्देश्य हो सकता है और संसार में इस से बढ़ कर पवित्र निष्काम प्रेम का और कौन उदाहरण हो सकता है? इस में उसे कोई वाध्य नहीं करना था। वह संसार में रह कर सुख भोग कर सकती थी; किन्तु इस आत्मनिवेदन के कारण ही यह सहप्रयाण किया जाता था।

पति की आज्ञा के पालन के लिये अथवा उन के सौंपे किसी कर्तव्य के पालन के लिये तो प्रतिव्रता का पति के साथ संसार से नहीं प्रयाण करना ही परम धर्म है और इस के विरुद्ध करने से ही वह व्रत से भ्रष्ट हो जाती है। जीवित अवस्था में पति की आज्ञा मिलने पर ही एक संग प्रयाण पूर्वकाल में कोई २ पतिव्रता करती थीं अन्यथा नहीं। किन्तु ऐसा प्रयाण, अपने शरीर को अग्नि से जलाकर, प्रयाण नहीं है, वह तो आत्महत्या है। सह-प्रयाण यथार्थ में पति के विरहाग्नि से जलना है जो वाह्य में प्रगट हो सकता है अथवा न भी हो सकता है। सहप्रयाण यह भी है कि पतिव्रता पति के प्रयाण के बाद संसार के विषयों से विशेष उदासीन हो जाय जिन से वह पहिले भी प्रायः विरक्त ही थी, किन्तु पति के कारण वाहर से उन का व्यवहार करती थी। किन्तु

इस अवस्था में बाह्य से भी आभूषण आदि का त्याग करे, भोजन ब्रह्मचारी के समान केवल शरीर की रक्षा के लिये करे, और दिन रात अपने चित्त को पति के चरण कमल में रक्खे और किसी ऐसे सांसारिक कर्म अथवा भावना से सम्बन्ध न रक्खे जो उस के कर्तव्य के बाह्य हो। इसी को वैधव्य धर्म कहते हैं जो एक प्रकार से संसार से मरना है। वह शरीर रखके भी संसार से पयान कर जाती है और आत्मा की दृष्टि से अपने पति के साथ ही रहती है; कदापि पृथक् नहीं। विरह (विच्छेद) की ज्वाला के कारण प्रेम अधिक प्रगाढ़ हो जाता है और उस की सचाई और शुद्धता की परीक्षा की यह कसौटी है, अतएव परमावश्यक है। इस कारण पतिपरायण विधवायें धन्य हैं, क्योंकि वे प्रेम की आदर्श हैं और उन का दर्जा इस लिये बहुत ऊंचा है। वे अपने धर्म के पालन से संसार का बड़ा कल्याण करती हैं और वे यथार्थ में पूजनीया हैं। यदि वे अपने धर्म को त्याग कर किसी अन्य पुरुष से प्रेम करें तो उन्हें कौन रोक सकता है, किन्तु जो ऐसा न कर अपने जीवन से दिखलाती हैं कि विवाह के समय जो वे अपने पति के साथ आत्म-निवेदन कर एक हो गईं, वह एकता अटूट है और अक्षुण्ण है, कदापि भङ्ग हो नहीं सकती। प्रेम की एकता पक्की एकता है उस में द्वैत के लिये स्थान कहां? विधवाओं को अपने उच्च आदर्श और संसार के हित करने वाले उन के परम कठिन धर्म का खयाल कर अपनी दशासे दुःखित कदापि नहीं होनी चाहिये और समझना चाहिये कि वे बहुत बड़े और उच्च धर्म के पालन में प्रवृत्त हैं और एक प्रकार की तपस्या कर रही हैं जिस से बढ़ कर कोई धर्म अथवा तप नहीं है, अतएव उन का स्थान बहुत ऊंचा है। विरुद्ध इस के जो विधवा बाहर से विधवा रहती हुई भी अपने धर्म से च्युत हो जाती हैं, वे बहुत बड़ा पाप कर्म करती हैं जिस का अत्यन्त दुःखद परिणाम अनेक जन्मों तक लगातार चला जायगा।

सांसारिकभावों में पतिव्रता भाव अवश्य शुद्ध और निष्काम भाव है जिस के कारण यह आत्मसमर्पण की तुलना के लिये लिया गया है। विवाह सम्बन्ध से भी स्त्री पुरुष एक हो जाते हैं और इस भाव में भी उपासक और श्रीउपास्य एक हो जाते हैं। कहीं २ विवाह होने पर कन्या के नाम को बदल कर पति के नाम का धारण किया जाता है; वह इसी एकता का सूचक है। इस तुलना का यह कदापि तात्पर्य्य नहीं है कि उपासक शरीर अथवा उपाधि की दृष्टि से स्त्री है, अथवा अपने को ऐसा माने, अथवा बाह्यभाव में स्त्री का अनुकरण करे, कदापि नहीं। तात्पर्य्य यह है कि जैसे पतिव्रता अपने पति पर अपने को पूर्ण समर्पित करती है और शरीर, मन, वचन, बुद्धि से उन में और उन की सेवा में निष्काम भाव से अनुरक्त रहती है, जिस व्रत से अनेक कष्ट पाने पर भी विचलित नहीं होती है, उसी प्रकार और उस से भी अधिक उपासक को श्रीउपास्य के प्रति अनुरक्ति रखनी चाहिये।

लिखा है :—

सुचिरं प्रोषिते कान्ते यथा पति परायणा। २८
प्रियानुरागिणी दीना तस्य सत्वैककांक्षिणी॥
तद्गुणान्भावयेन्नित्यं गायत्यभिशृणोतिच। २९
श्रीकृष्णगुणलीलादेः स्मरणादि तथा चरेत्॥

पद्मपुराण, पाताल ख० अ० ५१

पति के अनेक काल तक विदेश में रहने पर पतिव्रता स्त्री जिस प्रकार एक मात्र उसी पति के ऊपर अनुरक्त रह कर एक मात्र पति ही के संग की वाञ्छा करती हुई दीन भाव से रह कर सर्वदा पति के गुणों की भावना, उन्हीं का गुणगान और गुण श्रवण करती रहती है, उसी प्रकार उपासक श्रीभगवान् में चित्त को संनिवेशित कर के उन्हीं के गुण और लीला का स्मरण, गान और श्रवण करते हुए काल को यापन करता है। और भी :—

मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः।
वशे कुर्वन्ति मांभक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा ॥६६

श्रीभागवत स्क० ६ अ० ४

श्रीभगवान् कहते हैं कि मेरे में अपने चित्त लगाने वाले और सब में समदृष्टि रखने वाले जो साधु पुरुष हैं वे जैसे पतिव्रता स्त्रियां श्रेष्ठ पति को वश में कर लेती हैं, वैसे भक्ति से मुझे वश में कर लेते हैं।

नवोढा भाव।

इस भाव को नवोढा बाला की अवस्था से भी तुलना की गई है जिस नवोढा रूपी भाविक को श्रीसद्गुरु उस के पति (श्रीउपास्य) से सम्बन्ध जोड़ देते हैं। हृदय के प्रेमसरोवर में स्नान करने से (अर्थात् हृदय में प्रेम स्रोत को जागरित कर उस में प्लावित होने पर भाविक का अहंता ममता मल रूप पुरुष भाव छूटने से) ही शुद्ध नवोढा भाव प्राप्त होता है जो जीवात्मा का शुद्ध चैतन्य स्वरूप है।

जिस प्रकार आर्य्य नवोढा बाला अपने भावी पति को बिना देखे ही केवल भावी सम्बन्ध के निश्चय होने पर ही उस के प्रति अपने को अर्पित करदेती है और उस को अपना हृदयेश्वर बना लेती है और तब से वह उस की पूजा प्रेम नैवेद्य द्वारा अपने हृदय मन्दिर ही में करने लगती है, और उस प्राण प्रिय पति को साक्षात् सेवा में प्रवृत्त होने के लिये ही उस के मिलने का प्रबल अनुराग, और मिलने पर आत्मसमर्पण करने का संकल्प, ही उस के जीवन का केवल व्रत और उद्देश्य होता है, ठीक यही अवस्था और भाव इस भाव के भाविक का जानना चाहिये। उक्त नवोढा में यह प्रेम स्वाभाविक होता है क्योंकि तबतक उस को पति द्वारा किसी प्रकार के विषय सुख के पाने का

उसे ज्ञान नहीं रहता है परन्तु सम्बन्ध के संवाद से ही उसमें अनुराग उत्पन्न होजाता है। शास्त्र में ऐसे सम्बन्ध का काल कन्या के ८ से १० वें वर्ष तक में रक्खा गया है। कई जातियों में अब भी यह प्रथा है कि सम्बन्ध का निश्चय बहुत छोटी उम्र में होता है किन्तु विवाह कई वर्षों के बाद होता है। श्रीकबीर आदि महात्माओं ने बड़ी सुन्दरता से भाविक की इस अवस्था को नवोढा की लगन, विवाह और गौना आदि रूपक में वर्णन किया है। दरिया साहिब (मारवाड़ वाले) का बचन है:—"जब मैं रही थी कन्या क्वारी। तब मेरे करम हता सिर भारी। जब मेरी पिउसे मनसा दौड़ी, सतगुरु आन सगाई जोड़ी।" ठीक है, केवल श्रीसद्गुरु ही इस सगाई (विवाह-एकीकरण) सम्बन्ध को जोड़ सकते हैं।

नवोढाबाला के लिये आवश्यक है कि वह प्रेम के रंग से अपने सब वस्त्रों (शरीर, मन, बुद्धि, अहंकार, अन्तरात्मा) को रंजित करे, क्योंकि ऐसे रंगीले भावक को ही यह अनुराग-सोहाग प्राप्त होता है, अन्य को नहीं। इस नवोढा-भाविक को अपनी सारी (स्थूल शरीर), चोली (सूक्ष्म शरीर) को ही प्रेम रंग से रंगने पर शान्त नहीं होना चाहिये किन्तु अपने यथार्थ रूप (कारण शरीर) पर भी पक्का श्याम रंग का गोदना (श्री उपास्य के चरण स्पर्श का छाप) गोदवाना चाहिये जो केवल श्री सद्गुरु और पराशक्ति की कृपा से सम्भव है। यह छापा एकबार लगने पर फिर कभी लुप्त हो नहीं सकता। श्री महात्मा कबीर ने इस अवस्था का वर्णन यों किया है:—

सतगुरु हैं रंगरेज, चुनरि मेरी रंगिडारी।
स्याही रंग छुड़ाइ केरे, दियो मजीठा रंग॥
धोये से छूटे नहीं रे, दिन २ होत सुरंग॥१॥
भाव के कुंड नेह के जल में, प्रेम रंग दई बोर।
चसकी चाल लगाई केरे, खूब रंगो झकझोर॥२॥

सतगुरु ने चुनरी रंगी रे, सतगुरु चतुर सुजान।
सब कछु उन पर वार दूं रे, तन मन धन औ प्रान॥ ३॥
कह कबीर रंगरेज गुरु रे, मुझ पर हुए दयाल।
सीतल चुनरी ओढ़ि के रे, भई हौं मगन निहाल॥ ४॥

आर्य्य नवोढ़ा बाला का प्रेम भावी पति के लिये स्वाभाविक होने के कारण वह किंचित् अंश में इस भाव की तुलना करने योग्य है। नवोढा के निष्काम प्रेम को परकीया-प्रेम भी कह सकते हैं। यथार्थ प्रेम वही है जो हृदय का स्वाभाविक भाव है और जिस में स्वार्थ का लेश मात्र न रह कर त्याग पूर्ण रूप से रहता है और प्रेम पात्र के सम्बन्ध से आनन्द पाने की भी आशा का अभाव रहता है। उस प्रेम पात्र के लिये अपने को स्वाहा (त्याग-यज्ञ) करना ही केवल एक मात्र इस का व्रत है जिस में बाधा पड़ने से ही वह विरह-ज्वाला से दग्ध होता है और त्याग-सेवा के करने से ही उस को शान्ति होती है।

कहाजाता है कि श्री वृन्दावन में श्री मीराबाई के जाने पर वहां के भक्तप्रवर श्री रूपसनातन गोस्वामी ने उन से भेंट करने से अस्वीकार किया, क्योंकि उन का नियम था कि किसी स्त्री के मुख को नहीं देखना। श्री मीराबाई को यह बात मालूम होने पर श्रीमती ने गोस्वामी जी के निकट कहला भेजा कि श्री वृन्दावन में केवल एक मात्र पुरुष श्री वृन्दावन विहारी हैं, और सिवाय उन के दूसरा कोई पुरुष है ही नहीं, यदि गोस्वामी जी अपने को पुरुष मानते हैं तो श्री वृन्दावन से शीघ्र बाहर चले जायं, क्योंकि अन्य पुरुष का यहां रहने का अधिकार नहीं हैं, यहां तो केवल श्री भगवान् की शक्तियां रहती हैं। ऐसा सुन कर वे लज्जित हो गये और श्री मीराबाई से सादर मिले।

जबतक मनुष्य को अपने शरीर में (जो केवल बाह्य आवरण की भांति है) ही आत्मभाव बना रहता है जिसके कारण वह मन

और बुद्धि से प्रेरित होकर केवल इन्द्रियों के विषयों के भोग को ही अपने जीवन का लक्ष्य समझता और शरीर सम्बन्धी ममता के पात्र के स्वार्थ साधन में प्रवृत्त रहता, तबतक वह पशु की भांति माया के पाश में बंधा हुआ रहता और अपने शुद्ध स्वरूप से गिरा हुआ रहता है। इस अवस्था की 'इन्द्रियपरायणता को पशुभाव और अहंकार और अभिमान के भाव को पुरुष भाव कहते हैं जो उसको ईश्वरोन्मुख होने नहीं देता और रागद्वेप के बंधन में आबद्ध रखता है। पशुभाव (इन्द्रियों की लोलुपता) और पुरुष भाव (अहंकार) से तभी छुटकारा होगा जब कि भाविक अहंकार को त्याग कर अपने को आत्मा (श्री उपास्य की शुद्ध चिच्छक्ति) मानेगा और फिर उस शुद्ध आत्मशक्ति को श्रीउपास्य को जिनकी वह वस्तु है अर्पण करेगा। इसी आध्यात्मिक भाव को नवोढा अथवा कान्ता भाव कहते हैं। बिना इस भाव की प्राप्ति के इन्द्रिय अथवा अहंकार का यथार्थ दमन सम्भव नहीं है। श्रीमद्‌भगवद् गीता का वचन है:—

एवं बुद्धेः परं बुद्‌ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्। ४३

अ० ३

हे महाबाहो अर्जुन! इस भांति बुद्धि से भी परे और श्रेष्ठ आत्मा (चिच्छक्ति) को जान चिदात्म (कान्ता) भाव को ग्रहण कर अहंकार (पुरुष) भाव का निग्रह कर महा अजेय काम रूप शत्रु को दमन करो।

चातक भाव।

भगवत्प्रेम में अनन्यता मुख्य है, अर्थात् पतिव्रता की भांति एकबार इस नेह की लगन लगने पर फिर यह न कदापि उतरती और न श्रीउपास्य को छोड़ कर दूसरे पर लगती है। पतिव्रता की

भांति उपासक की दृष्टि में दूसरा पुरुष तो कोई विश्व में रहता ही नहीं और उस के प्रेम के पात्र, उस का आश्रय, उस का परम सम्बन्ध और उस की गति केवल एक श्रीउपास्य ही होते हैं अन्य नही। भाविक प्राण त्यागना सर्वस्व खोना उत्तम समझेगा, किन्तु अपने प्रेम और सम्बन्ध को श्रीउपास्य के सिवाय अन्य में आरोपण नहीं कर सकता है। ठीक ऐसा ही चातक का प्रेम स्वाती की बूंद के साथ रहता है। श्रीगोस्वामी तुलसीदास जी ने बड़ी उत्तमता से इस चातक के प्रेम का वर्णन श्रीभगवत्प्रेम की तुलना में अपनी सतसई में किया है, जिससे पद नीचे उद्धृत किये जाते हैं :—

दोहा।

डोलत विपुल विहंग बन, पियत पोखरी-बारि।
सुजस-धवल चातक नवल, तोर भुवन दसचारि॥
मुख मीठे मानस मलिन, कोकिल, मोर चकोर।
सुजस ललित चातक वलित, रह्यो भुवन भरि तोर॥
मांगत डोलत है नही, तजिघर अनत न जात।
तुलसी चातक भक्त को, उपमा देत लजात॥
तुलसी तीनों लोक महं, चातक ही को माथ।
सुनियत जासु न दीनता, किये दूसरे नाथ॥
प्रीति पपीहा पयद की, प्रगट नई पहिचानि।
जाचक जगत अधीन इन, कियो कनैाड़ो दानि॥
ऊंची जाति पपीहरा, नीचो पियत न नीर।
कै जांचै घनश्याम सों, कै दुख सहै सरीर॥
कै बरखै घन समय सिर, कै भरि जनम निरास।
तुलसी चातक जाचकहि, तऊ तिहारी आस॥
चढ़त न चातकचित कबहुं, पय पयोद के दोख।
याते प्रेम पयोधिबर, तुलसी योग न रोख॥
तुलसी चातक मांगनो, एक एक घन दानि।

देत सो भू-भाजन भरत, लेन घूंट भरि पानि ॥
को न जिआवे जगत महं, जीवन दायक पानि।
भयो कनोड़ो चातकहि, पयद-प्रेम पहिचानि ॥
तुलसी चातक ही फबै, मान राखिबो प्रेम।
बक बुन्द लखि स्वाति हो, निदरि निबाहत नेम ॥
रटत रटत रसना लटी, तृखा सूखिगे अंग।
तुलसी चातक के हिये, नित नूतनहि तरंग ॥
गंगा जमुना सुरसनी, सात सिन्धु भरिपूरि।
तुलसी चातक के मते, बिन स्वाती सब धूरि ॥

तुलसी चातक के मते, स्वाती पियत न पानि।
प्रेम त्रिखा बढ़ती भली, घटे घटैगी कानि ॥
सर सरिता चातक तजै, स्वाती सुधि नहिं लेई।
तुलसी सेवक-बस कहा, जो साहब नहिं देइ ॥
आस पपीहा पयद की, सुनु हो तुलसीदास।
जो अचवे जल स्वाति को, परिहरि बारह मास ॥
चातक घन तजि दूसरे, जिअत न नाई नारि।
मरत न मांगे अर्धजल, सुरसरिहू को बारि ॥
व्याधा बध्यो पपीहरा, पर्‌यो गंग जल जाय।
चोंच मूंदि पीवै नहीं, धिक पीनो प्रन जाय ॥
बधिक बधो परि पुन्य जल, उपर उठाई चोंच।
तुलसी चातक प्रेम पर, मरत न लाई खोंच ॥
चातक सुतहि सिखाव नित, आन नीर जनि लेहु।
यह हमरे कुलको धरम, एक स्वाति सों नेहु ॥
दरस न परस न आन जल, बिन स्वाती सुनु तात।
सुनत चेंचुवा चित चुभो, जनक नीति वर बात ॥
तुलसी सुतसों कहत यह, चातक बारहिं बार।
तात न तरपन कीजियो, बिना बारि-धर-बारि ॥

बाज चंचुगत चातकहि, भई प्रेम की पीर।
तुलसी परबस हाड़ मम, परिहै पहुमी नीर॥
अंड फोरि किय चेंचुवा, तुख पर—नीर निहारि।
गहि चंगुल, चातक चतुर, डारेउ बाहर बारि॥
होय न चातक पातकी, जीवनदानि न मूढ़।
तुलसी गति पहलाद की, समुझि प्रेम पद गूढ़॥
तुलसी के मत चातकहि, केवल प्रेम पियास।
पियत स्वाति-जल, जान जग, जांचत बारह मास॥
एक भरोसे। एक बल, एक आस विसवास।
स्वाति सलिल रघुनाथ वर, चातक तुलसी दास॥
आलवाल मुक्ता हलनि, हिय सनेह तरु मूल।
हेरु हेरु चित चातकहि, स्वाति सलिल अनुकूल॥

भाविक अपने प्रेम के कारण अथवा अन्य कारण से अनेक कष्ट पाने पर भी, अथवा स्वयं श्री उपास्य द्वारा कष्ट भेजे जाने पर भी, अपने प्रेम को श्री उपास्य से नहीं हटाता और न श्री उपास्य को दोष देता। इस नेम के विषय में भी चातक की तुलना श्री गोस्वामी जी ने दी है :—

उपल बरखि गरजत तरजि, डारत कुलिस कठोर।
चितव कि चातक जलद तजि, कबहुं आन की ओर॥
बरखि परुख पाहन जलद, पच्छ करै टुक टूक।
तुलसी तदपि न चाहिये, चतुर चातकहि चूक॥

ऊपर कहे श्रीगोस्वामी जी के चातकभाव के दोहे में प्रेम का परम तत्त्व प्रकाशित है, जो भाविक को अवश्य मनन और हृदयङ्गम करना चाहिये। चातकभाव को जैसा ऊपर के दोहे में श्री गोस्वामी जी ने वर्णन किया है वह इस भाव की प्रगाढ़ता और अनन्यता की सुन्दर और ठीक उपमा है। श्री गोस्वामी जी के दोहे का चातक अवश्य सच्चा प्रेमी है जो मरने के समय में भी अपने अनन्य प्रेम के निर्वाह के लिये गंगाजल को भी त्यागता है।

कहा जाता है कि किसी वर्ष में यदि अनावृष्टि के कारण स्वाती नक्षत्र नहीं बरसे तो प्रेमी चातक अगले वर्ष तक अथवा जब तक स्वाती नक्षत्र नहीं बरसे तब तक पियासा ही रह जाता है किन्तु स्वाती के जल के सिवाय अन्य जल को कदापि नहीं पीता। पद्म पुराण के पातालखंड अध्याय ५१ में भी अनन्यता के लिये इस चातक भाव की उपमा दी गई है। लिखा है :—

आश्रित्य चातकीं वृत्तिं देहपातावधि द्विज ॥३७॥
सरः समुद्र नद्यादीन् विहाय चातको यथा।
तृषितो म्रियते चापि याचते वा पयोधरम् ॥३८॥
एवमेव प्रयत्नेन साधनानि विचिन्तयेत्।

साधक शरीर के पतन होने पर्य्यन्त चातकीभाव का धारण करे। चातक जिस प्रकार सरोवर, समुद्र और नदी आदि के जल को अनायास पाकर भी त्याग करता है और प्यास से मरना स्वीकार करता है किन्तु मेघ के सिवाय अन्य जल की कामना नहीं करता है उसी प्रकार भाविक यत्नपूर्वक अपने साधन में दृढ़ रहे और कदापि विचलित न हो। हो सकता है कि प्रेम का आदर्श दिखलाने के लिये ही यह चातक बनाया गया।

जिस प्रेमी-भाविक रूप चातक ने अपने मुख (हृदय) में श्रीसद्गुरु और श्रीउपास्य के चरण रूपी मेघ से प्रेमरस रूप स्वाती-जल को एक बार भी पान किया है, वह उस को छोड़ कर कदापि साक्षात् अमृतरस में भी आसक्त नहीं हो सकता। इस में कोई विचित्रता नहीं है, क्योंकि यह प्रेम-रस वास्तव में ऐसा मधुर और करुणापूर्ण है कि भाविक इस के आस्वाद और प्रभाव का अनुभव कर के अपने को श्रीचरण में बिना समर्पित किये रह नहीं सकता है। भाविक आत्मसमर्पण करने पर एक केन्द्र (ख़ज़ाना) बन जाता है जहां से श्रीसद्गुरु और श्रीउपास्य के चरणसरोज का प्रेमरस (तेजपुंज) संसार में संसार के हित के लिये प्रवाहित

होता है। यह प्रेमरस (तेजपुंज) काल्पनिक अथवा भावना-मात्र नहीं है, किन्तु योग्य भाविक को वर्तमान काल में भी यह प्राप्त होता है। प्रथमखंड का पृष्ठ ३४१ देखो।

कतिपय अन्य भाव।

कामी को अपनी प्रेमिका के प्रति आसक्ति, लोभी का धन की प्राप्ति की लालसा, माता का पुत्र प्रति प्रेम और त्याग, मित्र का मित्र प्रति सत्यस्नेह, पतिव्रता का पति के प्रति पातिव्रत नेम आदिभाव यद्यपि इस अलौकिक भाव के यथार्थ द्योतक नहीं हैं, क्योंकि यह प्रेम परमात्मा के प्रति होने के कारण अविच्छिन्न है— तथापि लोगों को समझा ने के लिये इन निष्काम सांसारिक भावों की तुलना दी गई है। कहा है :—

कामिहिं नारि पियारि जिमि, लोभिहिं प्रिय जिमि दाम।
तिमि मम हृदय निरंतर, प्रिय लागहु मोहि राम॥

(श्री गोस्वामी तुलसीदास जी)

युवतीनां यथा यूनि यूनांच युवतौ यथा।
मनोऽभिरमते तद्वन्मनोऽभिरमतां त्वयि॥

(पद्मपुराण)

भाविक की उक्ति है कि हे श्रीउपास्य! युवती लोगों का जैसे किसी प्रिय युवक में और युवक का किसी प्रिया युवती में मन आसक्त रहता है उसी प्रकार मेरा चित्त आप में अनुरक्त रहे।

और भी :—श्रीप्रह्लाद का वचन है :—

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥

अज्ञानी इस संसार के क्षणिक पदार्थों में जैसी स्थायी प्रीति रखता है वैसी प्रीति तेरे ध्यान करने वाले मुझ को होवे।

स्त्री पुरुष के स्नेह में भी एक ऐसी अवस्था आती है जब कि पुरुष अथवा स्त्री एक दूसरे के साथ विषय सुख के लिये स्नेह नहीं करता किन्तु स्वाभाविक भाव से करता अर्थात् स्नेह का कारण कोई वाह्य विषय अथवा शरीर न होकर अन्तरात्मा होजाता और इसका मुख्य लक्षण निष्काम त्याग है। यह भाव किंचित अंश में इस भावकी तुलना है। फ़ारसी के लेखक ने इस को ईश्क हकिकी कहा है।

इसी प्रकार लोभियों में भी ऐसी अवस्था आजाती है जब कि उन की चाह धन के निमित्त किसी प्रयोजन के लिये न हो कर स्वाभाविक होजाता, अर्थात् वे कोई प्रयोजन के लिये अधिक धन नहीं चाहते (प्रयोजन से भी अधिक उनके पास धन रहता है) किन्तु विना धनोपार्जन किये वे चैन से रह नहीं सकते। यह दीर्घ संगतिका फल होता है।

सच्चे मित्रों में ऐसा भाव आजाता है कि दोनों में सुख दुःख, हानि लाभ समान होजाते और त्याग की मात्रा इतनी बढ़ जाती है कि दोनों में भेद मिट जाता, दो शरीर रहते भी वे एक आत्मा होजाते, मित्रता की ऐसी अवस्था ही इस भाव की तुलना किंचित अंश में हो सकती है।

श्रीउपास्य के प्रति दिव्य प्रेम और सांसारिक स्पृहा में भेद यह है कि सांसारिक स्पृहा समय के प्रभाव से बढ़ती घटती है, एक विषय को छोड़ कर दूसरे पर आसक्त होती है, कभी २ उस के कारण क्लेश भी होता है, अनेक ऐसी हैं कि जिनका परिणाम दुःखद है, एक से अनेक उत्पन्न होती हैं, और एक निश्चित परिणाम उस ने यह रहता है कि उस से कदापि शान्ति न मिल कर मुख्य कर अशान्ति ही बढ़ती जाती है। विरुद्ध इस के श्रीउपास्य का दिव्य प्रेम समय के बीतने पर बढ़ता है, घटता नहीं, इसका जितना व्यय और व्यवहार किया

जाय उतना ही इस का परिमाण और मधुरता बढ़ती है, इस में आग रहते भी शान्तिप्रद बोध होता और इसमें सतत नया भाव, नया उमंग, नवीनप्रेम, नवीन उत्साह, और नूतन छटा आती रहती है। प्रेम की विरहज्वाला भी आंतरिक दृष्टि से मधुर और श्रेयस्कर ही होती है।

सेवाभाव

इस अवस्था का भाविक अपने जीवन, कार्य्यकलाप आदि द्वारा श्री उपास्य की सेवा करने के सिवाय दुर्लभ भक्ति रूपी अमृत का विशेष वितरण और वर्षा करना सेवा का मुख्य अंग समझता है। वह समझता है कि संसार में जितने प्रकार के दुःख, क्लेश और वेदना हैं वे सब अज्ञान और अधर्म के कारण हैं जिनके दूर होने से ही लोगों के दोनों ऐहिक और पारमार्थिक लाभ होंगे और केवल लौकिक उपकार से दुःख की कदापि न्यूनता नहीं हो सकती है, अतएव वह धर्म ज्ञान और भक्ति का प्रचार कर श्री उपास्य की सेवा करता है। श्री मद्भगवद्गीता के १८ वे अ० में अन्तिम वाक्य जो श्री भगवान् के हैं वे इसी विषय के हैं:—

य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयिपरां कृत्वा, मामेवैष्यत्यसंशयः ॥ ६८ ॥
नचतस्मान्मनुष्येषु, कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता नच मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥ ६९ ॥

जो इस परम रहस्य गीता-ज्ञान को मेरे भक्तों को उपदेश करेगा, वह मेरी पराभक्ति लाभ कर के निःसन्देह मुझको प्राप्त करेगा। मनुष्यों में गीता-उपदेश कर्ता से दूसरा कोई मेरा प्रियकार्य्य करने वाला नहीं है और उस के सिवाय कोई दूसरा पृथिवी में मेरा प्रियतर (अतिप्रिय) नहीं होगा। ६९

प्रथम ६६ वां श्लोक का भाव है कि गीता ज्ञान (जिस में कर्म-योग, अभ्यास योग, ज्ञान योग और भक्ति योग प्रतिपादित हैं) का योग्य साधकों में प्रचार और उपदेश करना ही पराभक्ति है अथवा यह पराभक्ति की प्राप्ति का कारण है। यह अर्थ तो स्पष्ट है किन्तु श्रीभगवान् के इस उपदेश पर लोगों का ध्यान बहुत कम है अर्थात् थोड़े ही लोग यह मानते हैं कि श्री भगवान् की प्रसन्नता की प्राप्ति का मुख्य (अथवा केवल) उपाय ज्ञान और भक्ति का उपदेश करना है। इस लिये इस श्लोक पर जो भाष्य और टीका है वह नीचे दी जाती है। श्रीस्वामी शंकराचार्य्य लिखते हैं:—

भक्तिं मयि परांकृत्वा भगवतः परमगुरोः अच्युतस्य शुश्रूषा मया क्रियत इत्येवं कृत्वेत्यर्थः, तस्येदंफलं मामेवैष्यति मुच्यते एवात्र संशयो न कर्तव्यः ॥"

अर्थात् उपदेश द्वारा परम गुरु श्री भगवान् की सेवा मैं (साधक) करता हूं यही परा भक्ति करने का तात्पर्य है जिस से श्री भगवान् की प्राप्ति होती है, इस में संदेह नहीं करना चाहिये। श्रीस्वामी रामानुजाचार्य्य लिखते हैं:—

" व्याख्यास्यति मयि परमां भक्तिं कृत्वा मामेवैष्यति-नतत्रसंशयः।

उपदेश कर के मेरी पराभक्ति करने से मुझको पावेगा, इस में सन्देह नहीं। श्री श्रीधर स्वामी लिखते हैं:—

यो वक्ष्यति समयिपरां भक्तिं करोति, मामेवप्राप्नोतीत्यर्थः

जो उपदेश करेगा वह मेरी पराभक्ति करता है और मुझ को पावेगा। श्री बलदेव लिखते हैं:—

एतदुपदेष्टुरादौ मत्पराभक्तिलाभस्तो मत्पदलाभोभवति

उपदेश करने से मेरी पराभक्ति का लाभ होगा और मेरी प्राप्ति होगी। श्री मधुसुदन गोस्वामी लिखते हैं :—

भक्तिमपि परांकृत्वा भगवतः परमगुरोः शुश्रूषैवेयं मयाक्रियत इत्येवं कृत्वा निश्चित्य योऽभिधास्यति स मामेवैष्यति—अत्र संशयो न कर्तव्यः।

उपदेश द्वारा मैं श्रीभगवान् परम गुरु की सेवा करता हूं ऐसा निश्चय कर के जो उपदेश करेगा वह पराभक्ति करता है और वह मुझ को प्राप्त करेगा, इस में संशय नहीं करना चाहिये। ७० वें श्लोक का स्पष्टभाव है कि गीता ज्ञान के उपदेश कर्ता से अधिक श्रीभगवान् का कोई प्रियतम नहीं है और न होगा, अर्थात् भविष्यत में भी कोई ऐसी सेवा का प्रादुर्भाव हो नही सकता है जो उस से अधिक प्रिय श्रीभगवान् का हो। इस से स्पष्ट है कि श्रीमुख वचनानुसार सदुपदेश करना ही सब से प्रिय सेवा श्रीभगवान् का है और अन्य सब सेवा इस से निकृष्ट हैं और रहेंगे। ऊपर कहे श्रीमुख वाक्य से पूर्ण स्पष्ट है कि धर्म, ज्ञान, भक्ति का उपदेश करना साधक के लिये परमावश्यक है, जिस के विना वे भक्तिमार्ग में कदापि अग्रसर नहीं हो सकते और इसी से श्रीभगवान् की यथार्थ तुष्टि होती है, क्योंकि इस सृष्टि में श्रीभगवान् का यही मुख्य कार्य्य है जिस के लिये अवतार लेने तक का कष्ट उन को लेना पड़ता है। इस के विना अन्य सेवा-पूजा यथेष्ट नहीं है :—

प० पु० पा० खं० अ० ५५ में लिखा है :—

व्रतसत्रतपोदानैर्यत्फलं समवाप्यते
धर्मोपदेशदानेन तत्सर्वमुपलभ्यते ॥७॥
तीर्थस्नानं तपो यज्ञ कर्म यत्कुरुते शुभम्।
अपि तत्फलभागी स्याद् यः प्रवर्तयिता भवेत्।

व्रत, यज्ञ, तपस्या और दान से जो फल होते हैं वे सब केवल एक धर्मोपदेश करने से मिल जाते हैं। तीर्थ, स्नान, तपस्या और यज्ञ करने में जो फल मिलता है वह इन में जो उपदेश द्वारा लोगों को प्रवृत्त करता है उस को भी मिलता है।

आज कल सदुपदेश प्रदान रूपी श्रीभगवान् की परमोच्च और परम प्रिय सेवा पर लोगों का एक दम ध्यान नहीं है, अधिकांश उत्तम साधक भी यह नहीं जानते कि श्रीभगवान् को ज्ञान-भक्ति का प्रचार रूपी सेवा अत्यन्त प्रिय है और यही पराभक्ति है और इसका करने वाला ही उनका परम प्रिय है, जैसा कि श्रीगीता में श्रीमुखवाक्य है।

श्रीउपास्य के परम पवित्र और दुर्लभ सम्बन्ध के कारण भाविक का हृदय करुणा और दया का पुञ्ज होजाता है जैसा कि श्रीउपास्य स्वयं हैं और वह भी निरन्तर संसार के दुःख को दूर करने और शान्ति प्रदान करने के लिये सेवा-कार्य्य में व्यग्र रहता है, जैसा कि श्रीउपास्य को जानता है। उस का केवल व्रत यही रहता कि श्रीउपास्य की कृपा से जो कुछ प्रसाद और शक्ति-सामर्थ्य उस को प्राप्त हो उस को उनके प्रिय विश्व रूप (संसार) के हित में व्ययकर के श्रीउपास्य की सेवा करना और श्रीउपास्य का चरण जो सब प्राणियों का एक मात्र आश्रय है उसकी ओर लोगों को आकर्षित करने का यत्न करना।

यह प्रेम-यज्ञ जिस की पूर्णाहुति आत्म समर्पण है, उस की दक्षिणा ज्ञानोपदेश है। श्रीमद्भागवत पुराण का वचन है :—

धर्मं मिष्टं धनंनृणां यज्ञोऽहंभगवत्तमः।
दक्षिणा ज्ञानसंदेशः प्राणायामः परंबलम्॥ ३९

स्क० ११ अ० १९

यएतन्मम भक्तेषु संप्रदद्यात्सुपुष्कलम्।
तस्याहं ब्रह्मदायस्य ददाम्यात्मानमात्मना॥ २६

ऐ० अ० २९

श्रीभगवान् कहते हैं कि धर्म ही मनुष्य का यथार्थ धन है, द्रव्यादि यथार्थ नहीं हैं, पूर्ण ज्ञानादि रूप मैं (श्रीभगवान्) ही यज्ञ हूं अर्थात् मेरी बुद्धि से ही यज्ञ करे अर्थात् मेरे प्रेम यज्ञ में

योग दे, कर्म बुद्धि से न करे, यज्ञ के निमित्त अर्थात् यज्ञ रूपी मेरे निमित्त ज्ञानोपदेश करनाही यज्ञ दक्षिणा है, प्राणायाम ही परम बल है। जो पुरुष भक्तमण्डली में श्रीभागवत-धर्म का पूर्ण रूप से प्रचार करेगा उस ब्रह्म के उपदेशक को मैं अपनी आत्मशक्ति (पराशक्ति) द्वारा अपनी आत्मा में स्थान दूंगा अर्थात् वह आत्म-समर्पण करने में कृत कार्य्य होगा।

परोपकार करना तो साधक के लिये सब अवस्था में आवश्यक है किन्तु आत्मनिवेदन ऐसी अवस्था है जब कि उस के उपकार का रूप विशेष कर ज्ञान भक्ति का प्रचार होता है जिस कार्य्य के करने की विशेष सामर्थ्य श्रीउपास्य द्वारा उस के। मिलती है श्रौर वह इस शक्ति को जितना ही कार्य्य में परिणत करता उतना ही अधिक यह शक्ति बढ़ती जाती है। ऐसा भाविक अपने जीवन के प्रभाव से श्रौर भी श्रीउपास्य को जो वह अपने हृदय क्षेत्र में प्रेम नैवेद्य से सेवा-पूजा करता है उस के द्वारा बहुत बड़ा उपकार संसार का करता है श्रौर उस का प्रभाव अदृश्य रूप से योग्य जिज्ञासुत्रों के अन्तर में पड़ कर उनको श्रीचरणोन्मुख करता है। समर्पण का कार्य्य जो पीछली भाव साधना के समय प्रारम्भ हुआ उस में सिवाय आत्मनिवेदन के शरीर, मन, बुद्धि, अहंकार का जो समर्पण हैं उस की पूर्णता अब हो जाना चाहिये। भाविक अपने शरीर को श्रीभगवान की वस्तु समझ सिवाय उन के कार्य्य के सम्पादन के दूसरे कार्य्य में नहीं नियुक्त करता श्रौर इसी प्रकार अपने मन, बुद्धि, अहंकार को भी उन्हीं के प्रिय कैंकर्य्य में प्रयुक्त करता किन्तु कर्म करने का अहंताभिमान उस में कदापि नहीं आता। वह समझता कि श्रीउपास्य अपनी शक्ति द्वारा उससे अपना कार्य्य करा रहे हैं। यथार्थ में प्राणी मात्र जो कुछ करता है वह श्रीभगवान् की शक्ति से करता है, अपनी शक्ति से नहीं, उस को तो निज की कोई शक्ति है ही नहीं किन्तु वह व्यर्थ अहंकार करता है कि मैं ने किया श्रौर इस कारण कर्म से बद्ध हो जाता है। जो कोई श्रीभगवान् की शक्ति को उन के कार्य्य में

अर्थात् कर्तव्य धर्मपालन और परोपकार में व्यय करना है वह उन की पूंजी का सद्व्यय करता है किन्तु जो उसे अधर्माचरण में अथवा विषय भोग में लगाता वह दुरूपयोग करता है जिस के लिये उत्तर-दायी है। ऐसा भाविक अपने दैनिक और व्यवहार सम्बन्धी कार्य्य को भी श्रीभगवान् का कार्य्य समझ कर करता है और उसके सफल विफल से उस को कोई गर्ज नहीं रहता, देखो प्रथम खंड पृष्ठ २८२ और २८३। मन को श्रीभगवान् में अर्पित होने के कारण उसको उन की वस्तु समझ कदापि कुत्सित भावना और विषय वासना से उसे कलुषित नही करता, सदा उसे पवित्र और स्वच्छ रखता, मन को सर्वदा श्रीउपास्य के चरण कमल में लीन करता और उन्हीं के कार्य्य सम्बन्धी भावना में प्रवृत रहता, अन्य में नही।

अनन्य भाव।

आत्मनिवेदन की प्रथमावस्था में अनन्यभाव अन्तिम है जिस की परिपक्वता होने पर अर्थात् उस के कठोर नियम के निवाहे जाने पर और उस की कठिन परीक्षा से उत्तीर्ण होने पर भाविक को साक्षात् सेवा में नियुक्त होने का सौभाग्य प्राप्त होती है। अनन्यभाव क्या है और कैसे धीरे २ इस की प्राप्ति होती है इस को जनाने के लिये आवश्यक है कि पूर्व की अवस्था और भाव का किंचित् दिग्दर्शन संक्षेप में यहां किया जाय, यद्यपि प्रथम खंड में और इस खंड में भी इसका उल्लेख हो चुका है। स्थावर, उद्भिज्ज और पशु जगत में श्रीभगवान् स्वय अपनी प्रकृति द्वारा उन की उर्द्ध्व्-गति के लिये करुणाभाव से चेष्टा करते हैं, अतएव उन को जैसा स्वभाव दिया गया वही अनवरत बना रहता है, उसीके अनुसार वे चलते हैं और साधारण भाव में उस में परिवर्तन नहीं होता है। आजकल विज्ञान से भी सिद्ध हुआ है कि स्थावर उद्भिज्ज आदि को भी सुख दुःख मनुष्य के समान होते हैं। अतएव देखा जाता है कि वनस्पति को शीत उष्ण आदि से बचाने के लिये पत्र त्वचा आदि

उन को दिएगए, पुष्टि के लिये सूर्य्य, वायु और जल नियत हुए जो उन को अनायाश प्राप्त है। पशु को भी गर्मी शर्दी से बचाने के लिये आवश्यकतानुसार रोम का निर्माण किया गया और उनके भोजन घाशपात नियत किएगए जो उन को अनायाश मिलते हैं। अबोध बच्चों के लिये उनकी माता के स्तन में दुग्ध का प्रबन्ध किया गया। यदि मनुष्य अपने स्वार्थ अथवा कुप्रवृत्ति के कारण इन पशु के साथ व्यर्थ छेड़छाड़ न करे और वे अपने स्वभाव के अनुसार रहने पावें, तो इन को कोई विशेष क्लेश के होने की सम्भावना नहीं रहती। इस सृष्टि के प्रबन्ध से श्रीभगवान् की करुणा और प्रेम-यज्ञ का स्पष्ट पता लगता है। पशु में छोटा, बड़ा का खाद्य होने पर भी, छोटे के बचाव का पूरा प्रबन्ध है और अहकार की उत्पत्ति के लिये ही यह भाव वहां दिया गया। मनुष्य शरीर में जब अहकार का भाव आता है तब से वह अनेक अंश में स्वतंत्र हो जाता है, क्योंकि यदि स्वतंत्र न कर दिया जाय तो उस को उन्नति नही हो सकती है। परतन्त्र होके जो कुछ किया जाता है उस की श्लाघा कदापि कर्ता को नहीं है किन्तु प्रेरक को है। श्रीभगवान् चाहते हैं कि मनुष्य अपने पुरुषार्थ से प्रकृति के प्रधान विकार (स्वार्थ) पर विजय पाकर प्रेमानन्द राज्य जिस को प्रकृति ने प्रलोभन देकर उस से हर लिया है उस को प्राप्त कर श्रीचरण में अर्पण करे। इस के लिये यज्ञ द्वारा शक्ति प्राप्त कर युद्ध तो साधक ही को करना पड़ता है किन्तु श्रीभगवान् यज्ञ और युद्ध दोनों में सहायता करते हैं। देखो प्र० ख० पृ० १०३२।

मनुष्य के इस प्रेमानन्द के अन्वेषण की गति अथवा प्रेम-यज्ञ और इन्द्रियों को बलि का किञ्चित् वर्णन प्रथम खंड के पृष्ठ ५६, ६७, १२४, १२५, ११६ से ११८ तक में है। प्रथम जीवात्मा इन्द्रिय द्वारा तमोगुणी विषय के सुख में आनन्द का अन्वेषण करता है,

फिर उस से निवृत्त हो कर रजोगुणी में और उस के बाद सत्वगुणी में, क्योंकि इन सबों में प्रेमानन्द का प्रतिबिम्ब विद्यमान रहता है। शुद्ध सत्वगुणी आनन्द के कारण भाविक में त्याग का भाव अवश्य उत्पन्न होता है और वह त्याग करता भी है किन्तु इस से भी उसे शान्ति नहीं मिलती है, क्योंकि शुद्ध सात्विक पदार्थ भी प्राकृतिक होने के कारण स्वयं आनन्द रूप नहीं हैं किन्तु उस के प्रतिबिम्ब ही के द्योतक हैं। अनेक अन्वेषण और उस के निमित्त कष्ट उठाने के बाद श्रीउपास्य की कृपा से जीवात्मा को अनुभव होता है कि प्रेमानन्द केवल श्रीउपास्य का भाव है और जीवात्मा उन का प्रिय अंश होने के कारण उसकी अन्तरात्मा में भी उस को कणा है और पिण्डाण्ड (शरीर) में इस प्रेमानन्द का केन्द्र हृदय है और बाह्य में जहां कहीं सत्वगुणी पात्र द्वारा उस को आनन्द का किञ्चित् अनुभव मालूम पड़ता है वह पदार्थ के संयोग के कारण उस के अपने हृदय के आनन्दस्रोत को केवल एक कणा के स्पन्दन होने के कारण है। जैसे मथनी से दूध को मथने से मक्खन निकलता है, उसी प्रकार विशुद्ध गुणवाला पात्र अथवा विशुद्ध गुण ही रूपी मथनी से हृदयरूप दूध को मथने से अर्थात् चिन्तन करने से मक्खन रूपी प्रेमानन्द का किञ्चित् अनुभव होता है जिस में मथनी केवल निमित्त कारण है, क्योंकि मक्खन (प्रेमानन्द) दूध (हृदय) में गुप्तरूप में विद्यमान है। किसी प्रिय पदार्थ अथवा दृश्य को बाह्य दृष्टि से देखने में जो आनन्द मिलता है उस से अधिक आनन्द हृदय में चिंतन करने से मिलता है। इसी कारण एकान्तवास किया जाता है जिस में हृदय में रमण करने में बाह्य से बाधा नहीं मिले। इस समय में भी एक भक्त ऐसे हैं जो वृद्ध होने पर भी श्रीवृन्दावन इस कारण कभी नहीं गये कि उन के हृदयस्थ वृन्दावन का आनन्द कहीं बाह्य वृन्दावन के देखने से कम न हो जाय। थोड़ा विचारने से स्पष्ट प्रतीत होगा कि हृदय ही आनन्द का केन्द्र है और इस को

छोड़ कर बाह्य में कहीं भी आनन्द नहीं है। देखो प्रथम खण्ड का हृदयतत्त्व प्रकरण पृष्ठ ३४३।

ऐसा ज्ञान पाकर वह हृदय को शुद्ध कर ध्यान, स्मरण द्वारा आनन्द के यथार्थ स्थान हृदय में ही आनन्द का अन्वेषण करता है। इस साधना में परिपक्वता होने पर जीवात्मा की स्थिति जो जाग्रत् अवस्था मे नेत्र में रहती है वह नेत्र से हटकर हृदय क्षेत्र में चली जाती है और तब से वह हृदय से देखना, सुनता, भावना करता और बात तक करता है। ब्रह्मोपनिषत् में इस का प्रमाण है। हृदय परम रहस्यमय है जहां अविद्यांधकार का नाश, प्राज्ञ की जागृति, प्रेम प्रकाश और प्रियतम मिलन केवल श्रीसद्गुरु द्वारा होते हैं, अन्यथा कदापि नहीं।

साधारण मनुष्य मात्र को भी यह स्वाभाविक विश्वास है कि यथार्थ आनन्द और कल्याण के आलय एकमात्र श्रीभगवान् हैं और श्रीभगवान् उन के प्रतिरूप श्रीसद्गुरु की कृपा से और उन के उपदेश के पालन से मिलेंगे। श्रीसद्गुरु का वास पराशक्ति में है, अतएव श्रीसद्गुरु पराशक्ति के अन्तर्गत हैं। नास्तिक को भी अन्तरात्मा में यह ज्ञान रहता है, यद्यपि वह बाह्य से इसे स्वीकार नहीं करता। यम, नियम और परोपकार से हृदय शुद्ध होकर और प्रेम के जागरित होने से भाविक को श्रीसद्गुरु और श्रीउपास्य का प्रत्यक्ष की भांति ज्ञान हो जाता है और फिर उस के लिये इन में कोई सन्देह नहीं रह जाता। जैसा उस को अपनी आत्मा के अस्तित्व में सन्देह नहीं रहता, उसी प्रकार इन दोनों के अस्तित्व और सम्बन्ध में उसे सन्देह नहीं रह जाता। श्रीभगवान् की कृपा से श्रीसद्गुरु का पता उसे सत्पुरुष द्वारा मिल जाता है (देखो प्रथम खंड पृष्ठ २५८) और भिन्न २ उपास्यों में जिस श्रीउपास्य से उस को सम्बन्ध है उन का यथार्थ वरण तो उस का हृदय ही करता है, किन्तु इस में भी सत्पुरुष और शास्त्र सहायता करता है।

फिर उस में नवोढा का भाव आजाता जिस के कारण विना मिलन के भी भाविक अपने हृदय को श्रीसद्‌गुरु और श्रीउपास्य को इस प्रकार प्रदान कर देता कि वह कदापि लौट नहीं सकता है। भाविक को समयान्तर में प्रायः श्रीचरण की झलक अथवा श्रीचरणामृत के अमृत रस का आस्वादन मिलता है, किन्तु वह इस सेवा में इस के लिये प्रवृत्त नहीं होता। वह समझता है कि श्रीचरणामृत का रस (तेजपुंज) जो ध्यान के काल में उस के हृदय में आता है (देखो प्रथम खंड, पृष्ठ ३४१) वह उस के द्वारा विश्व के हित के निमित्त संसार में फैलने के लिये है; अतएव इस को भी सेवाकार्य्य समझ सहर्ष स्वीकार करता है। किन्तु जिस भाविक को इस उच्च सेवा का सौभाग्य प्राप्त नहीं है, वह इस के लिये कदापि प्रार्थना नहीं करता, अथवा लालायित नहीं होता और किसी प्रकार की उत्तेजना को न पाकर भी अपने प्रेम और सेवा में पूर्णरूप से दृढ़ ही रहता है। श्रीउपास्य की सेवा और उन के श्रीचरण में प्रेमानन्द का उपहार करना ही भाविक का मुख्य लक्ष्य रहता है। भाविक श्रीउपास्य से आनन्द अथवा अन्य कोई प्रिय वस्तु के पाने की कदापि इच्छा नहीं रखता, क्योंकि ऐसा होने से उस के निष्काम प्रेम में धब्बा लगजायगी। बल्कि किसी उच्च कोटि के भाविक की उक्ति है कि मैं चाहता हूं कि मेरे प्रेम को श्रीउपास्य न जानें, क्योंकि जानने पर इस के बदले में कुछ देदेंगे जिस से मेरे प्रेम में न्यूनता आ जायगी।

भाविक श्रीउपास्य की साक्षात् सेवा में प्रयुक्त होने के लिये अथवा सेवा की आज्ञा साक्षात् रूप से पाने के लिये अवश्य लालायित रहता है; किन्तु इस में विलम्ब होने से उस के प्रेम में तनिक भी अन्तर नहीं पड़ता है। वह इस अन्तरंग सेवा के लिये अवश्य व्याकुल रहता है, उस के लिये वह अनेक कष्ट भी सहता, मिलन के अनुराग की ज्वाला से पीड़ित भी होता, किन्तु कृतकार्य्य न होने पर भी इन कष्टों को भी श्रीउपास्य से सम्बन्ध रहने के कारण

सुखद ही मानता। कथा है—श्रीनारदजी श्रीभगवान् के यहां जारहे थे, मार्ग में एक ज्ञानी और एक भक्त मिले। ज्ञानी ने पहिले नारद जी से कहा कि श्रीभगवान् से आप जिज्ञासा कीजियेगा कि मुझ को मुक्ति कब मिलेगी। ज्ञानी का प्रश्न सुन कर भक्त ने भी अपने विषय में दर्शन मिलनेके समय जिज्ञासा करने को कहा। श्रीनारद जी ने वापस आने पर श्रीभगवान् का उत्तर सुनाया कि ज्ञानी को सात जन्मों में मुक्ति होगी और भक्त के लिये कहा कि इमली के वृक्ष के पत्तों की संख्या के तुल्य जन्मों के बाद दर्शन होंगे। ज्ञानी सात जन्मों को दीर्घ काल समझ घबड़ा गया और रोने लगा, किन्तु भक्त प्रसन्न होकर नाचने लगे—ऐसा जान कर कि श्रीभगवान् के दर्शन कभी न कभी उन्हें अवश्य होंगे।

अनन्य प्रेम का लक्षण है कि प्रेमपात्र करोड़ों वर्ष पर मिलें अथवा कभी न मिलें किन्तु प्रेम और सेवा में न कमी हो और न अन्य प्रेम पात्र ग्राह्य हो। ऐसे भाविक की कठिन परीक्षा अवश्य होती है। इस मार्ग में अनेक कष्ट उसे मिलते हैं, दिन रात उसे रोना भी पड़ता है, यह भी भय दिखलाया जाता है कि इस मार्ग में रहने से उस का सर्वनाश होगा और अनेक प्रलोभन भी दिखलाये जाते हैं और बड़े सुन्दर और मनोहर प्रेम पात्र उस के सामने लाये जाते हैं जिन में प्रेम करने से उसे तत्काल आनन्द मिलेगा और अन्य श्रीउपास्य के विशेष गुण और माधुर्य्य की चर्चा से श्रीउपास्य में परिवर्तन करने को कहा जाता है किन्तु प्रेमी भाविक इन पर दृष्टिपात भी नहीं करता और अपने प्रेम के नेम से कदापि नहीं टगता। किन्तु स्मरण रहे कि अपने श्रीउपास्य में अनन्य भाव का यह तात्पर्य्य नहीं है कि वह दूसरे श्रीउपास्य की निन्दा करे अथवा सम्मान न करे। भाविक सब श्रीउपास्यों का, सब उपकारी सम्प्रदायों का, सम्मान करता है, बल्कि उन उपास्यों और सम्प्रदायों के आंतरिक भाव का अनुभव करने के लिये वह थोड़े काल के लिये अपने को किसी उपासना अथवा सम्प्रदाय विशेष के भाव

में परिणत करलेता है और इस प्रकार उस के आंतरिक भाव का अनुभव प्राप्त करता है। इन अनुभवों को भी वह श्रीउपास्य के कार्य्य के लिये समर्पण करता है। ऐसे भाविक के पास जिस उपासना अथवा सम्प्रदाय के अनुयायी आते उन को उन की ही उपासना और सम्प्रदाय में वह दृढ़ करता और इस कार्य्य में उसका ऊपर कहा हुआ अनुभव बड़ा उपयोगी होता है। यद्यपि परमहंस श्रीरामकृष्ण जी श्रीकालीमाता के उपासक थे, किन्तु उन्हों ने सब उपास्यों के भाव के अनुभव के लिये किंचित् काल वैसी ही वृत्तिको धारण किया। इसी कारण वे जिज्ञासुओं को अपने २ उपास्य में दृढ़ कर देते थे और प्रत्येक उपासना का रहस्य समझा देते थे। स्मरण रहे कि शुद्ध निवृत्ति मार्ग के अनुसरण करनेवालों को अनन्यता से च्युत करने के लिये प्रायः देव और असुर गण अब भी नाना प्रकार से प्रलोभन देकर और विघ्न करके मार्ग से च्युत करना चाहते हैं जैसा कि पूर्व काल में होता था। ऐसा देखा गया है कि इसविघ्न कर्ता के दल के व्यक्ति ऋषि, संन्यासी, यहां तक कि श्रीउपासक का रूप धारण कर साधक के समक्ष आते हैं और नाना प्रकार के असत्यवाग्जाल से मार्ग से च्युत करना चाहते हैं। किन्तु श्रीसद्गुरु और श्रीउपास्य की भक्ति से भाविक को इन विघ्नों से कोई भय अथवा हानि नहीं होती। इस अनन्यभाव के उत्तम आदर्श श्रीपार्वती जी हैं जिन्हों ने श्रीमहादेव जी की निन्दा और श्रीविष्णु-भगवान् की प्रशंसा अपने विवाह के सम्बन्ध में सुन कर ऐसा कहा :—

महादेव अवगुण भवन, विष्णु सकल गुण धाम।
जेहिकर मन रम जाहि सन, ताहि ताहि सन काम॥
जन्म कोटि लगि रगरि हमारी। वरौं शम्भु नतु रहों कुमारी॥

अनन्यता के लिये त्याग की एक सांसारिक कहानी यों है— एक गरीब जोलाहा एक धड़ी नामी वेश्या पर आसक्त हो गया।

उस ने वेश्या से अपनी आसक्ति की बात कही, उत्तर मिला कि ढाई सौ रुपये देने पर तुम को मिलन प्राप्त होगा। जोलाहे ने पूछा कि यदि मैं ढाई सौ रुपया एकवार न दे कर इस के लिये प्रतिदिन थोड़ा २ जमा करता जाऊं और जब वह जमा ढाई सौ हो जाय तो मिलन होगा या नही ? उत्तर मिला कि ऐसा हो सकता है। जोलाहा नित्य की मजूरी जो करता था उस में से एक आने वचा कर वेश्या के यहां प्रतिदिन जमा करने लगा और अवशेष कमाई से ही कष्ट से निर्वाह करने लगा। करीवं वारह वर्ष में उस के ढाई सौ रुपये जमा हो गये जिस के वाद वह वड़े उमङ्ग के साथ वेश्या से मिलने के लिये उस के गृह पर गया और वहां वेश्या के मिलन को आशा से ठहरा रहा। कुछ समय के वाद वेश्या उस के पास मिलने के लिये आई किन्तु उसी समय उस नगर में रात्रि में दश के वजने का घंटा वजा। दश के बजने का घंटा सुनते ही जोलाहा वेश्या को त्याग कर वहां से चला और वेश्या से वड़े जोर से रोके जाने पर भी नहीं रुका। उस के न मानने पर वेश्या ने कहा कि यदि तुम चले जाते हो तो फिर तुम्हारा मुझ से मिलन न होगा और जमा रुपये भी वापस नही मिलेंगे, क्योंकि मैं इस समय तुम्हारे लिये तय्यार हूं। जोलाहे ने इस पर भी ध्यान नही दिया और वहां से दौड़ कर एक औलिया की कब्र पर पहुंचा और कब्र का प्रणाम किया। उस का नित्य का नियम अनेक वर्षों से था कि ठोक दश वजे रात में उस कब्र पर जा कर उस महात्मा की कब्र का प्रणाम करना और उस नियम को उस ने उस रात्रि में भी पालन किया और वेश्या के लिये अनेक दिनों की आसक्ति और उस के लिये कष्ट से रुपयों का जमा करना भी उस को इस के करने में रोक न सका। उस रात्रि में कब्र के प्रणाम के वाद उस महात्मा के दर्शन उसे हुए जिन्हों ने कहा कि आज तुम्हारी निष्ठा पूर्ण होगई, क्योंकि जिस वेश्या के लिये वारह वर्ष की कमाई तुमने व्यय की थी उस को भी मेरे लिये तुमने त्याग दिया। जोलाहे को

दर्शन से दिव्य ज्ञान हो गया और वह त्यागी हो गया। वेश्या भी उसके साथ २ चली आई थी यह देखने के लिये कि वह कौन प्रिय पदार्थ अथवा कर्म है जिस के लिये उसने उस को त्याग किया जो उस की बारह वर्ष की कमाई का फल था। वेश्या उस की अनन्यता और निष्ठा और उस के फल को जान कर स्वयं भी विरक्त हो गई।

गोस्वामी श्री तुलसीदास जी को किसी ने कहा कि आप के श्री उपास्य श्री भगवान् श्री रामचन्द्र जी केवल दश कला के हैं किन्तु भगवान् श्री कृष्णचन्द्र जी सोलह कला के हैं, अतएव आप श्रीकृष्णचन्द्र महाराज को अपना इष्ट बनावें। श्री गोस्वामी जी ने सुन कर उत्तर दिया कि मैं तो अपने श्री उपास्य को एक भी कला से युक्त नहीं जानता था तथापि मेरा प्रेम उन में था, किन्तु आज तो आप से मैंने सुना कि उन में दश कला हैं, इस लिये यह मेरे लिये बड़ा उत्तम संवाद है जो कदापि परिवर्तन का कारण नहीं हो सकता है।

ऐसा अनन्य भाविक विश्व को श्री उपास्यमय मान यथा-सामर्थ्य प्राणि मात्र का सम्मान और सेवा करता है, जिस में भी विशुद्ध सुन्दर और मनोहर पात्र को विशेष विभूति समझ विशेष सम्मान करता है और वह जहां कहीं सत्य और निष्काम त्याग देखता वहां अपने श्री उपास्य का भाव जान कर शिर अवश्य झुकाता। जहां कहीं पवित्र स्थान, तीर्थ अथवा मन्दिर में पूर्वकाल का (जप ध्यान द्वारा) संचित तेजपुंज है उस का अनुभव अन्तर्दृष्टि से उस को हो जाता है और वहां उस के हृदय में भाव आप से आप उत्पन्न हो जाता है। उस की अपनी पूजा की अथवा अन्य श्रीठाकुर जी की प्रतिमा अथवा चित्र उस की दृष्टि में वास्तव में तेजोमय दीख पड़ते जिस का मधुर प्रभाव उस के हृदय पर पड़ता है। यह अनुभव काल्पनिक नहीं है किन्तु यथार्थ है और ऐसे

प्रत्यक्ष प्रमाण पर ही लिखा गया है। कभी २ उस के अंतर में शुष्क भाव आ जाता है और वह यह भी समझता है कि श्री सद्गुरु और श्री उपास्य से वह त्यक्त हो गया और भी दूसरे प्रकार से बड़ी मनोवेदना उसे होती है किन्तु इतने पर भी उस के प्रेम में कमी नहीं होती, वल्कि ऐसी अवस्था में उस के प्रेम की वृद्धि हो जाती है।

जब भाविक के प्रेम-यज्ञ में बाधा पड़ती है और उस का चित्त श्री उपास्य के चरणारविन्द से पृथक् हो जाता है, चेष्टा करने पर भी पूर्व की भांति संलग्न नहीं रहता, तो उसे अपने अनन्य भाव में रुकावट मिलने के कारण बड़ी यंत्रणा होती है जो मरण के कष्ट से भी अधिक है। यही कारण है कि भक्त को जब २ श्री उपास्य के दर्शन हुए तब तब केवल एक ही वर सबों ने मांगा, वह यह कि सदा मेरा चित्त श्री चरण में अनुरक्त रहे। श्रीगोस्वामी तुलसीदास जी का वचन है :—

अर्थ न धर्म न काम रुचि, गति न चहों निर्वान।
जन्म जन्म रति राम पद, यह वरदान न आन॥

अनन्यता का परम उत्तम आदर्श अवश्य चातक भाव है। जैसा कि पतिव्रता स्त्री अपने लिये कुछ परवाह नहीं करती केवल एक पति की सेवा में अनुरक्त रहती है और पति जब जो आवश्यक समझता है वह स्त्री को देता है अथवा जैसी अवस्था उसके लिये ठीक समझता, उसी अवस्था में उसे रखता है, ठीक यही दशा इस अनन्य अवस्था को है। श्रीउपास्य जैसा उचित समझते हैं, वैसोही दशा में उपासक को रखते हैं और उपासक अपनी अवस्था की उन्नति पर तनिक भी ध्यान न देकर केवल श्री उपास्य में संलग्न रहता है। यह भाव पारमार्थिक अवस्था के विषय में है जैसा कि भाविक सिद्धि नहीं चाहेगा, अन्तर्दृष्टि अथवा अन्तःप्रकाश, अथवा गुह्य आंतरिक अनुभव को प्राप्ति के लिये

इच्छुक न रहेगा, अथवा केवल अपने आनन्द के लिये श्रीउपास्य के दर्शन, स्पर्श, सामीप्य के लिये कामना नहीं करेगा। किन्तु वह आवश्यक सांसारिक कर्तव्यों को अपनी बुद्धि और ज्ञान के अनुसार अवश्य करेगा और सांसारिक अभावों के मिटाने का भार कदापि श्रीउपास्य पर नहीं सौंपेगा। वह स्वास्थ्य के नियमों को जानने पर भी उन को भंग कर के और उस के कारण व्याधिग्रस्त हो कर कदापि यह नही चाहेगा कि श्रीउपास्य उसे व्याधि से मुक्त करदें। ऐसा करने से तो निष्कामपन जाता रहेगा। वह कदापि अपने सांसारिक अभाव और कर्तव्य पूर्ति के लिये श्रीउपास्य को कष्ट नहीं देगा। ऐसा करने से उसके अनन्य प्रेम में बड़ी न्यूनता हो जायगी।

अनन्य भाविक का विशुद्ध अनुराग और त्याग (प्रेम-यज्ञ) श्रीउपास्य के चरण के मधुर प्रेम रस को वैसा ही आकर्षित करता है जैसा कि चुम्बक लोहे को अथवा सूर्य्यकान्त प्रस्तर सूर्य्य की किरण को, और फिर इन दोनों (गंगा यमुना, आत्मा परमात्मा) का संगम ऐसा होता है कि संगम पर (हृदयक्षेत्र में) दोनों के स्वरूप के वर्ण पृथक् २ रहने पर भी उन में से कोई भी एक दूसरे से पृथक् हो नहीं सकता। इस संगम अर्थात् आत्मरमण से श्री भगवान् को परम आनन्द प्राप्त होता है, क्योंकि इस के द्वारा उनके प्रेम रस (तेजपुंज) के प्रसारित होने से संसार का बड़ा कल्याण होता है जो उनका परम उद्देश्य है। इस आत्मरमण का वर्णन आगे होगा। त्याग रूपी समर्पण से प्रेम रूपी प्रसाद मिलता है जिस के मिलने पर भाव में स्वभावतः अनन्य भाव आ जाता है, जिसके कारण वह केवल दूसरे का आश्रय ही नहीं चाहता किन्तु उसको अपनी दृष्टि में श्रीउपास्य के सिवाय दूसरा कोई देखने ही में नहीं आता, यहां तक कि कालान्तर में वह अपने को भी भूल जाता। किन्तु यह अनन्य प्रेमभाव केवल कथनी अथवा भावना

मात्र नहीं है किन्तु प्रत्यक्ष सत्ता है। यह भाव रोने (त्याग) के लिये है, हंसने के लिये नहीं; अतएव इसका मार्ग अत्यन्त कठिन और दुर्गम है।

लिखा है:—

बाग्भिःस्तुवन्तो मनसास्मरन्तः, स्तुत्वा नमन्तो ऽप्यनिशंनतृप्ताः। भक्ताःश्रवन्नेत्रजलाःसमग्रमायुर्हरेरेव समर्पयन्ति।

भक्ति रसामृतसिन्धु।

अद्वैतंसुखदुःखयोरनुगुणं सर्वास्ववस्थासुयत्।
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्योरसः।
कालेनावारणात्ययात्परिणेत यत् स्नेहसारेस्थितं।
भद्रं प्रेम सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत् प्राप्यते।

भाविक-भक्त दिन रात वचन द्वारा श्रीभगवान् का स्तुतिवाद करके, मन द्वारा स्मरण कर के, शरीर द्वारा प्रणति कर के भी तृप्त नहीं होते हैं; वे नेत्र के जल को गिराते २ सम्पूर्ण परमायु को श्रीभगवान् ही के निमित्त अर्पण करते हैं। जो प्रेम सुखदुःख किसी में घटता नहीं, सब अवस्था में जो प्रेम अनुकूल रहता, संसार के शोक क्षोभ से पीड़ित हृदय के लिये जो प्रेम एक मात्र विश्राम स्वरूप है, जो अधिक काल होनेपर भी घटता वा नष्ट नहीं होता, वल्कि अधिक काल के कारण और लज्जाभय के, त्यागने से और भी अधिक मधुर होजाता है, सज्जन भाविक का इस प्रकार का अहैतुक प्रेम अवश्य बड़ा दुर्लभ है।

इस अवस्था के भाविक का चित्त सदा श्रीउपास्य में संलग्न रहता है। जब कभी उसका चित्त श्रीउपास्य से पृथक् हो जाता, अथवा श्रीउपास्य की सेवा से वह गाफिल होजाता, अथवा उतनी सेवा नहीं करसकता जितनी कि वह करना चाहता है, तो

ऐसी दशा में वह बड़ा आर्त और दुःखित होजाता है जिस के कारण उस को बड़ी ही मनोवेदना होती है और यह एक प्रकार यथार्थ विरह दुःख है जैसा कि पहिले भी कहा जा चुका है। भाविक के लिये सेवा-धर्म से च्युत होना बहुत ही बड़ी विपत्ति है। कथन है:—

कह हनुमान विपति प्रभु सोई।
जबतब सुमिरन भजन न होई।

और भीः—

साहानिस्तन्महच्छिद्रं सा चान्ध्य जडमूढता।
यन्मुहूर्तं क्षणं वापि वासुदेवो न चिन्त्यते।

गरुडपुराण पूर्वार्द्ध अ० २३४

आसीनो वा शयानो वा तिष्टन्वा यत्र कुत्रचित्।
अविच्छिन्नस्मृतिर्या वै सासिद्धा परिकीर्तिता।
स्मर्तव्यः सततं विष्णु र्विस्मर्तव्यो न जातु चित्।
सर्वे विधिनिषेधाःस्यु रेतयोरेव किंकराः।

जिस मुहूर्त वा जिस क्षण में श्रीभगवान् की चिंता नहीं की जाय वही हानि, वही महानिन्दा, वही अंधापन, वही मूर्खता और वही गूंगापन है। बैठे हुए, सोते हुए, जहां कहीं खड़े हुए, सदा सर्वदा श्रीभगवान् का स्मरण रखना और कभी नही भूलना, इसी को सिद्धा भक्ति कहते हैं। सतत श्रीभगवान् का स्मरण करना चाहिये और उनको कभी नहीं भूलना चाहिये, इन दो विधि, निषेधों के अन्य सब विधिनिषेध किंकर हैं, अर्थात् ये ही मुख्य है और अन्य इनकी अपेक्षा निकृष्ट हैं।

कबीर साहब का वचन है।

जो कोइ या विधि मनको लगावै, मनको लगाये प्रभु पावै।१

जैसे नटवा चढ़त बांस पर, ढोलिया ढोल बजावै।
अपना बोझ धरै सिर ऊपर, सुरति बरत पर लावै।२
जैसे भुवंगम चरत बनहि में, ओस चाटने आवै।
कभी चाटै कभी मनितन चितवै, मनि तजि प्रान गंवावै।३
जैसे कामिनी भरै कूप. जल, कर छोड़ै बतरावै।
अपना रंग सखियन संग राचै, सुरति गगर पर लावै।४
जैसे सती चढ़ी सुर ऊपर, अपनी काया जरावै।
मातु पिता सब कुटुम्ब तियागै, सुरति पिया पर लावै।५
धूप दीप नैवेद अरगजा, ज्ञान की आरति लावै।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, फेर जनम नहिं पावै।६

ऐसा अनन्य भाव वाला जो कुछ करता वह न अपने स्वार्थ के लिये, न अपनी ममता के पात्र के लिये, न परमार्थ के लाभ के लिये, न उस कामको अपना काम समझता, न उसको कर्तापने का अभिमान रहता, न उस की बड़ाई वह चाहता और न यह समझता कि वह स्वयं कर रहा है। वह तो समझता है कि श्री उपास्य अपनी शक्ति से उसके द्वारा काम करवा रहे हैं। काशी में एक भक्त था जिसका काम रास्ते के लैम्पों को साफ करना था। वह प्रतिदिन लैम्पों को साफ करता था और साफ करने में रटा करता था कि "जानकी जीवन राम। करूंहूं तेरा काम।" वह यथार्थ में इस पद के भाव के अनुसार ही कार्य्य करता था, अर्थात् उस लैम्प साफ करने के काम को श्री भगवान् का सौंपा हुआ कार्य्य समझ श्री भगवान् के निमित्त करता था। उससे सब प्रसन्न रहते थे, उसका काम सदा उत्तम रीति से सम्पन्न होता रहा और उसकी भक्ति उस काम के करते करते बढ़ती गई, और वह भक्त हो गया।

ऐसे भाविक को संसार की सब वस्तुएं उनके आंतरिकभाव की दृष्टि से, उस को प्रेमानन्द मय ही देख पड़ती हैं। बाह्य से

अमंगल भी मंगलप्रद, भयानक भी सुन्दर, परिवर्तन भी जीवन ही, उसे श्रीउपास्य की दृष्टि से, बोध होते हैं। हिंसक, क्रूर, दुष्ट, पातकी, क्रोधी, कामी, लोभी आदि व्यक्तियों से, प्रकाश अथवा अप्रकाश, पीड़ित किये जाने पर भी वह, उन को श्रीउपास्य का अंश ही जान, उन के प्रति हिंसा की भावना कदापि नही करता, किन्तु उन के सुधार के लिये श्रीभगवान् से प्रार्थना करता। श्रीमद्भागवत पुराण में लिखा है :—

तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्वदेहिनाम् ।
अजातशत्रवः शांताः साधवः साधुभूषणाः ॥२१॥

स्क० ३ अ० २५

तस्मान्मय्यर्पिताशेषक्रियार्थात्मा निरन्तरः ।
मय्यर्पितात्मनः पुंसोमयिसंन्यस्तकर्मणः ।
न पश्यामि परंभूतमकर्तुः समदर्शनात् ॥३३॥
मनसैतानिभूतानि प्रणमेद्बहुमानयन् ।
ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टोभगवानिति ॥ ३४ ॥

(श्रीमद्भागवत पु० स्क० ३ अ० २९)

सर्वभूतेषुयः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः ।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥ ४५ ॥

(स्क० ११ अ० २)

जो सहनशील, दयालु, शत्रुहीन, प्राणिमात्र के मित्र, गंभीर स्वभाव वाले, शास्त्र की आज्ञा के अनुसार चलने वाले और सुशील ही जिनका भूषण है, वे ही साधु हैं। तिन से भी, जिन्हों ने अपने सकल कर्म, उन कर्मों के फल और शरीर ये सब ही मुझे अर्पण कर दिये हैं, तिस से मेरी प्राप्ति होने में जिन को कोई प्रतिबन्धक ही नहीं रहा है, वे श्रेष्ठ हैं। अपना शरीर मुझे समर्पण करनेवाले, मुझे कर्मों का फल अर्पण करनेवाले, कर्तापने के अभिमान से

रहित और समदृष्टि रखनेवाले पुरुष से अधिको उत्तम प्राणी में किसी को भी नहीं देखता हूं ३३ श्रीभगवान् ही जीव रूप से सकल प्राणियों में विराजमान हैं, ऐसा जान सकल प्राणियों का बहुत सम्मान मन से कर के प्रणाम करे ३४ जो पुरुष, अपनी आत्मा का सकल भूत में ब्रह्मभाव से अनुस्यूतपन है, ऐसा देखता है, अथवा मच्छड़ आदि सकल प्राणियों में नियन्ता होकर रहनेवाले परमात्मा श्रीहरि का, परम ऐश्वर्यादिमानपनाही है, न्यूनाधिक भाव नहीं है, ऐसा जो देखता है, वैसे ही ऐश्वर्य्य आदि गुण पूर्ण तिन श्रीभगवान् में सकल भूत हैं और तिन जड़मलिन भूतों के आश्रय होने से जो श्रीभगवान् के ऐश्वर्य्य आदिकों की कमी नहीं देखता है, वह पुरुष भगवद्भक्तों में श्रेष्ठ है।

अनन्यभाव वाला भाविक समझता है कि संसार में जितने दीनदुःखी दरिद्र पतित हैं वे श्रीउपास्य के बहुत बड़े प्रिय हैं, क्योंकि यह स्वाभाविक है कि माता का स्नेह सब से छोटी सन्तान पर उस की दीनता के कारण अधिक होता है, और श्रीउपास्य का प्राणियों के प्रति स्नेह माता के स्नेह से भी अधिक मधुर और व्याप्त है। अतएव उस को भी दीनदुःखियों पर अधिक स्नेह रहता है और उन के उपकार में वह विशेष दत्तचित्त सब प्रकार से होता है। जो अधर्म और अज्ञान में फंसे हुए हैं उनको भी दीन ही समझना चाहिये और उन के उद्धार के लिये भी अवश्य यत्न होना चाहिए।

भाविक के निष्काम-त्याग व्रत के धारण करने की प्रारम्भिक अवस्था में उसे अनेक प्रबल विघ्न बाधायें मिलती हैं। यदि वह अपने व्रत में दृढ़ रहे तो अनेक प्रकार की कठिन भविष्य विपत्तियों के आने की पूरी सम्भावना रहती है और बड़े २ कष्टों में वह पड़ भी जाता है जैसा कि पहिले भी कहा जा चुका है, क्योंकि अन्तरात्मा रूपी स्वर्ण क्लेशरूपी अग्नि में दग्ध होने से ही निर्मल

होता है किन्तु भाविक कष्ट पाने पर भी अपने व्रत से विच-लित नहीं होता। यदि संयोगवश कभी विचलित भी हो जाता, तो फिर संभल कर इस यत्न में प्रवृत्त हो जाता और गिरनेके कारण विशेष सावधान हो जाता और तब से अधिक बल का प्रयोग करता।

अनन्यभाव का प्रधान तात्पर्य्य यह भी है कि भाविक सिवाय श्रीउपास्य के अन्य किसी से कोई आन्तरिक गर्ज़ अथवा सम्बन्ध न रक्खे। जो कुछ करे वह केवल श्रीउपास्य की सेवा के लिये, वचन का प्रयोग भी उन्हीं के कार्य्य के लिये, भावना भी उन्ही के श्रीचरण के स्पर्श के लिये, यहां तक कि उस की दृष्टि में सिवाय श्रीउपास्य के अन्य कुछ इस संसार में रहता ही नहीं; अर्थात् वह विश्व को श्रीउपास्यमय देखता, जैसा कि पहिले भी कहा जा चुका है। ऐसे भाविक के समीप आने पर हिंसक जीव का भी हिंस्र स्वभाव बदल जायगा। ऐसा भाविक अपनी आत्मा को भी श्रीउपास्य की वस्तु जान कर उन के श्रीचरण में ही अर्पित समझता है। इस आत्म समर्पण प्रेम की एक मात्र कसौटी पूर्ण त्याग है। कथा है कि श्रीभगवान् बुद्ध देव जी को हानि पहुँचाने के लिये देवदत्त राजा ने अपने नौकर को आज्ञा दी कि वे (श्रीबुद्धभगवान्) जब भिक्षा के लिये आवें तो बड़ा दुर्दान्त जो हाथी है उस को छोड़ कर उस के द्वारा श्रीभगवान् पर आक्रमण करवा देना ताकि वे उस से कुचल जायँ। यह बात श्रीबुद्ध भगवान् से लोगों ने कही और सचेत किया। किन्तु इस हाथी के आक्रमण की परवाह न कर वे नित्य की भांति भिक्षा के लिये गये और उस हाथी के उन पर आक्रमण करने पर और उन के समीप आने पर वह पूरा शान्त हो गया और बकरी की भांति उन के निकट खड़ा रहा। प्रेम का ऐसा ही प्रताप है।

मधुर भाव का मुखबन्ध ।

जैसा कि गर्गसंहिता के प्रमाण द्वारा प्रथमखंड के पृष्ठ २६५ से २६६ तक कहा जा चुका है, दूसरों को कष्ट देकर भी अपने स्वार्थ-साधन की कामना उपास्य द्वारा चाहना तामसिक भक्ति है, विना हिंसा के यश, ऐश्वर्य आदि की कामना राजसिक है, और मोक्ष के लिये भक्ति करना सात्त्विक है। जीवात्मा परमात्मा का अनादि सम्बन्ध और उनकी करुणा आदि दिव्यगुण और त्याग (प्रेम-यज्ञ) के अनुभव के कारण उन में निष्काम प्रेम अर्पण करना और उस प्रेम के कारण श्रीउपास्य के प्रीत्यर्थ उनके गुण कर्म (त्याग) का अनुकरण कर उनकी सेवा (प्रेम-यज्ञ) में अहैतुक भाव से प्रवृत्त होना निर्गुण भक्ति है और यही यथार्थ में मधुर भाव की उपासना है। श्रीभगवान् के ऐश्वर्य्य भाव से प्रेरित होकर ऐश्वर्य्य अथवा मोक्ष निमित्त भक्ति करना गुणात्मक भक्ति है और श्रीभगवान् के त्याग (प्रेम-यज्ञ) और दिव्य गुण जो परम मधुर हैं उन से प्रेरित होकर उसी भाव को अपने में प्रदर्शित करने के लिये और उस के द्वारा उनकी निर्हेतुक सेवा करना मधुरोपासना है जैसा कहा जा चुका है। अतएव दास आदि सब निष्काम भाव इसके अन्तर्गत हैं, किन्तु यहां मधुर भाव विशेष अर्थ में अर्थात् आत्मनिवेदन की आधिदैविक अवस्था के लिये प्रयोग किया गया है; किन्तु इसके साधारण स्वरूप का भी कहीं २ उल्लेख होगा। सृष्टि के आदि में श्रीभगवान् और उनकी पराशक्ति का सृष्टि सम्बन्धी प्रेमयज्ञ में प्रवृत्त होना ही उनका मधुर भाव है, क्योंकि केवल करुणा से प्रेरित हो कर ही यह निष्काम त्याग-अनुष्ठान किया जाता है। सर्ग के प्रारम्भ में श्रीब्रह्मा जी, सप्तर्षि, रुद्र, कुमारगण आदि ने इस सृष्टि के कार्य्य में प्रवृत्त होकर इस मधुर भाव को ही प्रकट किया; अर्थात् इन लोगों ने भी आत्मनिवेदन ही किया। श्रीशिवजी जगद्गुरु के कार्य्य का सम्पादन कर और बाह्य भाव से सर्वत्यागी

घन इसी मधुर भाव (प्रेम यज्ञ) को संसार के कल्याण के लिये प्रकट कर रहे हैं। उन का दिगम्बर (गुणातीत) हो कर श्मशान में (पिण्डाण्ड में हृदय का गुह्य भाग जहां प्रवेश करने से सब विकार प्रेमाग्नि द्वारा दग्ध हो जाते हैं और उपाधियों के बन्धन से जीवात्मा मुक्त हो जाता है और ब्रह्माण्ड में त्रिलोक से ऊपर का भाग) वास कर उपासकों को माया से मुक्त करना और उन को श्रीउपास्यों में युक्त करवा देना आदि परम मधुरभाव हैं। श्रीमहाविद्या अथवा आद्याशक्ति का, मातृस्नेह के परम त्याग द्वारा जगत् को रक्षा, पालन और तृप्ति करना और श्रीलक्ष्मी, श्रीसती, श्रीपार्वती, श्रीसीता और श्रीराधा आदि रूप का धारण कर परमत्याग को व्यक्त कर दिखलाना अवश्य परम मधुर भाव है।

श्रीभगवान् विष्णु तो आनन्दभाव (प्रेम-यज्ञ) के रूप ही हैं और इस यज्ञ के लिये विश्वमात्र में स्थावर, उद्भिज्ज, पक्षी, पशु, मनुष्य, देव आदि में स्वयं वास कर बहुत बड़ा मधुर (त्याग) भाव दिखला रहे हैं। इस के सिवाय श्रीभगवान् ने अवतारों को धारण कर अपने मधुरभाव को विशेष व्यक्त किया है। श्रीभगवान् ने प्रलय के समय में वेदत्रय को लुप्त होने से बचाने के लिये और उद्धार करने के लिये मत्स्य रूप धारण किया। पृथ्वी को अपने पृष्ठ पर धारण कर जल में निमग्न होने से बचाने के लिये कूर्म्म रूप धारण किया। पृथ्वी के जल में डूबने के कारण पाताल में जाने पर श्रीभगवान् ने वाराह रूप धारण कर उस का उद्धार किया। श्रीभगवान् के वाराह रूप को यज्ञ वाराह कहते हैं, क्योंकि अवतार धारण करना भी स्वतः परम यज्ञ है। श्रीमद्भागवत पुराण स्क० ३ अ० १३ के श्लोक ३६ से ३९ तक में श्रीभगवान् के वाराह रूप को यज्ञ रूप दिखला के स्तुति की गई है। उस में ४० वां श्लोक यों है :—

नमोनमस्तेऽखिलमंत्रदेवताद्रव्याय सर्वक्रतवे

क्रियात्मने। वैराग्यभक्त्यात्मजयानुभावितज्ञानाय विद्यागुरवे नमोनमः ॥४॥

सकल मन्त्र, देवता और घृत आदि द्रव्यरूप सकल यज्ञरूप और कर्मरूप तुम को वारंवार नमस्कार हो, वैराग्य, भक्ति और मन की स्थिरता से प्राप्त होने वाले ज्ञान स्वरूप और ज्ञान देने वाले गुरुरूप आप को वारवार नमस्कार है।

इस आत्मसमर्पण के मधुर (त्याग) भाव को श्री प्रह्लाद जी ने अपने जीवन और कार्य्यकलाप से भलीभांति दिखलाया है। पिता हिरण्यकशिपु के अनेक यत्न करने पर भी श्री प्रह्लाद जी ने श्री भगवान् की भक्ति का त्याग नहीं किया, यद्यपि उन्होंने पिता का सम्मान करना भी कदापि नहीं छोड़ा। श्री भगवान् की भक्ति के नहीं त्याग करने पर हिरण्यकशिपु की आज्ञा से राक्षसों ने शूल से उन के मर्मस्थानों पर प्रहार किया, तथापि वे दृढ़ ही रहे। फिर वे दिग्गजों के पैरों से कुचलवाये गये, सर्पों से डसवाये गये, पर्वत के शिखर से गिराये गये, विष भक्षण करवाये गये, भूखे रखे गये, शीत में रखेगये, आंधी में डाले गये, अग्नि में भी प्रवेश कराये गये, जल में डुबाये गये, पत्थर की वर्षा उन पर हुई, किन्तु इतने पर भी उन्होंने श्री भगवान् की भक्ति को नहीं त्यागा। उन्हों ने भक्ति को अपने प्राणों से भी अधिक प्रिय समझा और भक्ति की रक्षा के लिये प्राण का त्याग उत्तम समझा। यही यथार्थ मधुर भाव है। जो इस पथ में पदार्पण करेगा उस की परीक्षा के (प्रेम यज्ञ) लिये असुरभाव रूपी हिरण्यकशिपु, जिस से भाविक को पूर्व में सम्बन्ध था, अवश्य नाना प्रकार का उपद्रव भक्ति से विचलित करने के लिये करेगा; किन्तु यदि भाविक में आत्मनिवेदन का मधुर भाव रहेगा, तो उस के बल से वह श्री प्रह्लाद की भांति कितनाहू विघ्न बाधाओं के आने पर और प्राण के वियोग तक की सम्भावना होने पर भी श्री भगवान् का त्याग कदापि नहीं करेगा। इतने प्राणान्तक

उपद्रव होने पर भी श्री प्रह्लाद श्री भगवान् की अचल भक्ति के बल से कदापि भयभीत तक नहीं हुए। श्री प्रह्लाद जी का मरण संनिहित होने पर भी अपनी अचला भक्ति का त्याग नहीं करना आत्मनिवेदन भाव का परमोज्ज्वल उदाहरण है। श्री प्रह्लाद ही ने अपने पिता से नवधा भक्ति कही जिस में आत्मनिवेदन अंतिम भाव है (देखो प्रथमखंड पृष्ठ २६९)। श्री प्रह्लाद जी की उक्ति इस पुस्तक में कई स्थानों में पूर्व में दी जा चुकी है किन्तु यहां भी कुछ देना आवश्यक है। श्री प्रह्लाद ने दैत्यबालकों को भी भक्ति का उपदेश किया, जिस को उन्हों ने स्वीकार कर लिया और ऐसा कर उन्हों ने दिखलाया कि भाविक के लिये श्री भगवान् की भक्ति का उपदेश और प्रचार करना परमावश्यक है। श्री प्रह्लाद जी ने दैत्य बालकों से कहाः—

तस्मात्सर्वेषु भूतेषु दयां कुरुत सौहृदम्।
आसुरं भावमुन्मुच्य यया तुष्यत्यधोक्षजः २४
धर्मार्थकाम इति योऽभिहितस्त्रिवर्ग
ईक्षा त्रयी नयदमौ विविधा च वार्त्ता।
मन्ये तदेतदखिलं निगमस्य सत्यं
स्वात्मार्पणं स्वसुहृदः परमस्य पुंसः ॥२६॥

श्रीमद्भागवत् स्क० ७ अ० ६

इस कारण तुम असुर (स्वार्थ) भाव को त्यागकर सकल भूतों में मित्र भाव और दया भाव का धारण करो जिस से अधोक्षज श्रीभगवान् प्रसन्न होते हैं। हे असुरो! धर्म, अर्थ और काम रूप जो त्रिवर्ग कहा जाता है और उस के निमित्त आत्म-विद्या, कर्म विद्या, तर्क शास्त्र, दण्डनीति और नाना प्रकार की जीविका के जो साधन हैं वे सब वेद में कहे हैं, परन्तु वे यदि अन्तर्यामी परम पुरुष भगवान् के प्रति आत्म निवेदन करने के साधन हों तभी उन को मैं सत्य मानता हूं, नहीं तो असत्य ही हैं।

इस मधुर भाव में भाविक को विश्व के केंद्र श्रीभगवान् के सगुण साकार रूप मुख्य लक्ष्य रहने पर भी उन का विश्वरूप भाव भी प्रत्यक्ष की भांति होजाता है और यह श्रीप्रह्लाद के आख्यान द्वारा सिद्ध होगया। पिता के पूछने पर कि श्रीभगवान् कहां हैं श्रीप्रह्लादजी ने कहा कि सर्वत्र हैं और फिर पूछने पर "क्या इस खंभे में हैं" उत्तर मिला कि "हां, खंभे में भी हैं"। इस पर क्रोध कर के जब हिरण्यकशिपु ने उन को ऐसा कहकर कि "यदि कोई श्रीभगवान् हैं तो इस समय आकर तुम्हारी रक्षा करें" मारना चाहा तो श्रीभगवान् उस खंभे से प्रकट हो गये। श्रीमद्भागवत पुराण का वचन है:—

सत्यं विधातुं निजभृत्यभाषितं व्याप्तिं च भूतेष्वखिलेषु चात्मनः। अदृश्यतात्यद्भुतरूपमुद्वहन् स्तम्भे सभायां न मृगं न मानुषम्॥ १८॥

स्कं० ७ अ० ८

इतने ही में सकल प्राणियों में होने वाली अपनी व्याप्ति को सत्य करके दिखाने के निमित्त और अपने भृत्य का कहा हुआ वचन सत्य करने के निमित्त न मनुष्य का आकार और न मृग (पशु) का आकार ऐसा अतिअद्भुत रूप धारण करने वाले श्री भगवान् हरि उस सभा के खम्भे में से प्रकट हुए।

श्री भगवान् का खम्भे से तत्काल निकल कर श्रीनृसिंहावतार (अर्द्ध मनुष्य अर्द्ध पशु) धारण कर भक्त के वचन को रक्षा करना बहुत बड़ा यज्ञ (त्याग) है, क्योंकि ब्रह्मा के वर के कारण विना ऐसा रूप धारण किये हिरण्यकशिपु का वध सम्भव नहीं था। अतएव यह परम मधुर भाव है और श्रीभगवान् की परम करुणा और भक्तवत्सलता का द्योतक है और इसी कारण श्रीप्रह्लाद को उक्त रूप परम सुन्दर देख पड़ा। श्रीभगवान् ने हिरण्यकशिपु का वधकर अपने वैकुण्ठ के भृत्य को शाप से त्राण किया जो भी दया

का ही कार्य्य है। श्रीप्रह्लाद ने श्रीभगवान् से अपने पिता को भक्त के द्रोह के पातक से मुक्त होने के लिये प्रार्थना की जो भी भक्त के दयाभाव को प्रकट करता है, अर्थात् भक्त अपने हानि करने वाले का भी उपकार ही करता है।

श्रीवामनावतार भी इस मधुर भाव ही का द्योतक है। जब श्री वामन भगवान् वटु रूप में श्रीवलि के यज्ञ में गये तब राजावलि उनके मनोहर रूप को देख कर मोहित हो गये और उनकी पूजा कर कहा कि "जो आपको मांगना हो वह मांगिये, मैं दूंगा।" श्रीभगवान् के मिलने पर कौन ऐसा होगा जो सर्वस्वार्पण करने पर उद्यत न होगा? श्रीभगवान् द्वारा तीन डेग पृथ्वी मांगने पर जब श्री वलि स्वीकार कर संकल्प करने पर उद्यत हुए तब श्रीशुक्राचार्य्य ने दान देनेमें मना किया और वलि को स्पष्ट समझा दिया कि इस दान से तुम्हारा सर्वनाश हो जायगा, क्यों कि केवल इन के दो पग में पृथ्वी और स्वर्ग समाजायगे और तीसरे पग के समान भी देने के लिये कुछ नहीं रह जायगा। किन्तु गुरु की इस चितौनी पर विश्वास कर के भी वलि अपने समर्पण के संकल्प में दृढ़ रहे और कदापि विचलित नहीं हुए। वलि ने अपनी दृढ़ता को ऐसा कह कर दिखलायाः—

श्रेयः कुर्वन्ति भूतानां साधवो दुस्त्यजासुभिः।
दध्यङ्शिविप्रभृतयः को विकल्पो धरादिषु। ७

(श्रीमद्भागवतस्क० ८ अ० २१।

हे आचार्य! दधीचि औ शिवि आदि साधु पुरुष, जिन का त्यागना कठिन है ऐसे अपने प्राणों को भी त्याग कर प्राणियों के ऊपर दया करते हैं, फिर भूमि आदि को देने में तो विचार क्या करना है?

संकल्प के बाद समर्पण करने पर वलि को भी श्रीभगवान् के विश्वरूप के दर्शन हुए।

लिखा है :—

नदीश्चनाडीषु शिला नखेषु बुद्धावजं देवगणानृषींश्च।
प्राणेषुगात्रे स्थिरजंगमानि सर्वाणि भूतानि ददर्शवीरः २६

नाड़ियों में नदियां, नखों में शिला, बुद्धि में ब्रह्मा जी और इन्द्रियों में देवगण तथा ऋषियों को देखा; इस प्रकार उन श्रीभगवान् के शरीर में उस वीर ने स्थावर जङ्गम रूप सकल प्राणियों को देखा। बलि को रानी ने जो श्रीभगवान् से उस समय कहा वह आत्मनिवेदन भाव का उत्तम द्योतक है, जो ऐसा है :—

क्रीडार्थमात्मन इदं त्रिजगत्कृतंते स्वाम्यंतु तत्र कुधियोऽपर ईश कुर्युः। कर्तुःप्रभोस्तव किमस्यत आवहंति त्यक्तह्रियस्त्वदवरोपितकर्तृवादाः १०

तत्रैव अ० २२

हे श्रीभगवन्! तुम ने अपनी क्रीड़ा करने के निमित्त इस त्रिलोकी को उत्पन्न किया है उस में कुबुद्धि पुरुष अपना स्वामीपना मानते हैं परन्तु इस त्रिभुवन की उत्पत्ति, स्थिति और परिवर्तन करने वाले तुम्हें वह क्या समर्पण करेंगे? इस से वे पुरुष निःसन्देह निर्लज्ज हैं जो अपने को स्वतंत्र समझते हैं और कर्तापने का अभिमान करते हैं, क्योंकि तुम्हारा ही सर्वस्व है।

उस समय श्रीभगवान् ने जो कहा वह भक्ति मार्ग और मधुर भाव का परम सार है :—

ब्रह्मन् यमनुगृह्णामि तद्विशो विधुनोम्यहं।
यन्मदः पुरुषः स्तब्धो लोकं मां चावमन्यते ॥२४॥
क्षीणरिक्थश्च्युतः स्थानात् क्षिप्तोवद्धश्चशत्रुभिः।
ज्ञातिभिश्च परित्यक्तो यातनामनुयापितः ॥२६॥

गुरुणा भर्त्सितः शप्तो जहौ सत्यं न सुव्रतः।
छलैरुक्तो मया धर्मो नायं त्यजति सत्यवाक् ॥३०॥

तत्रैव० अ० २१

श्रीभगवान् ने कहा—हे ब्रह्माजी! मैं जिस के ऊपर अनुग्रह करने की इच्छा करता हूं उस का धन ऐश्वर्य्य आदि मैं उस से छुड़ा देता हूं, क्योंकि धनादि के मद से युक्त हुआ पुरुष लोकों का और मेरा अपमान करता है। अहो! इस बलिका धन छीना गया, यह अपने स्थान से अलग हो गया, शत्रुओं ने इस का तिरस्कार कर के इस को बांध लिया, जातिवालों ने इस को त्याग दिया, इस को पीड़ा भोगनी पड़ी, गुरु ने इस की भर्त्सना कर शाप दिया, तथापि दृढ़संकल्प होने के कारण इस ने सत्य (अपने निवेदन के संकल्प) को नहीं त्यागा और इस की परीक्षा के लिये मैं ने इस को अन्य धर्म का उपदेश किया तो भी इस ने उस को नहीं छोड़ा, इस कारण यह सत्यवक्ता है। स्मरण रहे कि आत्मनिवेदन के मार्ग को अनुसरण करने वाले की बड़ी कठिन परीक्षा अवश्य होती है और बाह्य दृष्टि से वह कष्ट में अवश्य पड़ता है, और जिन को वह माननीय मानता है ऐसे २ लोग प्रमाण देकर उस को इस मार्ग से विमुख होने के लिये यत्न करते हैं और उस को बोध कराया जाता है कि इस मार्ग को अनुसरण करने से उस का सर्वनाश होगा। इस में बलि की दशा भी प्रमाण है। इस प्रेम-मार्ग से चलना मानों कांटेपर हो के अथवा खड्ग की धार पर होके चलना है, इस में भीष्म की शरशय्या मिलती है, न कि पुष्प शय्या। तीसरे पग के लिये बलि ने अपने शरीर को श्रीभगवान् को अर्पण किया और उन के इस आत्मनिवेदन का क्या परिणाम हुआ उस में श्रीमुख वचन है:—

नित्यं द्रष्टासि मां तत्र गदापाणिमवस्थितम्।
मद्दर्शनमहाह्लादध्वस्तकर्मनिबन्धनः ॥ १०

अ० २३

श्रीभगवान् ने श्री प्रह्लाद से कहा कि वहां (श्रीवलि के पाताल राज्य के दरवाजे पर) हाथ में गदा लेकर द्वार पर खड़े हुए मुझे तू देखेगा और मेरे दर्शन से जो तुझे बड़ा भारी आनन्द होगा उस से तेरा अज्ञान दूर होगा। श्रीभगवान् का अपने भक्त का द्वारपाल हो जाना और रक्षा के लिये सदा खड़ा रहना, इस से अधिक उन की मधुरता (त्याग) और क्या हो सकती है?

वलि के आत्मनिवेदन का रहस्य भाव यह है कि मनुष्य के शरीर, मन, बुद्धि, अहंकार आदि यथार्थ में श्रीभगवान् के कार्य्य में अर्पण होने के निमित्त वलि हैं अर्थात् नैवेद्य हैं किन्तु ये उनमें न अर्पण होकर स्वार्थ साधन में प्रवृत्त किये जायं तो वह असुर भाव है। श्रीभगवान् अपनी उक्त वलि के लेने के लिये याचना करते हैं और यदि उन को निवेदन किया जाय तो फिर वे निवेदक से पृथक् नहीं रहते। श्रीपरशुरामावतार आवेशावतार था और यह अवतार भी जगत् के उपकार के लिये ही हुआ।

अव किंचित् इस मधुर भाव के तत्त्व के विषय में लिखना आवश्यक है। इस आत्मनिवेदन की मध्यमावस्था अर्थात् मधुर भाव यथार्थ में श्रीभगवान् के आनन्द (प्रेम-करुणा) भाव की उपासना है और यह आनन्द अवश्य परम मधुर है। अहिंसा, सत्य, क्षमा, करुणा, त्याग, पवित्रता, समता, तप, वैराग्य आदि श्रीभगवान् के इसी भाव से उत्पन्न हैं, जैसा कि श्रीगीता अध्याय १० श्लोक १४ और १५ में कहा गया है। संसार के हित के लिये श्रीभगवान् इस आनन्द शक्ति को धारण कर सगुण साकार हो कर (विश्व) ब्रह्माण्ड का केंद्र वन जाते हैं और अपने दिव्य भावों और गुणों को विश्व में प्रकट करते हैं, जो उन के लिये प्रेम-यज्ञ है। अतएव उपासक का मुख्य लक्ष्य विश्व के केंद्र श्रीभगवान् रहते हैं और वह उन के विश्व रूप को जानकर और उस की सेवा में प्रवृत्त रह कर भी उनके केंद्र भाव का त्याग कदापि नहीं करता।

विना केंद्र (सगुणभाव) से सम्बन्ध स्थापित किये श्री भगवान् को विश्वव्यापी मानने पर भी कोई श्री भगवान् के दिव्यगुणों को अपने में न प्रकट और न प्राप्त और न सम्बन्ध स्थापित कर सकता है। बल्कि यह भी सम्भव है कि विश्व के केंद्र रूप श्री भगवान् के साथ बिना सम्बन्ध स्थापित किये यदि जीवात्मा सांख्य मार्ग से ऊर्द्ध्व को ओर गमन करे तो माया को अतिक्रम नहीं कर के अव्यक्त में लीन हो जा सकती है। केवल श्री सद्गुरु और पराशक्ति की कृपा से ही भाविक स्वर्ग लोक के ऊपर की दुस्तर माया के जाल का अतिक्रम कर श्रीउपास्य के चरण में युक्त होता है। यही महाश्मशान है जहां जगद्गुरु श्री शिव जी रह कर उपासकों को उन का विकार नष्ट कर महा अविद्या मोह से पार करते हैं। देखो नकशा ज्ञानयोग, पृष्ठ २४६। प्रथम स्नेह भाव से स्मरण, चिंतन, भजन, धर्माचरण और जीवों पर दया और उपकार द्वारा श्री उपास्य के दिव्यगुण और भाव उपासक में प्रगट होते, जिन को श्री उपास्य के निमित्त अभ्यास करने से अनुराग की उत्पत्ति होती है और उस अनुराग के प्रगाढ़ होने पर वह प्रेम के प्रसाद के पाने के योग्य होता है और तभी प्रेम द्वारा उसका श्री उपास्य के साथ सम्बन्ध स्थापित होता है। श्री उपास्य के प्रेम ही दिव्यगुण के रूप को धारण कर व्यक्त होते हैं, दोनों एक हैं दो नहीं। विना दिव्य गुणों की प्राप्ति और अभ्यास के प्रेम केवल कथन और कल्पना मात्र है, वास्तविक नहीं। जिसका श्री उपास्य के प्रति स्नेह का अभ्यास रहेगा, उस में उन के दिव्यगुण का प्रकाश और अभ्यास अवश्य रहेगा और जिस में गुण का अभाव होगा, उस में स्नेह का भी अभाव अवश्य मानना चाहिये। नारद सूत्र के अनुसार प्रेम अनिर्वचनीय होने से, गूंगे के स्वाद के समान, इस का वर्णन शब्द से हो नहीं सकता है किन्तु इस के वाह्यलक्षण और सम्बन्ध भाव के अस्तित्व से ही इस का अस्तित्व समझा जासकता है। विशेष कर अहंकार के विकार का दमन और अर्पण और आत्मत्व का प्रसार हुए विना यथार्थ प्रेम की उत्पत्ति नहीं हो

सकती। मधुर भाव की उपासना का तात्पर्य्य ही यह है कि श्रीउपास्य के मधुरभाव जैसा कि करुणा, सत्य, क्षमा, त्याग, कोमलता, दीन दया, पवित्रता, स्वयं प्रकाश, स्नेह, उपकार, सर्वात्मभाव आदि को अपने में प्रकाशित कर उनका अभ्यास करना और अपनेको श्रीउपास्य में अर्पित करना और उन के ऐश्वर्य्य भाव को, जो दोषो को दण्ड देना आदि है, उन को भी मधुर भाव ही में गिनना किन्तु उसका अनुकरण नहीं करना, क्योंकि श्रीभगवान् दया से प्रेरित होकर ही दोषी को उस के सुधार के लिये दण्ड देते हैं और अपनी कृपा के कारण ही उस के हृदय में टिके रहते हैं, कदापि त्यागते नहीं, और दण्डन देना उन्हीं का कार्य्य है। श्रीभगवान् का यथार्थ ऐश्वर्य्य उनका करुणाभाव और प्रेम यज्ञ है जो सृष्टि का कारण है, अतएव यही जीवात्मा का यथार्थ सम्बन्ध भाव है और इसी को उसे अपने में प्रगट करना चाहिये। भजन स्मरण ध्यान आदि भी श्रीउपास्य के दिव्य गुण और प्रेमरूपी प्रसाद के पाने के लिये ही हैं और उनका अभ्यास और संसार में प्रचार करना उनकी उत्तम सेवा है। श्रीभगवान् के पावन नाम के स्मरण में गाढ़ प्रीति और जीवदया श्रीभगवान् की मुख्य सेवा है और प्रेम की उत्पत्ति के लिये उत्तम साधना है। इस भाव के भाविक को ये दो साधनायें प्राणों से भी अधिक प्रिय होजाती हैं और वह इन की मधुरता को स्वयं अनुभव करता और दूसरों को भी करवाता है। वह इन के आन्तरिक रहस्य को जानता है। श्रीभगवान् के सगुण भाव का अर्थ मूल प्रकृति के रज, तम, सत्वगुण अथवा शुद्ध सत्वगुण के भी अधीन होना कदापि नहीं है, क्योंकि उक्त प्रकृति असत् और जड़ है, किन्तु अपनी पराप्रकृति के दिव्य गुणों के और भावों का धारण करना है और उक्त दिव्य गुणों और भावों का ही बनाहुआ उन का शरीर होता है; अर्थात् उन के दिव्य शरीर दिव्य भाव और गुण की ही मूर्ति हैं। इसी कारण श्रीभगवान् परम सुन्दर और शुभ्र हैं,

क्योंकि सुन्दरता ही दिव्य गुण है और दिव्य गुण ही सुन्दरता है। वे दोनों एक दूसरे से पृथक् कदापि हो नहीं सकते। यही कारण है कि संसार के प्राणिमात्र, ज्ञात अथवा अज्ञात, सबके सब श्रीभगवान् ही की खोज में व्यग्र हैं। जिस भाविक को एकवार भी श्रीभगवान् की झलक हृदय में दृष्ट हुई अथवा हृदय में उनके तेज-पुंज (श्री चरण का प्रेमामृत रस) का अनुभव का सौभाग्य प्राप्त हुआ, वह फिर चातक की भांति अनन्य भाव से आसक्त हो जाता है और सेवा के निमित्त अपने को विना अर्पण किये रह नहीं सकता। प्रेम रूपी मिश्री पर सेवा रूपी मक्खी स्वतः बैठ जाती है। प्रेम सेवा में नियुक्त होने का परिणाम यह होता है कि अनुराग के धीरे धीरे बढ़ने के कारण अन्ततोगत्वा वह सेवा की पूर्ति के लिये आत्मसमर्पण करने का संकल्प करता है और जबतक इस की पूर्ति न होती, तबतक वह अत्यन्त व्याकुल और व्यग्र रहता है। यही विरह वेदना है और यहीं से शुद्ध मधुर भाव का प्रारम्भ होता है। इस अवस्था के आने पर भाविक का ऊर्ध्वगमन श्रीसद्गुरु के सहारे से होता है।

आत्मनिवेदन की मध्यमावस्था।

मधुरभाव।

आत्मनिवेदन भाव की दूसरी आधिदैविक अवस्था को मधुर-भाव, गोपी भाव, प्रियाभाव, शृङ्गार भाव आदि नामों से कहते हैं जिस भाव का मुखबन्ध में किंचित् वर्णन हो चुका है। अन्य भावों की भांति यह भी परम रहस्यमय आध्यात्मिक भाव है। यह वह भाव है जिसके लिये कल्प के आदि से अनेक मन्वन्तरों में बड़ी तय्यारी, कठिन साधनायें, दीर्घतपस्या की गई, स्वयं सृष्टिदेवी ने जिस के लिये अपने ऊपर अनेक कष्ट उठाये, निगमागम पुराण की जिसके लिये सृष्टि की गई, ऋषियों ने जिसके लिये यज्ञ किया,

और यह सृष्टि-व्यापी प्रेम-यज्ञ ही जिसके लिये ठाना गया। श्रीसद्गुरुने कृपाकर जिस उपासक का श्री उपास्य के साथ सम्बन्ध जोड़ दिया उन प्रिया प्रियतम का यह अनेक काल के विच्छेद के बाद मिलन है। यह आत्मनिवेदन रूपी विवाह-यज्ञ के बाद दुलहा (श्री उपास्य) और दुलहिन (श्री उपासक) का एकत्र होना है। प्रेम-यज्ञ अथवा विहार-लीला (जिस का उल्लेख आत्मनिवेदन की प्रस्तावना में हो चुका है) में अबतक उपासक बाह्य में रहकर बाह्य सेवा में प्रयुक्त था किन्तु अब ऐसी अवस्था आगई कि वह यज्ञवेदी के भीतर अथवा लीला के अंतःपुर में प्रवेश कर साक्षात् सेवा में प्रयुक्त होगा। कहा जा चुका है कि यह प्रेम-यज्ञ अथवा नित्य विहार-लीला ही के द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति, पालन आदि होते हैं। श्रीमद्भागवत पुराण का वचन है:—

इति मतिरुपकल्पिता वितृष्णा भगवति सात्वत पुंगवे विभूम्नि। स्वसुखमुपगते क्वचिद्विहर्तुं प्रकृतिमुपेयुषि यद्भवप्रवाहः। ३२

स्क० १ अ० ६

क्रीडस्यमोघ संकल्प ऊर्णनाभिर्यथोर्णुते।
तथा तद्विषयां धेहि मनीषां मयि माधव। २७

स्क० २ अ० ६

तिर्यङ्मनुष्यविबुधादिषु जीवयोनिष्वात्मेच्छयात्मकृतसेतुपरिप्सया यः। रेमे निरस्तरति रप्यवरुद्धदेहस्तस्मै नमो भगवते पुरुषोत्तमाय। १६

स्क० ३ अ० ६६

श्रीभीष्म जी ने कहा कि अनेक साधनों से एकाग्र की हुई

अपनी निष्काम बुद्धि को यादवश्रेष्ठ सर्वव्यापी श्रीकृष्ण भगवान् में मैं ने अर्पण किया है। वे (श्रीभगवान्) अपने परमानन्द में निमग्न रहते हैं और किसी समय माया को स्वीकार कर क्रीड़ा करने के निमित्त सृष्टि को उत्पन्न करते हैं किन्तु उस माया से उनकी महिमा आच्छादित नहीं होती है। श्रीब्रह्मा जी ने कहा कि हे श्रीभगवान्, जैसे मकरी आप ही बहुत से तन्तु उत्पन्न कर के उनसे अपने को ही आच्छादित कर लेती है, उसी प्रकार तुम सत्य संकल्प, आपही ब्रह्मादि रूप धारण कर, सृष्टि द्वारा क्रीड़ा करते हो तिस के (विहार—लीला का) ज्ञान होने को बुद्धि मुझे दो। जो तुम विषय सुख की प्रीति से रहित हो कर भी, अपनी रची हुई धर्म मर्यादा का पालन करने की इच्छा से पशु, पक्षी, मनुष्य और देवता आदि जीव योनियों में अपनी इच्छा के अनुसार शरीर धारण कर क्रीड़ा करते हो, तिन पुरुषोत्तम रूप तुम श्रीभगवान् को नमस्कार हो।

यह भाव ऐसी अवस्था है जब कि भाविक की अन्तरात्मा इस यज्ञ में श्रीउपास्यके वामभागस्थित पराशक्ति की सहचरी होकर इस परम यज्ञ में योग देती है अथवा यों कहिये कि नित्य-लीला की अधिष्ठात्री पराशक्ति की कृपा से अपने को अर्पण करने पर और श्रीउपास्य के हस्त कमल द्वारा अपनाये जाने पर लीला में प्रवृत्त होती है। इस प्रेम यज्ञ अथवा नित्य विहार लीला की अधिष्ठात्री पराशक्ति हैं, जो कैलास में श्री पार्वती, वैकुण्ठ में श्री लक्ष्मी, साकेत में श्री सीता जी और गोलोक में श्री राधा जी के रूप में हैं। इस अवस्था का भाविक अपनी उपासना के अनु-सार पराशक्ति रूपी इन प्रेम शक्तियों में से किसी एक (अपने श्री उपास्य की शक्ति की) की सहचरी होकर उनके द्वारा अपने श्री उपास्य से मिलता है।

यह वह अवस्था है जब कि मान सरोवर से बिछुड़ा हुआ हंस अनेक कष्ट और क्लेश को सहन कर मार्ग बताने वाले श्रीसद्गुरु की कृपासे अपने सरोवर को पाकर उसमें अवगाहन करता है। इस प्रेम-मिलन का स्थान पिण्डाण्ड (शरीर) में हृदय है जो ब्रह्माण्ड के कैलाश, वैकुण्ठ, साकेत और गोलोक के तुल्य है जिसकी छाया इस लोक में यों है। कैलाश की छाया काशी, वैकुंठ की कांची, साकेत की अयोध्या और चित्रकूट और गोलोक की वृन्दावन है। यह न शरीर का मिलन है और न मन और न बुद्धि का किन्तु शुद्ध अन्तरात्मा को, जो उपाधियों के और त्रिगुण के बंधन और आसक्ति से मुक्त होकर श्रीपराशक्ति और श्रीसद्गुरु के सहारे से श्रीउपास्य से मिलती है। स्मरण रहे कि यह प्रेम मन्दिर में प्रेम-मिलन किसी स्वार्थ साधन अथवा निर्वाण के आनन्द के लिये नहीं होता है किन्तु श्री उपास्य के विश्व-हित प्रेम-यज्ञ अथवा विहार लीला में साक्षात् भाव में योग देकर उनकी और उनके विश्वरूप की सेवा करने के लिये होता है।

इस यज्ञ अथवा विहार लीला में संयुक्त होने के लिये श्रीपराशक्ति की सहचरी बनना परम कठिन कार्य्य है। शरीर, मन, बुद्धि अथवा अहंकार, पृथक् अथवा एकत्र, स्वयं न सहचरी बन सकते, और न पृथक् अथवा एकत्र होकर इस भावको उत्पन्न कर सकते हैं। श्रीगीता के अ० १४ में इस अवस्था का यों वर्णन है :—

प्रकाशं च प्रवृत्तिंच मेहमेव च पाण्डव।
नद्वेष्टि संप्रवृत्तानिन निवृत्तानि कांक्षति ।२२॥
उदासीन वदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणावर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठतिनेङ्गते ॥२३॥
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः २४

मानापमानयो स्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः सउच्यते।
मांच योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
सगुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयायकल्पते ॥२६॥

हे अर्जुन! सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण के जो प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह रूप तीन कार्य हैं इन के स्वतः प्रवृत्त होने पर उन में आसक्ति नहीं करता और निवृत्त होने पर फिर ग्रहण की इच्छा नहीं करता है। जो उदासीन को तरह रहता है और सत्वादि गुणों के सुख दुःखादि रूप कार्यों से विचलित नहीं होता है किंतु ऐसा जानता है कि ये गुण अपने अपने कार्यों में स्वतः ही प्रवृत्त रहते हैं। जो पुरुष ऐसा रहता है और चंचल नहीं होता वह गुणातीत है। जो सुख दुःख में स्वस्थ अर्थात् मानसिक विकारों से रहित है, जिसको कङ्कड़ पत्थर और सुवर्ण तीनों समान हैं, जो धैर्यवान् है और जिस को स्तुति निन्दा समान है, वह पुरुष गुणातीत है। जो अपमान, मान और शत्रु मित्र को समान जानता है और जो किसी कार्य को (सकाम भाव से) आरम्भ नहीं करता है, वह गुणातीत है। जो कोई अनन्य भक्ति से मेरी सेवा करता है वह इन तीनों गुणों को लांघ कर ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है।

इस अवस्था में अन्तरात्मा अपनी उपाधियों (स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर) और प्रकृति के गुणों और विकारों द्वारा आवद्ध न रह कर उनसे मुक्त हो जाती है, बल्कि उन पर प्रभुता लाभ करती है और श्रीसद्गुरु द्वारा हृदय में आन्तरिक प्रेम-दीक्षा से दीक्षित हो कर श्रीपराशक्ति (आध्यात्मिक उर्ध्वकुण्डलिनी) की सहायता से त्रिगुण रूपी महासागर को पारकर शुद्ध चिच्छक्ति रूप वनजाती है जिसको श्रीपराशक्ति की सहचरी वनना अथवा गोपी भाव कहते हैं।

स्मरण रहे कि मनुष्य शरीर भी छोटा ब्रह्माण्ड है अर्थात् जितनी वस्तु ब्रह्माण्ड में है वे सब बीज रूप में शरीर में भी हैं, जिसके कारण इसका नाम पिण्डाण्ड है। साकेत, गोलोक, कैलास आदि जो श्रीभगवान् के लोक हैं वे इस शरीर में हृदय में हैं और इस हृदय में भी श्रीभगवान् वास करते हैं। "हृदि अयं हृदयम्" अर्थात् हृद् देश में श्रीभगवान् हैं इसी लिये "हृदय नाम" हुआ। अतएव बिना हृदय में प्रवेश किये कोई सीधे साकेत अथवा गोलोक में न जा सकता है और न श्रीभगवान् का सम्बन्ध, दर्शन और मिलन प्राप्ति कर सकता है। अतएव हृदय मुख्य है जिस को निर्मल, पवित्र, जाग्रत् और करुणापूर्ण प्रेम-मय बनाना चाहिये, जिस के होनेपर श्रीसद्गुरु उसके गुह्य भाग के द्वार को खोल कर भीतर प्रवेश करवादेंगे। श्रीसद्गुरु की कृपासे अज्ञानान्धकार के दूर हुए बिना साधारण हृदय का भी पता और अवलोकन नहीं हो सकता है, इसका गुह्य भाग तो दूर रहे। श्रीकबीर आदि महात्माओं ने अंतर के अनुपम दृश्य, झांकी और आनन्द के अनुभव का बड़ी सुन्दरता से वर्णन किया है जो परम सत्य है और वर्तमान काल में भी योग्यभाविकों को उस का अनुभव होता है।

ठीक समय पर यह प्रेम दीक्षा हृदय में अन्तरात्मा को श्रीसद्गुरु द्वारा दी जाती है। अबतक भाविक हृदय के प्रेम सरोवर के किनारे तक ही रहता था और उस की कणा मात्र के स्पर्श से गुजारा करता था; किन्तु अब श्रीसद्गुरु की कृपा से वह निर्भय हो कर श्रीसद्गुरु के हस्त कमल का आश्रय लेकर हृदय के प्रेम सरोवर में प्रवेश कर स्नान करता है जिस से वह प्रेम (रस) मय होकर गोपी भाव प्राप्त करता है अर्थात् तब वह प्रेम का रूप ही होजाता है। ब्रह्मोपनिषत् का वचन है:—

नेत्रे जागरितं विद्यात् कण्ठे स्वप्नं समादिशेत्।
सुषुप्तं हृदयस्थंतु तुरीयं तद्विलक्षणम्।

जीवात्मा का वास जाग्रत् अवस्था में नेत्र, स्वप्न में कण्ठ, सुषुप्ति में हृदय और तुरीया में इस से विलक्षण है। जीवात्मा स्वप्न के बाद कभी २ स्वयं सुषुप्ति अवस्था में जाती है किन्तु दीक्षा की साधना से विहीन रहने के कारण उसके अनुभव का उसे ज्ञान नहीं रहता है, केवल आनन्द की स्मृति रह जाती है। सुषुप्ति केवल लय की अवस्था नहीं है। किन्तु अपनी इच्छा से जब चाहे तब सुषुप्ति अवस्था में जा कर वहां का अनुभव भी जागृति में बना रहे यह साधारण लोगों में नहीं है। श्रीसद्-गुरु दीक्षा द्वारा जब हृदय के अन्धकार को दूर कर प्रकाश कर देंगे तब से वहां के अनुभव की स्मृति जीवात्मा को जाग्रत् अवस्था में भी रहेगी। साधारण सुषुप्ति में भी मनुष्य हृदय के-बाह्य भाग ही में स्थित होता है किन्तु श्रीसद्गुरु द्वारा प्रेम दीक्षा पाने पर जब वह उस के गुह्यभाग अर्थात् अंतः पुर में जिस को मानस सरोवर भी कहते हैं प्रवेश करता है वही तुरीया-वस्था और गोपी भाव है।

पद्मपुराण के पाताल खंड के अध्याय ४३ में कथा है कि अर्जुन के श्रीभगवान् के निज लोक के रहस्य और उसमें प्रवेश की उत्कंठा होने पर श्रीभगवान् ने उनको श्रीत्रिपुरासुन्दरी (पराशक्ति) की उपासना करने का उपदेश दिया। श्रीभगवान् ने अर्जुन को ऐसा कहाः—

यस्यांसर्व्वंसमुत्पन्नं यस्यामद्यापि तिष्ठति।
लयमेष्यति तांदेवीं श्रीमत्त्रिपुरसुन्दरीम् ॥१८
आराध्यपरयाभक्त्या तस्मैस्वञ्च निवेदय।
तां विनैतत्पदं दातुं न शक्तोऽस्मिकदाचन ॥१९॥

पद्मपु० पा० ख० अ० ४३

जिस से सम्पूर्ण विश्व उत्पन्न होता है, जिसमें अब भी स्थित है, जिस में लय होगा, उन त्रिपुरासुन्दरी (पराशक्ति) को पराभक्ति

(प्र म-यज्ञ) से आराधना कर उन्हीं में आत्मनिवेदन करो। विना उन की कृपा के मैं तुम को परम पद (विहार-लीला) में युक्त करने में असमर्थ हूं। अर्जुन के उपासना करने पर और पराशक्ति में अपने को समर्पण करने पर ऐसी आज्ञा हुई :—

ततोमयि प्रसन्नायां तवानुग्रहकारणात्।
सद्यस्तु कृष्णलीलायामधिकारो भविष्यति ॥४३

तत्रैव।

श्रीदेवी ने कहा कि मेरी प्रसन्नता के कारण तुम्हारे कल्याण के निमित्त तुम को शीघ्र श्री कृष्णलीला में प्रवेश करने का अधिकार प्राप्त होगा। इस के वाद श्रीपराशक्ति द्वारा नियोजित उन की सहचरी (श्रीसद्गुरु) की दीक्षा से दिव्य दृष्टि (आध्यात्मिक तृतीयचक्षु जिस को मुख्य कर हृदय से सम्बन्ध है) को पाकर अर्जुन ने श्रीभगवान् के दिव्य लोक को देखा जो सिद्धों को भी अगोचर है। दिव्य लोक के दर्शन से अर्जुन अचेत होगए किन्तु उक्त श्रीसद्गुरु रूपी शक्ति की सहचरी जो उन के साथ थी उन्होंने सचेत किया। फिर सहचरी के उपदेश से अर्जुन ने वहां के रम्य सरोवर में स्नान किया और स्नान के वाद वाहर आने पर अपने को सुन्दरी वाला (शुद्ध चिच्छक्ति) के रूप में पाया और पूर्व अवस्था की भावना एकदम विस्मरण हो गई किन्तु देवी का सम्बन्ध विस्मरण नहीं हुआ। तब अर्जुन को दिव्यलोक की गोपियों के दर्शन हुए और उनलोगों की सहायता से वहां के दो सरोवरों में स्नानकरने पर श्रीभगवान् की आज्ञा से श्रीराधा जी ने उन को श्रीभगवान् के सन्निकट वुलवा लिया और तव उनको दर्शन मिले और वे नित्यलीला में युक्त हुए। उक्त पुस्तक के ४४ वें अध्याय में कथा है कि श्रीभगवान् के दिव्य-लोक में श्रीभगवान् की आज्ञा से श्रीब्रह्मा जी ने सद्गुरु बनकर श्री नारद जी को अमृत सरोवर में स्नान कराया (दीक्षा दी) जिस के वाद वे स्त्री रूप में परिणत हो गये और ऐसा परिवर्तन

होने पर ही श्रीपराशक्ति की कृपा से उन को श्रीभगवान् के दर्शन हुए। श्रीनारद जी की कथा में लिखा है कि श्रीवृन्दावन की यमुना सुषुम्ना नाडी है। जैसा कि "कालिन्दीयं सुषुम्ना या परमामृत-वाहिनी"।

गर्ग संहिता के गोलोक खंड में कथा है कि श्री महारास के समय में जब रास स्थल में श्री रुद्र और श्री आसुरि मुनि का आगमन हुआ और जब उन लोगों ने रास के देखने की इच्छा प्रकट की तो प्रहरी गोपियों द्वारा वे रोकदिये गये और कहा गया कि रासमण्डल में केवल एक पुरुष श्री भगवान् हैं और वहां विना गोपी यूथ के दूसरा कोई नहीं जा सकता है; किन्तु यदि आप लोग इसमें प्रवेश करना चाहते हैं तो मान सरोवर में स्नान करें जिससे गोपी रूप की प्राप्ति होगी और तभी लीला की परिधि में प्रवेश पा सकते हैं। यह कथा रूपक है और यहां श्रीरुद्र से जगद् गुरु श्री शिव से तात्पर्य्य नहीं है।

उपासक को श्री उपास्य में युक्त करने के लिये श्री जगद्गुरु शिव को योग ज्ञान के सिवाय प्रेम की दीक्षा भी देना पड़ता है।

ऊपर की कथाओं में इस अवस्था के भाविक की आंतरिक अवस्था का रूपक में वर्णन है। आत्मनिवेदन करने पर श्री परा-शक्ति और श्री सद्गुरु की कृपा से प्रथम प्रेम-दीक्षा द्वारा श्री शिव का त्रितीय नेत्र रूपी दिव्य (आध्यात्मिक) चक्षु के जाग्रत् होने और खुलने से वह हृदय के अष्टदल कमल में जो श्री उपास्य का दिव्यलोक है उसमें प्रवेश करता है और फिर वहां के प्रेमसरोवर में स्नान कर अर्थात् वहां ही द्वितीय दीक्षा पाकर वह पुरुष भाव से नितान्त मुक्त हो जाता है, अर्थात् अन्तरात्मा अहंकार भाव से पूर्ण मुक्त हो जाती है। इसकी पूर्व की अवस्था में भाविक को दिव्य लोककी झलक और उसके प्रेम सरोवर के रसकी कणा का आस्वाद मिलता था किन्तु उसमें प्रवेश करने में वह समर्थ नहीं था।

इस आत्मनिवेदन के बाद श्रीसद्‌गुरु की दीक्षासे वह गोपीभाव प्राप्त करता है। फिर उसको दो और दोक्षामें होती हैं और तब ऐसा भाविक यदि श्रीकृष्णोपासक है तो श्रीराधाजी की कृपा से उन की सहचरी बनकर श्रीभगवान् की नित्य गोलोक (वृन्दावन) लीला में प्रवृत्त होता है जो उसके हृदय ही में हो रही है। यदि भाविक विष्णुभक्त है तो हृदेश के वैकुण्ठ में श्रीलक्ष्मी जी का सहचरी बन कर श्रीभगवान् की नित्य लीला में प्रवेश करेगा। श्रीरामोपासक हृदेश के साकेतमें श्रीसीता जी की सहचरी बनकर नित्य विहार-लीला में युक्त होंगे. श्रीशिव अथवा शक्ति क उपासक हृदेश के कैलास क्षेत्र में श्रीपार्वती जी की सहचरी बनकर नित्य विहार-लीला में स्थान पावेंगे। यह गोपी भाव शुद्ध आध्यात्मिक है और केवल श्रीसद्‌गुरु की साक्षात् प्रेम-दीक्षा से प्राप्त होता है। और भी वहां (पताल खंड में) गोपियों के विषय में लिखा है:—

एताःश्रुति गणाः ख्याता एताश्च मुनयस्तथा ॥१०४॥
अत्र राधापतेरंगात् पूर्वायाः प्रेयसीत्तमाः ॥१०५॥
अतः परं मुनिगणा स्तासां कतिपया इह ।
इदमुग्रतपानाम एषा बहुगुणा स्मृता ॥११५॥

तत्रैव

दिव्यलोक में किसी गोपी ने अर्जुन से कहा कि ऐ ! श्रीभगवान् की गोपियां श्रुतियां और भी मुनिगण हैं। ये परम प्रिया गण पूर्व में श्री राधापति के अंग से निकले—(अर्थात् चिच्छक्ति हैं)। जो मुनि गण श्रीभगवान् की सेविका हैं उनमें यह उग्रतपा हैं अर्थात् बड़ी तपस्या की है और यह अनेक गुण वाली हैं।

उक्त पाताल खण्ड के अ० ५१ में श्रीभगवान् और रुद्र का संवाद है जिस में श्रीभगवान् का वाक्य है :—

सखायः पितरो गोपा गावो वृन्दावनं मम ।
सर्वमेतन्नित्यमेव चिदानन्दरसात्मकम् ॥७५॥
इदमानन्दकन्दाख्यं विद्धि वृन्दावनं मम ।
यस्मिन् प्रवेशमात्रेण न पुनः संसृतिं विशेत् ॥७६॥
वृन्दावनं परित्यज्य नैवगच्छाम्यहं क्वचित् ।
निवसाम्यनया सार्द्धमहमत्रैव सर्व्वदा ॥७८॥
सकृदावां प्रपन्नो यस्त्यक्तोपाय उपास्यते ।
गोपीभावेन देवेश ! समामेति न चेतरः ॥८२॥

इस (आध्यात्मिक) भाव में मेरे सखा, पिता, माता, गोपगण, गौ, वृन्दावन ये सब नित्य चिदानन्द रसात्मक हैं । इस आनन्दकन्द भाव को वृन्दावन समझो जिस में प्रवेश करने मात्र से फिर संसार-बन्धन में नहीं पड़ता है । मैं वृन्दावन को त्याग कर कहीं अन्यत्र नहीं जाता हूं, यहां अपनी विद्या के साथ सदा रहता हूं । जो हमदोनों में (श्रीउपास्य और उन की शक्ति) एक वार निवेदन करके और अनन्य भाव के कारण दूसरे उपाय को त्याग कर गोपीभाव (शुद्ध चिच्छक्ति) बन कर मेरी उपासना करता है वह मुझ को प्राप्त करता है, अन्य को नहीं । ऊपर के वचनों से इस भाव की आध्यात्मिकता भलीभांति स्पष्ट सिद्ध होती है ।

व्रज की गोपियों ने भी श्रीभगवान् की प्राप्ति के लिये श्रीकात्यायनी (पराशक्ति) की आराधना की और गर्ग संहिता में लिखा है कि श्रीराधा जी ने भी सनातन प्रथा के अनुसार श्रीभगवान की प्राप्ति के लिये श्रीतुलसी की आराधना की ।

इस अवस्था की प्राप्ति के लिये श्री सद्गुरु और पराशक्ति की प्रत्यक्ष सहायता की आवश्यकता है । अबतक श्रीसद्गुरु भाविक के हृदयमें अपने तेज को प्रेषण कर और आवश्यक भावना को उत्पन्न कर सहायता करते थे और कभी २ अंतर में दर्शन भी देते थे किन्तु

इसअवस्था में श्री सद्गुरु हृद्देश में प्रत्यक्ष होकर और पराशक्ति की विशेष ज्योति को वहां जाग्रत् कर अन्तरात्मा को दीक्षा देते हैं और अन्तरस्थ चक्रों की शक्तियों को स्वयं जाग्रत् कर भाविक की अन्तरात्मा को गोपी भाव (चिच्छक्ति रूप) में परिवर्तित कर देते हैं।

ब्रह्मवैवर्त पुराण, श्रीकृष्णजन्मखंड, अ० ११० में कथा है कि श्रीभगवान् ने श्री नन्दयशोदा को रहस्य के उपदेश के लिये श्री राधा जी (पराशक्ति) के निकट भेजा। श्रीभगवान् ने श्रीयशोदा से कहाः—

भक्तात्मकञ्च यज्ज्ञानं तुभ्यराधा प्रदास्यति।
तस्याश्च मानवं भावं त्यक्त्वा ज्ञाश्चकारिष्यति।
नन्दायदत्तंयज् ज्ञानं तच्चतुभ्यं प्रदास्यति।
गच्छ नन्दव्रजं मातर्नन्देन सहसादरम्।

श्रीभगवान् ने कहा कि हे माता! भक्ति सम्बन्धी ज्ञान तुम को श्री राधा जी देंगी। उन को मनुष्य नहीं मान उन की आज्ञा का पालन करो। जो ज्ञान उन्होंने श्री नन्द जी को दिया वह तुम को भी देंगी। अतएव श्री नन्द जी के साथ व्रज में जावो।

इस भाव की मुख्य अधिष्ठात्री श्रीपराशक्ति की किस प्रकार प्रसन्नता लाभ होगी यह पृष्ठ ४३१ में कहा जा चुका है। सारांश यह है कि प्रत्येक जीवात्मा पराशक्ति की चिच्छक्तिमात्र (सहचरी) है और प्रेम-यज्ञ अथवा विहार लीला में सहायता करने के लिये ही उस का प्रादुर्भाव हुआ और उस की सब शक्तियां श्रीपराशक्ति की शक्तियां हैं। इस सम्बन्ध और उद्देश्य को भूल कर जीवात्मा को अहंकार (पुरुषभाव) के कारण उन शक्तियों को अपनी वस्तु मान उन को प्रेमयज्ञ में नियोजित न कर, जिस के निमित्त वे दीगईं, उस यज्ञ के विरुद्ध, स्वार्थ-साधन में प्रयोग करना; असुरभाव है, जिस का दमन करना पराशक्ति की प्रसन्नता के लिये आव-

श्यक है। श्रीमद्भगवद्गीता में इस असुर भाव का यों वर्णन है:—

दंभो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेवच ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम्॥४॥

अ० १६

दंभ, दर्प, अभिमान, क्रोध, अतिनिष्ठुरता और अज्ञान आसुरी संपद् के छः गुण हैं, जो आसुरी सम्पद् सम्पन्न हो कर जन्म ग्रहण करते हैं उन को ये सब आश्रय करते हैं। दैवी सम्पत्ति (देखो गीता अ० १६ श्लोक १ से ३ तक) द्वारा आसुरी सम्पत्ति का पराभव करने और काम क्रोध लोभ का वलिदान देने से पराशक्ति को विशेष प्रसन्नता का लाभ होता है। पराशक्ति के भी अनेक भाव हैं। श्रीकालीशक्ति की क्रियाशक्ति अर्थात् कर्मयोग (पंचमहायज्ञादि निष्काम कर्म) द्वारा आसुरीभाव (तमोगुण) का पराभव होता है और यही मार्कण्डेय पुराण की सप्तशती के युद्ध का आन्तरिक तात्पर्य्य है। श्रीगायत्री की ज्ञानशक्ति (ज्ञानयोग) द्वारा स्वार्थ (रजोगुण) का पराभव होता है, और श्रीलक्ष्मी, श्रीपार्वती, श्रीसीता अथवा श्रीराधा जी की आनन्दमयी शक्ति (भक्तियोग) द्वारा सत्व-गुण का पराभव होकर शुद्ध प्रेम (भक्ति) की प्राप्ति होती है जो तीनों गुण से परे है। इस आनन्दमयी शक्ति को इच्छा शक्ति और कामशक्ति भी कहते हैं और यही शक्ति सृष्टि का बीज है। इसी कारण श्रीउपास्य और उन की आनन्दमयी शक्ति के सम्बन्ध को विहार-लीला अथवा प्रेम-यज्ञ कहते हैं। इस शक्ति की गायत्री का नाम काम गायत्री है और बीज का नाम कामबीज है, क्योंकि यह शुद्ध आनन्द भाव है। यथार्थ काम यह आनन्द भाव ही है और नश्वर सुख जो रजोगुण के विषय के सम्बन्ध द्वारा मिलता है वह इस की छाया मात्र होने के कारण स्पृहा अथवा अशुद्ध काम है, कदापि आनन्द नहीं है।

यथार्थ में परम प्रेम (आनन्दमयी शक्ति) रूपी श्री गंगा जी का प्रवाह श्री भगवान् के चरण कमल से निकल कर प्रथम श्री महादेव (जगद्गुरु) की जटा में आश्रय लेता है और फिर उनके द्वारा इस विश्व में प्रवाहित होता है। अतएव श्री सद्गुरु ही इस प्रेमगंगा के भण्डारी हैं और केवल उन्हीं के सम्बन्ध और कृपा से इस प्रेम गंगा का स्नान और पान सम्भव है। जैसे प्रत्येक भाव में तीन अन्तर्भाव होते हैं, उसी प्रकार प्रत्येक अन्तर्भाव की भी तीन अवस्थायें होती हैं जिस के कारण प्रत्येक भाव के नौ भाग हुए। प्रत्येक अन्तर्भाव अर्थात् आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक की तीन अवस्थायें होती हैं प्रथम प्रारम्भिक अथवा प्रवेशिका अवस्था, दूसरी मध्य अर्थात् साधना की अवस्थाऔर तीसरी परिपक्वता अर्थात् सिद्धा अवस्था। इसी प्रकार इस आत्म निवेदन के आधिदैविक भाव की भी तीन अवस्थायें हैं।

यह मधुर (गोपी) भाव अनादि है। पूर्वकाल में इस भाव के भाविक श्री बलि, श्री प्रह्लाद, श्री शुकदेव, श्री विभीषण आदि थे। यह प्रेम अन्तरात्मा का शुद्ध स्वरूप होने के कारण अमिट और अटूट है और मान लीजिये कि यदि कदाचित् श्री उपास्य परीक्षा के लिये रुष्ट होकर भाविक को त्याग भी करदें और कष्ट में डालदें, तथापि यह वैसाही बना रहेगा और घटने के बदले वृद्धि पावेगा।

श्रीपराशक्ति जब व्यक्त भाव धारण करती हैं तो वे स्वयं भक्तों के बोध के लिए इस भाव को प्रकट करती हैं। श्रीसती और श्रीपार्वती जी ने दक्ष और हिमवान् के गृह में जन्म लेकर इस भाव को दिखलाया था। श्रीसती ने दक्ष यज्ञ में श्रीमहादेव की निन्दा सुनतेही योगाग्नि से अपने शरीर को इस लिये दग्ध किया कि वह शरीर शिवनिन्दक पिता से सम्बन्ध रखता था।

श्रीपार्वती जी ने श्री सप्तर्षि द्वारा श्रीमहादेव के संग विवाह करने से विरत होने के लिये उपदेश पा कर उन्हें जो नीचे दी हुई बात कही वह इस भाव की अनन्यता की उत्तम निष्ठा है:—

जन्म कोटि लगि रगर हमारी। वरौं शम्भु न तु रहौं कुमारी।
तजौं न नारद कर उपदेशू। आप कहहिं शत वार महेशू।

परम पावन श्रीरामावतार में मधुरोपासना के लिये बहुत उत्तम सामग्रियां संसार को मिलीं। श्रीभगवान् के जितने गुण और भाव हैं सबों के बड़ी सुन्दरता से इसमें विकाश हुए। इस अवतार के अनुपम भाव और रहस्य का वर्णन ठीक २ कौन कर सकता है? यहां संक्षेप में कुछ दिखलाया जाता है और इसमें प्रमाण केवल गोस्वामी श्री तुलसीदास जी के श्री रामचरितमानस से लिया गया है। श्री भगवान् के मनोहर रूप का प्रभाव जो श्री जनक जी पर पड़ा उसका वर्णन यों है:—

मूरति मधुर मनोहर देखी, भये विदेह विदेह विशेषी।
ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा, उभय वेष धरि सोई कि आवा।
सहज विराग रूप मन मोरा, थकित होत जिमि चन्द्र चकोरा।
इनहि विलोकत अति अनुरागा, बरबस ब्रह्म सुखहि मन त्यागा।
सुन्दर श्याम गौर दोउ भ्राता, आनन्द हू के आनन्द दाता।

श्री भगवान् को देख कर जनकपुर के नरनारी बालकों में प्रेम का उपजना, श्रीचित्रकूट में कोलभिल्लों में भी श्रीभगवान् के प्रति प्रेम का उत्पन्न होना और उस प्रेम को सेवा द्वारा प्रकाशित करना, और वन पयान के समय ग्रामवासियों के चित्त में प्रेम का उद्रेक होना, इस मधुर भाव का ही प्रभाव है, क्योंकि ये सब उनको श्रीभगवान् न जान केवल मनुष्य मान कर उनके मधुर भाव के कारण ही आसक्त हुए। वन गमन के समय के मार्ग के पुरवासियों के भाव का वर्णन यों है:—

सुनत तीरवासी नरनारी। धाये निजनिज काज बिसारी॥
राम लषण सिय सुन्दरताई। देखि करहिं निज भाग्य बड़ाई॥
रामलषण सिय रूप निहारी। शोच सनेह विकल नर नारी॥
करि केहरि वन जाहिं न जोई। हम संग चलहिं जो आयसु होई॥

जाब जहां लगि तहं पहुंचाई। फिरब बहोरि तुमहिं सिरनाई॥
सुनि सब बाल वृद्ध नरनारी। चलहिं तुरत गृह काज बिसारी॥
राम लषण सिय रूप निहारी। पाइ नयन फल होहिं सुखारी॥
सजल नयन अति पुलक शरीरा। सब भये मगन देखि दोउ बीरा॥
बरणि न जाइ दशा तिन केरी। लही रङ्क जनु सुरमणि ढेरी॥
एकहिं एक बोलि सिख देहीं। लोचन लाहु लेहु क्षण येही॥
रामहिं देखि एक अनुरागे। चितवत चले जाहिं संग लागे॥
एक नयन मगु छवि उर आनी। होहिं शिथिल तन मानसजानी॥
एक कलश भरि आनहिं पानी। अंचइय नाथ कहहिं मृदुबानी॥
मुदित नारिनर देखहिं शोभा,। रूप अनूप देखि मन लोभा॥
इक टक सब जोवहि चहुं ओरा। रामचन्द्र मुख चन्द्र चकोरा॥
तरुण तमाल बरण तनु सोहा। देखत काम कोटि मन मोहा॥
राम लषण सियसुन्दरताई। सबचितवहिं मनबुधिचितलाई॥
थके नारि नर प्रेम पियासे। मनहु मृगी मृग देखि दियासे॥
एक कहहिं यह सहज सुहाये। आपु प्रकट भे विधि न बनाये॥
जहंलगि वेद कहहिं विधि करणी। श्रवण नयन मन गोचर बरणी॥
देखहु खोजि भुवन दश चारी। कहं अस पुरुष कहां असनारी॥

दोहा।

इहि बिधि कहि कहि वचन प्रिय, लेहिं नयन भरि नीर।
किमि चलि हैं मारग अगम, सुठि सुकुमार शरीर।

चौपाई।

परसत मृदुल चरण-अरुणारे। सकुचति महि जिमि हृदय हमारे॥
जो जगदीश इनहिं बन दीन्हा। कसन सुमनमय मारग कीन्हा॥
जो मांगे पाइय विधि चाहीं। राखिय सखि इन आंखिन माहीं॥
जे नर नारि न अवसर आये। ते सियराम न देखन पाये॥
सुनि स्वरूप पूछहिं अकुलाई। अब लगि गये कहां लगि भाई॥
समरथ धाइ बिलोकहिं जाई। प्रमुदित फिरहिं जन्म फल पाई॥

दोहा ।

अवला बालक वृद्ध जन, करमीजहिं पछिताहिं ।
होहिं प्रेम वश लोग इमि, राम जहां जहं जाहिं ।

चौपाई ।

सुखपायो विरञ्चि रचि तेही । ये जेहिके सब भांति सनेही ।
खगु मृग मगन देखि छवि होहीं । लिये चोरि चित राम बटोही ॥
अजहु जासु उर सपनेहु काऊ । बसहि राम सिय लषण बटाऊ ॥
राम धाम पथ जाइहि सोई । जो पथपाव कबहु मुनि कोई ॥

श्रीचित्रकुट के कोल भिल्ल किरात के प्रेम का वर्णन उनकी उक्ति द्वारा यों है:—

धन्य भूमि वन पन्थ पहारा । जहँ तहं नाथ पांव तुम धारा ॥
धन्य विहंग मृग कानन चारी । सुफल जन्म भये तुमहि निहारी ॥
हम सब धन्य सहित परिवारा । देखि नयन भरि दरश तुम्हारा ॥
दो० वेद वचन मुनि मन अगम, ते प्रभु करुणा पेन ।
वचन किरातन के सुनत, जिमि पितु बालक बैन ।

इस अवतार में श्रीभगवान् का गुहनिषाद को मित्र बनाना, शबरी के जूठे फलका खाना, पक्षी काक भुशुंडि को भक्ति प्रदान करना, पिता की आज्ञा और सत्य के पालन के लिये वनवास का कष्ट प्रसन्नता से सहकर संसार का उपकार करना, भालू बन्दरों से मित्रता करनो, राक्षस श्रीविभीषण को शरणागत देना आदि परम मधुर भाव हैं । मधुर भाव का तत्त्व है कि इसमें उपासक श्री उपास्य के मधुर (त्याग-करुणा) भाव से स्वयं आकर्षित हो कर, निष्काम प्रेम-सेवा के लिये आत्मनिवेदन करता है और श्रीउपास्य भी उपासक के आंतरिक प्रेम और त्याग के कारण, नकि भोग, द्रव्य आदि वाह्य उपहार के लिये, आकर्षित होते हैं । श्री भगवान् ने दुर्योधन के घर में परमोत्तम भोग को छोड़ कर विदुर के घर में भाजी खाई । थोड़े समय पूर्व यह देखा गया कि व्रज में

श्रीठाकुर जी किसी श्री गोस्वामी जी के परमोत्तम भोग को न ग्रहण कर एक गरीब साधुके यहां जो जैा की सूखी रोटी भोग लगती थी, उसको भोग लगाते थे। इस भाव में भाविक श्रीउपास्य को अपने प्रेमानन्द का उपहार सेवा के लिये समर्पण करता और श्रीउपास्य उसको प्रसाद बनाकर उसको जगत् के हित के लिये वितरण करते।

श्रीभरत, श्रीलक्ष्मण जी, श्रीहनुमान् जी आदि कृपापात्रों का त्याग इस अवतार में परम मधुर और प्रेमभाव का द्योतक है। श्रीसीताजी के वनवास के दुःख को परम सुख मानना, लङ्का में हरण होने पर अपने प्राण के वियोग की पूरी सम्भावना आने पर भी श्रीभगवान् पर निर्भर रहना, उन के मधुर भाव का अवश्य परमोत्कृष्ट पवित्र उदाहरण है किन्तु गर्भावस्था में वन में त्यागी जाने पर भी उस को श्रीभगवान् के यश की रक्षा के लिये उत्तम ही समझना और उस के लिये तनिक भी शोकित न हो कर बड़ी प्रसन्नता से वनवास के कष्ट को सहन करना ऐसा मधुरभाव है कि इस के विषय में यही कहना अलम् है कि "न भूतो न भविष्यति"। मधुरभाव की पुष्टि के लिये वियोग आवश्यक है। इस की भी श्रीसीता जी के इन दो बार के वियोग से और भी श्रीलक्ष्मण जी के त्याग से बड़ी सुन्दरता से पूर्ति हुई। [लंका में श्रीसीता जी की अग्नि-परीक्षा का तात्पर्य्य है कि भाविक प्रेमाग्नि और शोकाग्नि में पड़ने पर भी ज्यों का त्यों रहे, अपने भाव से न टगे, तभी वह परीक्षा में उत्तीर्ण होता है।

रावण भी श्रीरघुनाथ जी का वैरभक्त था और उस की निरन्तर इच्छा थी कि श्रीभगवान् के हस्तकमल से उस का वध होकर उनके समक्ष वह शरीर का त्याग करे। श्रीभगवान् ने उसकी इस इच्छाको पूर्ण कर उस पर अपनी करुणाही का प्रदर्शन किया। वैरभक्त भी वैरभाव के कारण दिनरात अपने चित्त को श्रीभगवान् ही में संलग्न

रखता है जिस सतत चिन्तन का उत्तम फल उस को अवश्य मिलता है।

श्रीभगवान् जो अपनी परम प्रियतमा पराशक्ति के सम्बन्ध से प्रेम-यज्ञ अथवा परम पावन अनादि विहार लीला करते हैं उस का भी अभिनय श्रीचित्रकूट मे किया गया। विनयपत्रिका में श्री चित्रकूट के विषय में यों लिखा है :—"भूमि विलोकु राम पद अङ्कित, वन विलोकु रघुवर बिहार थल।" श्रीचित्रकूट की रहस्य लीला का यों उल्लेख है :—

पर्ण कुटी प्रिय प्रीतम संगा, प्रिय परिवारु कुरंग विहंगा।
सीय लषण जेहि विधि सुख लहहीं, सोइ रघुनाथ करैं जोइ कहहीं।

चौपाई।

एकबार चुनि कुसुम सुहाये, निजकर भूषण राम बनाये।
सीतहिं पहिराये प्रभु सादर, बैठे फटिक शिला परमादर।
रघुपति चित्रकूट बसिनाना, चरित करत श्रुति सुधा समाना।

श्री जानकी जी के हरण होने पर श्रीभगवान् ने श्रीहनुमान् जी द्वारा उन के पास ऐसा संदेशा भेजाः—तत्त्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एक मन मोरा। सोमन रहत सदा तोहि पाहीं। जानु प्रीति रस इतने माहीं।

ऊपर का वाक्य श्री भगवान् और उनकी शक्ति के अनादि प्रेम सम्बन्ध का सूचक है।

लंका में रहने के समय श्री सीता जी की दशा का जो समाचार श्री हनुमान् जी ने श्री रघुनाथ जी को कहा वह इस मधुर भाव के भाविक के चित्त का ठीक द्योतक है:—

दोहा। नाम पाहरू दिवस निशि, ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन निज पद यन्त्रिका, प्राण जाहिं केहि बाट॥

श्रीभगवान् के इस परमपावन अवतार का स्वयंनाम ऐसा

मधुर है कि इसके प्रेमपूर्वक उच्चारण श्रवण सेही भक्तिभाव का संचार अनायाश होता है और कलियुग के लोगों के त्राण के लिये तो यह महामंत्र है जिस के उपदेश से श्रीमहादेवजी काशी में लोगों को मुक्ति के मार्ग में पदार्पण करवाते हैं। आत्मनिवेदित अथवा मधुरभाव के भक्त का तो यह नाम प्रण है। जब हिरण्य-कशिपु की आज्ञा से होलिका राक्षसी ने बालक श्रीप्रह्लाद को गोद में लेकर अग्नि में प्रवेशकिया तो होलिका जो अग्नि से जलने वाली नहीं थी वह तो जलगई किन्तु भक्त प्रह्लाद का इस रामनाम के प्रभाव से एक रोम भी दग्ध नहीं हुआ। तब श्रीप्रह्लाद ने पितासे ऐसा कहा—

रामनाम जपतां कुतोभयं, पावनैकभवताप-भेषजं। पश्यतात ममगात्रसन्निधौ, पावकोऽपि सलिलायतेऽधुना ॥

श्रीरामनाम के जपकरनेवाले को क्याभय है जो परमपावन और संसार तापकी औषधि है। देखो, हे पिता! मेरे शरीर के स्पर्श से अग्नि जल के समान होगई। श्रीभगवान् रामचन्द्र आदर्श पुत्र, आदर्श पति, आदर्श भ्राता, आदर्श प्रभु, आदर्श मित्र, आदर्श पिता, आदर्श शिष्य, अर्थात् सब प्रकार से आदर्श हुए।

द्वापर के अंत में, विशेष कर कलियुग के जीवों के हित के लिये श्री कृष्णावतार हुआ। महाविष्णु के सब अवतार और भाव यथार्थ में एक हैं, उन में भेद नहीं है और भिन्न २ समय की आवश्यकता के अनुसार भिन्न रूप धारण किया जाता है। अतएव श्रीरामावतार और श्रीकृष्णावतार में वास्तविक भेद नहीं है। विशेष कर कलियुग केलिये दोनों अवतार आदर्श हैं। इसी कारण कलि संतारणोपनिषत् में जो नामका महामंत्र कलियुग के लिये उक्त है उस में दोनों

अवतारों का नाम है। देखो प्रथम खंड पृष्ठ ३२८। गर्ग संहिता का वचन है :—

त्वं रामचन्द्रा जनकात्मजेयं भूमौहरिस्त्वंकमलालयेयम्। यज्ञावतारोसि यदातदेयं श्रीदक्षिणास्त्रीपातिपत्निमुख्या ॥३२

गोलोक खंड अ० १६

श्रीकृष्णचन्द्रो रघुवंशचन्द्रमायदा तदात्वंजनकस्यनंदिनी।

ऐ० मथुरा खंड अ० १५

श्री ब्रह्माजी ने श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्र से कहा कि जब आप श्रीभगवान् रामचन्द्र थे तो श्रीराधा जी श्री जानकी थीं और जब आप श्री विष्णु थे तो वे श्री लक्ष्मी थीं और जब आप यज्ञ पुरुष थे तो वे दक्षिणा थीं। श्रीउद्धव ने श्रीराधा जी से कहा कि जब श्री कृष्णचन्द्र श्री रघुनाथ जी थे तब आप श्री जानकी जी थीं।

गोपी भाव।

श्री कृष्णावतार के बाद ही कलियुग आनेवाला था, अतएव इस अवतार में, विशेषकर कलि के अल्पज्ञ लोगों के हित के लिये, चरित्र किए गए। कलियुग में विरक्त धर्म का निर्वाह कठिन होगा ऐसा जान श्रीभगवान् ने श्री अक्रूर, श्री उद्धव और श्री अर्जुन आदि गृही को अपना सखा बना और ज्ञान भक्ति का उपदेश करके दिखला दियाः कि कलि में गृहस्थाश्रम में रहकर भी श्रीभगवान् की परम भक्ति की प्राप्ति सम्भव है। इसी प्रकार कलियुग के लोग प्रेम के तत्त्व को पूर्व के प्रेमियों के चरित्र द्वारा ठीक ठीक नहीं समझ सकेंगे, ऐसा जान आत्मनिवेदित भक्तों को गोपी रूप में ब्रज में प्रकटकर इस प्रेम भक्ति मार्ग को भलीभांति उनके पावन चरित्र द्वारा प्रगट करवा दिया गया। गर्ग संहिता में कथा है कि

स्वयं सिद्धमुनिगणों ने व्रज में गोपियां होकर जन्म लिया था और वे प्रेम की रूप ही थीं। और भी लिखा है कि गोपियां वेद की ऋचायें थीं।

परा शक्ति शब्द ब्रह्म अर्थात् प्रणव हैं। प्रणव से गायत्री और गायत्री से वेद और वेद की अंश ऋचायें हैं। श्रीभगवान् महेश्वर के "एकोऽहं बहुस्याम्" रूपी संकल्प के अनुसार शब्द ब्रह्म स्पंदित और उत्तेजित होकर गायत्री (ज्योति), वेद (चिच्छक्ति अथवा आनन्दमयी शक्ति) और ऋचायें (चिदंश) रूप धारण करती हैं। श्रीभगवान् की पराशक्ति की चिच्छक्ति और चिदंश भाव के साथ युक्त होने पर यह विश्वरूपी लीला प्रगट होती है और उसी द्वारा जारी रहती है। इस अवतार में श्रीभगवान् के प्रकट होने पर चिच्छक्ति (ज्ञान शक्ति) श्री राधा रूप में प्रकट हुई और उनकी सहचरी चिदाभास गोपियां हुईं।

मधुर भाव का पूर्ण विकाश करना इस अवतार का मुख्य उद्देश्य है जो बड़ी सुन्दरता से पूर्ण हुआ। मधुरभाव में त्याग आवश्यक है जो श्रीरामावतार की भांति यहां भी दिखलाया गया। श्री भगवान् का स्वयं जन्म कारागार में हुआ जहां उनके माता पिता बन्दी थे और उनके माता पिता को बाललीला के चरित्र निरीक्षण के आनन्द का सौभाग्य त्याग करना पड़ा और उस आनन्द को श्रीनन्द यशोदा को देनापड़ा। जब बाल्यावस्था में गोकुल में पूतना आदि के अनेक भय होने लगे तो श्रीनन्दजी सपरिवार गोकुल छोड़कर श्रीवृन्दावन की ओर चले गये।

इन श्री भगवान् की मधुर उपासना श्रीवृन्दावन में बाल्यावस्था में रहने के समय की ही की जाती है जहां मधुर भाव की सब सामग्रियां एकत्र थीं। ब्रजभूमि और श्रीयमुना जी इस समय में भी परम रम्य और मनोहर हैं। फिर श्रीभगवान् के आगमन के समय का तो कहना ही क्या है? इस समय में भी ब्रज के ऐसे भाविक लोग कहीं अन्यत्र नहीं जान पड़ते और वहां की भाषा अब भी परम

मधुर है। सब जातियों में गोप अर्थात् वैश्यजाति विशेष दयालु और परोपकारी होती है, अतएव इसी जाति को श्रीभगवान् की बाललीला को क्रीड़ा देखने और उसमें योग देने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। गौ से अधिक स्वयं उपयोगी और उपकारी जीव संसार में नहीं है, क्योंकि उस के दूध, घृत, मूत्र, विष्ठा तक परम उपयोगी हैं। अतएव श्री भगवान् ने गौ की सेवा कर के मधुर भाव का उत्तम उदाहरण संसार को दिखलाया। वृक्षों में भी परम सुन्दर कदम्ब वृक्ष है और इसी सुन्दर वृक्ष से श्रीभगवान् ने अधिक सम्बन्ध रक्खा। दृश्यों में बन का दृश्य अवश्य अपूर्व होता है और बन फल, फूल आदि द्वारा मनुष्य को और चारा द्वारा पशु को तृप्त करता है, अतएव मधुर और उपकारी है। इसी कारण श्रीभगवान् अधिक कर बन में रहते थे, बन के फूलों की ही माला धारण करते थे, और लीला भी वहां ही की गई। उन का नाम ही वनविहारी है। सब वर्णों में पीत वर्ण परमोत्तम है, यह प्रेम का वर्ण है, अतएव श्री भगवान् का वस्त्र पीत है। पक्षियों में मोर सुन्दर पक्षी है और वह भी मेघ का परम प्रेमी है, अतएव उस के पक्ष का मुकुट श्रीभगवान् ने मस्तक पर धारण किया। बाजे में वंशी से उत्तम किसी की ध्वनि नहीं है, अतएव उन्होंने वंशी को धारण किया। ऐसे परम मधुर श्रीभगवान् के व्रज के समान मधुर स्थान में मधुर गोप सखा के संग मधुर गोमाता की मधुर सेवा में अनुरक्त रहते हुए और अपनी मधुर वंशी की मधुर ध्वनि से लोगों को तृप्त करते हुए परम मधुर गोपियों ने प्रेम के मधुर भाव को साक्षात् दृश्य मान कर संसार को मधुर भाव में प्रवेश करने का मार्ग सुगम कर दिया।

इस समय के लोगों के लिये व्रज की गोपियां प्रेम की आदर्श है जैसा कि नारद सूत्र में भी लिखा है :—"यथा व्रज गोपिका-नाम्" अर्थात् परम प्रेम के लिये व्रज की गोपियों का आचरण ही दृष्टान्त है। ठीक है इन गोपियों के संसार में प्रकट करने का मुख्यो-

द्देश्य ही यही था, जैसा कि पहिले कहा जाचुका है। चूंकि यह मुख्य भाव है, और भक्ति-भाव का प्रायः अंतिम प्रकरण है, अतएव यहां पुनः उपसंहार की भांति भक्ति की साधना का दिग्दर्शन श्री गोपियों के चरित्र के सम्बन्ध में किया जायगा। आदर्श दिखलाने के निमित्त गोपियों के पावन चरित्र में भक्ति के भाव प्रारम्भिक अवस्था से सिद्धावस्था तक दर्शित हैं।

स्मरण रहे कि श्रीभगवान् की साकार लीला ऐतिहासिक तो अवश्य है अर्थात् मर्त्यलोक में की गई, किन्तु उस के द्वारा आध्यात्मिक तत्त्वों का भी प्रकाश किया गया। ऐसी ही श्रीकृष्णलीला भी है। इस के आध्यात्मिक रहस्यों को समझने के लिये यहां सृष्टि तत्त्व का बहुत संक्षेप में उल्लेख करना आवश्यक है, यद्यपि पृष्ठ ५३५ में भी इस का जिक्र हो चुका है। श्री भगवान् की शक्ति के संग क्रीडा (Motion) द्वारा तेजोमयी शब्द ब्रह्म (प्रणव-वंशी-ध्वनि) से यह सृष्टि हुई और चलती है। विज्ञान से भी सिद्ध है कि किसी क्रिया विशेष प्राकृतिक अथवा मानसिक, से स्पन्दन अर्थात् शक्ति (Motion) उत्पन्न होती और इस शक्ति रूपी स्पन्दन (Vibration) का आकार शब्द (Sound) है, और जहां स्पन्दन और शब्द हैं वहां ज्योति भी है। सूर्य्य के नाम "रवि" का अर्थ ही शब्द करनेवाला है; अर्थात् सूर्य्य में ज्योति है तो वहां शब्द भी है। इसी कारण गायत्री (शब्द) को सविता (ज्योति) से सम्बन्ध है। आधिभौतिक जगत् में भी यही क्रम है। प्रथम अदृश्य शब्द स्पर्श (आकाशवायु), तव ज्योति (सूक्ष्म रूप) और रस (अग्नि और जल) और अंत में गंध (पृथ्वी अर्थात स्थूल रूप) क्रम यह है। देखो पृष्ठ० २५८ का चित्र।

(१) श्रीभगवान्, महेश्वर, श्रीमहाविष्णु, श्रीसदाशिव, श्रीराम, श्रीकृष्ण अशब्द अर्थात् प्रणव की तीसरी मात्रा "म", (परब्रह्म को अर्द्धमात्रा मान कर) हैं (२) इनका "एकोऽहं वहुस्याम्" रूपी प्रेम-संकल्प ही इन की परा (आद्या) शक्ति,

प्रेमानन्दमयी चिच्छक्ति, परमज्योति, प्रणव की दूसरी मात्रा "उ", पराशब्द और श्रीलक्ष्मी, श्रीदुर्गा, श्रीसीता, और श्रीराधा हैं। श्रीभगवान् को अपनी पराशक्ति में सृष्टि-संकल्प रूपी प्रेमानन्द शक्ति का सञ्चार करनाही प्रेम यज्ञ अथवा लीला-विहार है और इसीको वंशीध्वनि भी कहते हैं। यह वंशीध्वनि अर्थात् शक्ति संचार रूपी विहार-लीला (प्रेमोच्छ्वास) अथवा प्रेम-यज्ञ नित्य होता रहता है जो संसार की स्थिति, जीवन और पालन का कारण है और जिस के रुकने से संसार की गति रुक जायगी। यह ध्वनि (गायत्री) अर्थात् प्रेम-लीला अथवा यज्ञ (यज्ञ का भी प्राण मंत्र शब्द है) श्री भगवान् और उन की परम प्रिया पराशक्ति के एकत्र होने से होता है, अन्यथा केवल एक से सम्भव नहीं है। पद्मपुराण के पाताल खण्ड, अध्याय ५० में लिखा है:—

बहिरंगैः प्रपञ्चस्य स्वांशैर्मायादिशक्तिभिः ॥ ५१ ॥
अन्तरंगैस्तथा नित्यं विभूतैस्तैश्चिदादिभिः ।
गोपनादुच्यते गोपी राधिका कृष्णवल्लभा ॥ ५२ ॥

अपने अंश माया (मूल प्रकृति) द्वारा बाह्यप्रपञ्चरूप जगत् और चिच्छक्ति द्वारा अन्तरस्थ नित्य चैतन्य विभूति का गोपन अर्थात् रक्षा करने से गोपीनाम हुआ और वही श्री भगवान् की प्रिया राधिका हैं। (३) मूल प्रकृति भी पराशक्ति की छायामात्र हैं किन्तु सृष्टि की उत्पत्ति के निमित्त, विरोधभाव वाली होने पर भी आवश्यक हैं। बिना दो विरोधी पदार्थ के संयोग से सृष्टि हो नहीं सकती है।

(४) अप्राकृतिक ध्वनि अथवा प्रेम लीला से समष्टि सूत्रात्मा (समष्टि चैतन्य) की उत्पत्ति होती है और फिर इसी लीला द्वारा यह व्यष्टि (पृथक्) भाव में अनेक चिदात्मायें अथवा चिदंश बन जाते हैं जो परा शब्द की "पश्यन्ती" रूप हैं। ये चिदात्मायें (चिदंश) पराशक्ति की सहचरी अथवा गोपियां हैं। ये त्रिगुण

में गिरने पर जीवात्मा होती है और श्रीसद्गुरु की कृपासे त्रिगुण से मुक्त होने पर फिर पराशक्ति की "सहचरी" अथवा "गोपी" हो जाती हैं। गोपी भाव की प्राप्ति होने पर श्रीभगवान् इनमें भी अपनी प्रेम-शक्ति का संचार रूपी रासक्रीडा करते हैं ताकि वह प्रेम शक्ति इनके द्वारा संसार में प्रवाहित होकर संसार का कल्याण करे। श्रीभगवान् की प्रेम-शक्ति अथवा वंशोध्वनि को कोई विशेष प्रेमी पात्र ही ग्रहण कर सकता है और वह उस पात्र द्वारा नीचे के संसार में फैलती है। अतएव जितने अधिक भक्त आत्मनिवेदन कर इस रास क्रीडा में प्रवृत्त होते हैं उतना ही अधिक प्रेम-भक्ति का प्रचार उनके द्वारा संसार में होता है। जैसे ग्रेमोफोन यंत्र गीत को ग्रहण कर लेता है और तब से जब आवश्यक हो तभी उस गीत को व्यक्त करता है; उसी प्रकार जो आत्मनिवेदित अन्तरात्मा श्रीभगवान की प्रेमध्वनि (शक्ति) को अपने भीतर ग्रहण करेगी, वह स्वयं केन्द्र बन उसको संसार के कल्याण के लिये जगत् में फैलावेगी। यही गोपियों द्वारा आध्यात्मिक रास क्रीडा करना है और यही श्रीभगवान् के साथ रमण करना है। आत्मनिवेदन का अन्तिम लक्ष्य यही गोपी भाव है और व्रज की गोपी लीला में प्रारम्भ से अंत तक यही भाव दिखलाया गया है।

गोपी भाव के वर्णन के पहिले और उसकी उत्कर्षता को समझने के लिये यह वर्णन करना आवश्यक है कि श्रीभगवान् के आनन्द की छाया (प्रतिबिम्ब) फिर उस छाया की छाया, क्रमशः किस प्रकार त्रिगुण में पड़ी है और किस प्रकार जीवात्मा के पतन होने पर उस छाया के सहारे एक छाया की सीढ़ी से दूसरी छाया पर, फिर तीसरी पर, इसी प्रकार त्रिगुण से पार होनी है और तत्पश्चात् श्री भगवान् के शुद्ध आनन्द भाव में युक्त हो कर फिर स्वराज्य प्राप्त करती है। जीवात्मा किसी एक छाया में अनुरक्त रहने पर उसके ऊपर की छाया की उत्तमता का अनुभव होने पर

नीचे को छोड़ कर ऊपर जाता है, फिर इसी प्रकार उसके ऊपर, अंतमें छाया मात्र को अतिक्रम कर मूल में पहुंचता है। यद्यपि इसकी चर्चा प्रथम खंड के पृष्ठ ५६ से ६५ तक, और भी इस खंड के पृष्ठ ४२२ और ४६७ में हो चुकी है, तथापि विषय की परमोपयोगिता के कारण फिर भी उल्लेख करना आवश्यक है।

यथार्थ आनन्द का मूल तो श्रीभगवान् की स्वयं शक्ति (भाव) है जिस की छाया शुद्ध सात्विक, रजोगुण मिश्रित सात्विक, रजोगुणी और तमोगुणी विषयों में भी रहती है। संसार में जहां कहीं आनन्द की कणा अथवा सुख का भाव देखाजाता है वह श्रीभगवान् के आनन्द भाव का केवल प्रतिबिम्ब है। बृहदारण्यक उपनिषत् में लिखा है—

तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मात्।

ये श्रीभगवान् पुत्र से अधिक प्रिय, धनसे भी अधिक प्रिय और सब दूसरी वस्तुओं से अधिक प्रिय हैं। देखिये प्र० ख० पृष्ठ १८५।

प्रत्येक गुण में तीनों गुण अन्तर्गुण की भांति रहते हैं, अतएव तीन गुण के नौरूप हैं। बृहदारण्यक उपनिषत् के चौथा अध्याय के तीसरे ब्राह्मण के ३३ वें मंत्र में और तैत्तिरीय उपनिषत् के २ री ब्रह्मानन्द वल्ली के ८वें मन्त्र में ब्रह्मानन्द की क्रमागत छाया विषयों में पड़ने का वर्णन है। नीचे से ऐसा क्रम है—(१) तामसी सुख जो प्रायः परस्त्री गमन, मांस भोजन, परद्रव्यापहरण आदि द्वारा प्राप्त होता है, वह प्रायः दूसरों के धर्म को नाश अथवा उन को कष्ट देने से ही मिलता है, अतएव यह आसुरी है। इस में जो रत हैं उन को तो प्रवृत्ति मार्ग में भी पदार्पण करने का अधिकार नहीं है। (२) विवाहित भार्य्या और मांस के सिवाय अन्य भोज्य पदार्थ में आसक्ति, विषय सुख के लिये धनोपार्जन की लिप्सा आदि राजसिक सुख में प्रवृत्ति पशु धर्म है जो आसुर भाव को पराभव करने

से प्राप्त होता है; किन्तु यह भी निकृष्ट है। (३) पुत्र के उत्पन्न करने के लिये भार्य्या में आसक्ति, ऐहिक और पारलौकिक सुख के लिये पुत्र, धन, गृह आदि की कामना और धर्म की रक्षा कर के उन का संग्रह और पालन, स्वर्ग-प्राप्ति की कामना से कर्मों को करना और उस के लिये द्रव्य और वस्तु का संग्रह करना आदि सात्विक राजसिक भाव है जिस को देवभाव कहते हैं और यह पशु भाव के पराभव करने से प्राप्त होता है। यह प्रवृत्ति मार्ग है।

(४) स्त्री, पुत्र, परिवार, बन्धु, पड़ोसी, मित्र, दीन दुःखी, कोई पवित्र पात्र जो सहज में सुन्दर, मनोहर, चित्ताकर्षक बोध हो उनमें स्वाभाविक स्नेह अर्थात् इनसे कोई सुख अथवा लाभ के पाने की आशा न रख कर सहज, स्वाभाविक और अकृत्रिम स्नेह और उस के कारण उस की हितसाधना राजसिक सात्विक भाव है और यह निवृत्ति मार्ग की प्रथम सीढ़ी है। देव भाव के पराभव होने से यह भाव आता है। इस भाव में दीन दुःखियों पर दया और उनके दुःख की निवृत्ति के लिये चेष्टा मुख्य रहती है।

(५) जिन पवित्र शुद्ध सात्विक पात्र में स्वाभाविक और सहज स्नेह हो उन को श्री भगवान् की विभूति मान उन के चिंतन, सेवन द्वारा श्री भगवान् में निष्काम स्नेह करना शुद्ध सात्विक अर्थात् सात्विक भाव है और यह भगवत् प्रेम का बीज है। इस भाव में जीव दया, विशेष कर दीन दुःखियों पर करुणा और उनके हित साधन, इन की मात्रा अधिक बढ़ जाती है। श्रीमद्भा० पु० में लिखा है—सत्त्वेनान्यतमौ हन्यात्सत्त्वं सत्त्वेन चैवहि। सत्त्व से रज तम को नाश कर विशुद्ध सत्त्व से सत्त्वगुण का पराभव करे।

(६) स्नेह की अधिकता के कारण श्री भगवान् की "विभूति" में सेवा भाव की यथेष्ट पूर्त्ति न होने से *और उस से शान्ति को न

* शाण्डिल्य सूत्र का वचन है—प्राणित्वान्न विभूतिषु, प्राकृतिक प्राणी के नश्वर होने के कारण विभूति द्वारा भक्ति का लाभ नहीं हो सकता है।

पाने से जिसका अन्वेषण इस यात्रा में मुख्य है वह अपने स्नेह को सीधे आनन्द का मूल श्री भगवान् के साकार रूप में अर्पण करता है और विश्व को भी श्री भगवान् का रूप और अंश बोध कर उन में भी अनुराग रखता और विश्व के हितसाधन को श्री भगवान् की सेवा मानना। इस में शान्ति (मोक्ष) लाभ की आकांक्षा वर्तमान रहने पर यहां तक गुणमयी भाव है। देखिये प्र० खण्ड पृ० १६३। (७) जिस को श्री भगवान् की कृपा से उन की करुणा (मधुरता) की झलक का अनुभव होता है वह मोक्ष की आकांक्षा को त्याग कर श्री भगवान् के केवल इस करुणा (प्रेम) भाव में आसक्त हो जाता है और इससे कदापि पृथक् होना नहीं चाहता। तब उसका अनुराग प्रेम में परिणत हो जाता है। यहां से निर्गुण अर्थात् अप्राकृत भक्ति प्रारम्भ होती है जिस का अनेक भेद प्रथम खंड में कहाजा चुका है। देखिये पृष्ठ २६५ से २६६ तक। ऊपर के क्रम से जाना जायगा कि जिस में इन्द्रियों के विषय भोग की आसक्ति है उस का तो मधुर भाव की भक्ति में अधिकार ही नहीं है। पशु धर्म में रत विषयी ऐसे श्री भागवत पुराण, श्री गीतगोविन्द आदि मधुर भाव के ग्रन्थों के पढ़ने से शुद्धभाव की जागृति न होकर उनमें इस के परम विरुद्ध भाव की उत्पत्ति हो सकती है और वे पावन श्री कृष्ण लीला के तत्त्व को न जान कर (ज्ञान न पाकर) उस में विषय का सम्बन्ध समझेंगे। ऐसों का इस में अधिकार नहीं है। यह लीला भाव केवल भक्तों के लिये प्रकाशित किया गया है। कोई २ का मत है कि वर्तमान काल में श्री भागवत पुराण भक्तों के सिवाय अन्य से गुप्त रखना युक्त था।

श्रीभगवान् ही के आनन्द भाव का नाम "काम" है और वे ही यथार्थ "काम गुरु" हैं। इस काम के प्रतिबिम्ब "आसुर काम" को श्रीपराशक्ति श्रीकाली होकर नाश करती हैं, मलिन काम जो पशु भाव है वह पशुपति श्रीशिवजी के सम्बन्ध से शुद्ध सात्विक राजस होजाता है और यदि यह सात्विक राजस

(प्रवृत्तिमार्ग) बहुत प्रबल और दुष्ट होता तो श्रीशिवजी जो निवृत्ति-योगीश्वर हैं वे इस नीच कामदेव को अपने तृतीय नेत्र से नाश कर देते हैं। यह तृतीय नेत्र सब मनुष्यों में है किन्तु गुप्त है और श्रीसद्गुरु की कृपा से खुलता है। किन्तु श्रीभगवान् का भक्ति-मार्ग प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों से विलक्षण है। इस मार्ग में सांसारिक विषयों को त्यागना नहीं है किन्तु उन को तत्त्व की दृष्टि से श्रीभगवान् की वस्तु मान और उन के द्वारा प्राप्त सुख को श्रीभगवान् के आनन्द भाव का केवल प्रतिबिम्ब जान दोनों को इस भाव दृष्टि से शुद्ध कर श्रीभगवान् में अर्पण करना है जिस के होने पर वे श्रीभगवान् के प्रसाद बनजाते और तब से मोह और बन्धन करने के बदले श्रीभगवान् की सेवा कार्य्य में सहायक बनजाते हैं। यही कारण है कि "काम" ने श्रीभगवान् का पुत्र होकर जन्म लिया; अर्थात् परिवर्तन प्राप्त कर अपने शुद्ध भाव को गृहण किया। विषयी पुरुष स्त्री, पुत्र, धन और काम्य वस्तु में भोग की आसक्ति रख और उन के मूल कारण श्रीभगवान् के आनन्द भाव को न जान कर बन्धन और क्लेश में पड़ता है किन्तु भाविक उन को श्रीभगवान् की वस्तु मान उन को शुद्ध कर सेवा के कार्य में सहायता पाने के लिये श्रीभगवान् में अर्पण करता है और तब से उन का सम्बन्ध उस को कदापि दुःखदायी और क्लेशकर नहीं होता। सारांश यह है कि पशुभाव अर्थात् नीच कामाचार को तो प्रवृत्ति मार्ग भी गम्य नहीं है, फिर इस की चर्चा भक्ति मार्ग के सम्बन्ध में तो स्वप्न में भी नहीं आनी चाहिये।

इस परम पावन गोपी भाव में "रस" "काम" "कामदेव" "रमण" "रति" "स्मर" "रासक्रीडा" आदि शब्द व्यवहार किए गए हैं किन्तु वे सब उन के यथार्थ उच्च आध्यात्मिक भाव में हैं। "काम" श्रीभगवान् का आनन्द (प्रेम) भाव है जिस से सृष्टि की उत्पत्ति हुई है।

लिखा है:—"सोऽकामयत। बहुस्यां प्रजायेयेति" अर्थात् श्रीभगवान् महेश्वर ने अनेक होने के लिये अपने काम (आनन्द) भाव को प्रकट किया। शब्दकल्पद्रुम में लिखा है कि श्रीविष्णु का नाम "स्मरगुरु" अर्थात् कामगुरु है। इस काम (प्रेम) की उत्पत्ति श्रीभगवान् के हृदय से है "कामस्तु ब्रह्मणो हृदयाज्जातः"—शब्दकल्पद्रुम। अतएव काम का नाम "ब्रह्मसूः" और "आत्मभूः" भी है। मेघदूत में लिखा है:—"जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूप मघोनः"। श्रीशक्ति का नाम "कामाक्षा" भी आनन्दमयी के भाव में है। इसी कारण श्रीभगवान् रामचन्द्र और श्रीजानकीजी का विहार स्थल चित्रकूट के मुख्य पर्वत का नाम "कामद" अर्थात् "प्रेमप्रद" है।

कवीर आदि महात्माओं ने भी इस शुद्ध आध्यात्मिक भाव को रूपक में वर्णन करने के लिये ऐसे ही शब्दों का व्यवहार किया है। सूफी महात्माओं ने भी प्रेम के वर्णन में मदिरा, तीर, खंजर, बुलबुल आदि शब्दों का व्यवहार किया है। मदोन्मत्त खराब है किन्तु प्रेमोन्मत्त परमोत्तम है, यद्यपि दोनों उन्मत्त दशायें हैं। विषय में रमण और रति खराब है किन्तु आत्मा में रमण और रति परमोत्तम है। शक्तिपथ में भी मांस, मदिरा, मैथुन इसी आध्मात्मिक भाव में व्यवहृत है।

इस प्रेम—मन्दिर में (जहां यज्ञ अथवा विहार लीला हो रही है) प्रवेश करने में प्रथम बाह्य प्राकार अथवा अवस्था श्री उपास्य के विश्वव्यापी करुणा भाव का साक्षात् अनुभव और चिंतन है जिससे हृदय द्रवीभूत हो कर शुद्ध हो जाता, श्रीभगवान की करुणा की एक कणा (स्नेह) लब्ध हो जाती और ऐसा होने पर भाविक श्रीभगवान् की करुणा के वितरण रूपी सेवा में निष्काम भाव से प्रवृत्त होने के लिये अपने को अर्पण करता और यही उसके जीवन का केवल लक्ष्य होजाता। श्री

भगवान् की करुणा असीम और वर्णनातीत है। यह सृष्टि स्वयं उनकी करुणा का परिणाम है। श्री शाण्डिल्य सूत्र में लिखा है "मुख्यं तस्य हि कारुण्यम्" यह सृष्टि मुख्य कर श्री भगवान् की केवल करुणा का परिणाम है, उनको इसमें लेशमात्र स्वार्थ नहीं। करुणा भाव से ही प्रेरित हो कर श्रीभगवान् ने भृगु के पदाघात को सह्य कर उनसे यह कह कर क्षमा मांगी कि आपके चरण को मेरे कठोर हृदय के स्पर्श से चोट लगी होगी, और श्रीरामावतार में वनवास के कष्ट को सहन किया और गर्भावस्था में भी श्रीसीताजी का त्याग किया। श्रीभगवान् ने संसार के दुःख से कातर हो कर ही संसार के पाप और कष्ट को दूर करने के लिये अनेक अवतार के धारण करने का कष्ट सहर्ष स्वीकार किया, और अब भी सर्वत्र व्याप्त रह कर रक्षा और पालन करते हैं। श्रीभगवान् की करुणा (कृपा) बिन्दु के पवित्र स्पर्श से हृदय के शुद्ध होने पर, उस परम दुर्लभ करुणा को विश्व में वितरण करने की सेवा के संकल्प के अर्थ श्रीभगवान् को वरण करना अर्थात् करुणावरुणालय श्रीभगवान् को अपना हृदयेश्वर इष्ट और केवल लक्ष्य बनाना कहते हैं। इस अवस्था में उपासक को साक्षात् रूपसे बोध होता है कि श्रीभगवान् के कौन रूप उसके श्रीइष्टदेव हैं और तब तक साधारण वरण करने में यदि कोई भूल रही हो तो वह भी सुधर जाती है। यह भाव-सम्बन्ध उसे प्रत्यक्ष हो जाता है। यह प्रेम द्वारा वरण श्रीसद्गुरु की सहायता से होता है।

श्री गोपियों ने भी प्रथम श्रीभगवान् को वरण किया अर्थात् अपना हृदयेश्वर बनाया, किन्तु उनका यह सम्बन्ध शुद्ध आध्यात्मिक जीवात्मा परमात्मा का सम्बन्ध था, कदापि निकृष्ट भोग सम्बन्ध नहीं था। इसी कारण इस पावन लीला के समय श्री भगवान् की वयस दशवर्ष से कम की थी और गोपियां कन्या अथवा नवे ढा न होकर पतिपुत्र वाली थीं। इस सम्बन्ध में "विषय काम" की लेशमात्र भी गन्ध नहीं थी। उस समय जब कि श्रीभगवान् ने स्थूल

शरीर को धारण किया तो उन के प्रेमियों का अहोभाग्य था कि वे उन के निकट उन के रूप को प्रत्यक्ष देखकर तृप्त हों, उनकी साक्षात् सेवा के लिये अपने को अर्पण करें और उनके वियोग से दुःखी हों। भक्त श्री मीराबाई ने भी भगवद्भक्तों की सत्संगति और श्री भगवान् की सेवा स्वच्छन्दता से करने के लिये अपने पति और राज्य का त्याग किया जो साधारण धर्म के अनुसार अविहित हो सकता है; किन्तु विशेष धर्म के अनुसार श्री मीराबाई की अवस्था के भाविक के लिये ठीक था। इसी प्रकार श्री गोपियों ने भी श्री भगवान् के लिये साधारण धर्म का त्याग अवश्य किया और इसी से श्री भागवत पुराण में श्री परीक्षित् के प्रश्न में परदाराभिमर्शन कहा है, क्यों कि मैथुन आठ प्रकार का है। स्त्री के साथ एकान्त भाषण भी साधारण धर्मानुसार मना है, किन्तु पाशविक कामचर्य्या का तो इस में स्पर्श तक नहीं था।

श्रीगोपियों का शुद्ध और निर्मल प्रेम था। लिखा है:—

प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्।
इत्युद्धवादयो ऽप्येते वाञ्छन्ति भगवत्प्रियाः।

गौतमीय तंत्र।

कामबीजोपासनेन सखीत्वञ्च समाश्रयेत्।
रतिरागं सदा प्राप्य प्रेम्णा जन्म तृतीयकम्।
विषयाविष्टचित्तस्य कृष्णावेशः सुदूरतः।
वारुणीदिग्गतं वस्तु व्रजन्नैन्द्रीं किमाप्नुयात्।

श्री गोपियों का पवित्र प्रेम ही "काम" कह के प्रसिद्ध हुआ। इसी निमित्त श्री भगवान् के कृपापात्र श्री उद्धवादि महात्मा गण भी उसी गोपी प्रेम की वाञ्छा करते थे। कामबीज (परा शक्ति) की उपासना से सखी (शुद्ध निष्काम) भाव को प्राप्त करे और तब श्री उपास्य की लीला में सम्मलित हो रागरति को पाकर प्रेम द्वारा तीसरा जन्म प्राप्त करे।

विषयाविष्ट चित्त द्वारा श्री भगवान् में प्रीति असम्भव है। जो वस्तु पश्चिम दिशा में है उसको पूर्व दिशा में खोजने से कैसे उसका लाभ हो सकता है।

और भी लिखा है:—

यस्त्यक्त्वा प्राकृतंकर्म नित्यमात्मरतिर्मुनिः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा स्याच्चेत् परमा गतिः॥

(महाभारत शा० प० अ० १६४)

आत्मैवेदं सर्वमिति सवाएष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्मामिथुन आत्मानन्दः सस्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति।

छान्दोग्योपनिषत् ७-२५-२

जो मुनि सांसारिक काम्य कर्मों को त्याग कर नित्य आत्मा में रति (रमण) करता है वह सब प्राणियों की आत्मा को आत्मा (परमात्मा) से एक हो जाता है। यही परमगति है। ये सब आत्मा ही हैं, ऐसा देख, मनन और जानकर जो आत्मा में रति और क्रीडा करता है और आत्मा में मिथुन (युक्त) करता है वही आत्मानन्द पाता है, वही स्वतंत्र राजा होता है, उस की सब लोक में प्रभुता होती है।

जिन प्रातःस्मरणीय गोपियों की लीला के पढ़ने से नीच काम का नाश होता है, फिर उस लीला में इसका लेश मात्र भी कैसे रह सकता है। लिखा है: -

विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदंच विष्णोः श्रद्धान्वितोऽनुश्रृणुयादथवर्णयेद्यः। भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेणधीरः ४०

श्रीमद्भा०स्क-१०-३३-

हे राजन् ! जो पुरुष श्रद्धावान् होकर, गोकुल की स्त्रियों के साथ श्री कृष्ण जी की इस (रास) क्रीडा को क्रम से सुनेगा अथवा पढ़ेगा वह उन श्री कृष्ण भगवान् में उत्तम भक्ति पाकर थोड़े हो काल में जितेन्द्रिय होता हुआ, हृदय में रह कर रोग के समान अनर्थ करने वाले काम का अत्यन्त तिरस्कार करेगा।

वरण करने की अवस्था के बाद उच्च साधना की अवस्था आती है। इसमें श्री उपास्य के गुणगान, भजन, संकीर्तन, स्मरण आदि मुख्य हैं। श्रवण से वन्दन तक इस के अन्तर्गत हैं। इस अवस्था में मुख्य चित्त और बुद्धि को श्री उपास्य में ऐसा अर्पण करना है कि वे उन के हो जायं और सिवाय उन की सम्बन्धी भावनाओं के अन्य भावनायें कदापि उनमें नहीं आवें। इस अवस्था में प्रेम रूपी मक्खन और सेवा रूपी मिश्री श्री उपास्य को नैवेद्य में अर्पण किए जाते हैं, जैसाकि कहा जा चुका है। श्रीगोपियों में यह भाव परिपूर्ण था। गोपियों का प्रेम श्रीभगवान् में ऐसा प्रगाढ और अनन्य था कि उन के शरीर, वचन, मन, आत्मा, सब श्रीभगवान् में अर्पित था, वे केवल उन्हीं के लिये उनका प्रयोग करतीं, उन्हीं की सेवा में नियुक्त रहतीं, और उन्हीं की तुष्टि के लिये शरीर आदि की रक्षा करतीं। उनका सोना, जागना, नित्य क्रिया, गृहकार्य्य, भूषण वसन, भोजन, गान, स्मरण, विचरण, वार्तालाप, श्रवण, दर्शन आदि सभों का श्रीभगवान् ही से सम्बन्ध था, एक भी श्रीभगवान् से रहित नहीं था। वे इस प्रकार श्रीभगवान् में तन्मय थीं कि अपने नेत्र से केवल श्रीभगवान् ही को देखतीं, अर्थात् संसार ही श्रीभगवान् की मधुर मूर्ति से परिपूर्ण उन को देख पड़ता, कान से जो सुनते वह श्री भगवान् ही के नामका रूपान्तर उन्हें बोध होता, मन में जो भावना आती वह श्रीभगवान् ही से सम्बन्ध रखती और वे जो कुछ उच्चारण करतीं, उस का भी यथार्थ लक्ष्य श्री भगवान् ही रहते। उन का मन श्रीभगवान् के चरणों की सेवा में संलग्न रहता, उन का वचन श्री भगवान् के मधुर यश के गान

में प्रवृत्त रहता, उन का शरीर श्रीभगवान् के कैंकर्य्य के लिये अर्पित और नियुक्त रहता और उन की आत्मा श्री भगवान् की दासी बन कर आंतरिक सेवा में नियुक्त रहती। जब श्री भगवान् की मनोहर मूर्ति का उन्हें दर्शन होता तब उन्हें चित्त को दीप पतंग के समान श्री भगवान् पर न्योछावर करना चाहता, और कहाजाता है कि नेत्र की पलकके गिरने के कारण जो इस रूप रस के आस्वाद में उन्हें व्याघात होता था, वह भी उन्हें असह्य था। पृष्ठ ३६६ में जो श्लोक श्री गोपियों के भाव का दिया गया है, वह इस भाव का ठीक वर्णन है। जैसा कि भक्त साधकों को निष्ठा होती है कि वे श्री भगवान् सम्बन्धी चर्चा करते, उन के पावन यश का गान करते, उन के पवित्र नाम और कीर्ति का स्मरण भजन करते और इस प्रकार श्री भगवान् के प्रेम का प्रचार कर संसार का कल्याण करते, ठीक वही भाव इन गोपियां में था। वे गोपियों दिनरात मधुरस्वर से श्री भगवान् के पावन गुणों का गान करतीं, उन के मनोहर नाम का स्मरण करतीं, उन के अकृत्रिम और चित्ताकर्षक रूप को अपने हृदय मन्दिर में स्थापित कर प्रेम नैवेद्य द्वारा पूजा करतीं, और जब उन का चित्त सर्वतोभाव से श्री भगवान् में संलग्न हो जाता तो आनन्द के आधिक्य से उन्हें रोमाञ्च होते, प्रेमाश्रु उन के नेत्रों से निकलने लगते, कंठ रुकजाते, और वे प्रायः बेसुध हो जातीं मानो जाग्रत् अवस्था का तिरोभाव हो जाता। यह साधना की अवस्था भाव अवस्था के लिये प्रार्थी होने के तुल्य है; अर्थात् भाविक दास आदि भाव में प्रवेश करने के लिये इस के द्वारा प्रार्थना करता है और उस भाव का अनुकरण भी करता है। पद्यावली के निम्न लिखित श्री गोपियों के वाक्य इस भाव के परमोत्तमता सूचक हैः—

न धनं न जनं न सुन्दरीं, कवितां वा जगदीश कामये। मम जन्मनि जन्मनीश्वरे, भवताद्भक्तिर-

हैतुकी त्वयि। त्वयि नन्दतनूज किंकरं, पतितं मां विषमे भवाम्बुधौ। कृपया तव पादपङ्कज स्थितधूली सदृशं विचिन्तय। नयनं गलदश्रुधारया, वदनं गद्गद रुद्धया गिरा। पुलकैर्निचितं वपुः कदा, तव नाम ग्रहणे भविष्यति। आश्लिष्य वा पादरतां पिनष्टु मामदर्शनान्मर्महतां करोतुवा। यथातथा वा विदधातु लम्पटो, मत्प्राणनाथस्तु स एवनापरः।

हे श्री भगवन्! मैं न धन, न जन, न सुन्दरी और न कविता शक्ति चाहता हूं। मुझको केवल जन्म जन्मान्तर में तुम्हारे में निष्काम भक्ति होवे। हे श्री नन्दनन्दन! तुम्हारे किंकर मुझ विषम भवसागर में निमग्न को अपने चरण कमल की रेणु की कणा के समान दास करके ग्रहण करो। हे प्रभो! कब तुम्हारे नामको उच्चारण करते २ मेरे नेत्र से आनन्दाश्रु गिरेगा, गद्गद कण्ठ होने से वचन बन्द हो जायगा और आनन्द के आविर्भाव से सर्वाङ्ग रोमाञ्चित होजायगे! हे सखि! वे श्री भगवान् करस्पर्शसे अपनाके चरणरत दासी बनावें, अथवा दर्शन बिना मर्माहत करें, अथवा दूसरे प्रेमियों में अनुरक्त रह कर मुझको त्याग ही दें, किन्तु मेरे एकमात्र प्राणनाथ वही हैं, दूसरा कोई नहीं। श्रीतुलसीदास जी की भी ऐसी ही एक उक्ति है:—" जौं तुम तजहु भजौं न आन प्रभु, यह प्रमान पन मोरे। मन वच कर्म नरक सुरपुर जहं तहं रघुबीर निहोरे।

श्रीगोपियों का जन्म ही संसार में श्रीभगवान् के प्रेम का आदर्श दिखलाने के लिये होने के कारण उनके जीवन ही उपकार व्रत में प्रवृत्त थे। जो उपकारी नहीं है वह कदापि श्रीभगवान् की भक्तिका अधिकारी नहीं हो सकता। पद्म पुराण के पाताल खण्ड अ० ६१ में लिखा है:—

कोमलं हृदयं नूनं साधूनां नवनीतवत्। वह्निसन्ताप-

सन्तप्तं तद् यथा द्रवति स्फुटम् २६ परतापच्छिदोये तु चन्दना इव चन्दनाः। परोपकृतयेयेतु पीड्यन्ते कृतिनोहिते ३२ सन्तस्त एव येलोके परदुःखविदारणाः। अर्त्तानामार्त्तिनाशार्थं प्राणा येषां तृणोपमाः३३

साधु (भक्त) का हृदय मक्खन के तुल्य कोमल होता है जो कि अग्नि रूप परदुःख के संयोग से पिघल जाता है। जो चन्दन के तुल्य दूसरे के दुःख को मिटाने वाले हैं वे ही चन्दन पद वाच्य हैं और जो परोपकारार्थ क्लेश सहते हैं वे ही यथार्थ कृती हैं। जो दुःखियों के दुःख के निवारण के लिये अपने प्राणों को तृणतुल्य समझते, संसार में वे ही परदुःखापहारी मनुष्य साधु (भक्त) हैं। इस परोपकारी कर्म को भी भाविक श्रीभगवान् के निमित्त ही करते हैं।

श्रीमद्भाग० पु० स्क० ४ व ११ अ० २६ व ११ में लिखा है:—

तत्कर्म परतोषं यत् सा विद्या तन्मतिर्यया।
हरिर्देहभृतामात्मा स्वयं प्रकृतिरीश्वरः। ५०
कृपालुरकृत द्रोहस्तितिक्षुः सर्वदेहिनाम्।
सत्यसारोऽनवद्यात्मा समः सर्वोपकारकः २६

जिस से श्रीभगवान् की तुष्टि हो वही कर्म है अर्थात् वही कर्तव्य है; और जिससे उनमें रुचि हो वही विद्या है, क्योंकि श्रीभगवान् सब प्राणियों की आत्मा प्रकृति रूप हैं तथा ईश्वर हैं। शरणागत भक्त सबों के साथ कृपालु, अद्रोही, क्षमा, शील, सत्यप्रतिज्ञ, निन्दा आदि दोषों से रहित, समभाव वाले और सब के उपकारी होते हैं।

इस अवस्था को सिद्धावस्था में भाविक को श्रीभगवान् उसको, और उस के द्वारा जगत् की तृप्ति के लिये, अपने

प्रेमामृत का प्रसाद प्रदान करते हैं। इस अवस्था को श्रीकृष्ण-लीला में गोपियों का वेणुगीत सुनना कहा है। श्रीभगवान् जो अपने तेजःपुंज (आनन्दमयी शक्ति) को आध्यात्मिक वंशीध्वनि द्वारा संसार के हित के लिये सञ्चार करते रहते हैं उस का यह हृदय में श्रवण, अनुभव और दर्शन है क्योंकि शब्द (ध्वनि) से स्पर्श और स्पर्श से रूप होता है। यही वंशीध्वनि दिव्य लोक में 'परा" रूप में और उस के नीचे "पश्यन्ती" (वेणुगीत) है जो संसार के हित के लिये सदा होती रहती है। इस वेणु गीत के हृदय में गोचर होने से ही हृदय कमल खिल जाता और अवशेष वासना नष्ट हो जाती है।

इसका स्पर्श ऐसा मधुर है कि भाविक प्रेम से उन्मत्त हो जाता और तब से उसका चित्त संसार की उत्तमोत्तम वस्तु में भी कभी आसक्त न होकर केवल श्रीउपास्य के चरण कमल में लीन रहता। नारदसूत्र का वचन है:—

यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धो भवत्यात्मारामो भवति।

जिस प्रेम के अनुभव से भाविक मत्त हो जाता, स्तब्ध (निश्चेष्ट) होजाता और आत्माराम (अपने हृदयस्थ श्रीभगवान् में रमण करने वाला) होजाता है। श्रीकृष्ण भगवान् की वंशी भी इस आध्यात्मिक प्रेमनाद की बाह्य सूचक थी और इस का क्या आश्चर्य्य प्रभाव श्री गोपियों पर पड़ा वह नीचे के श्रीमद्भागवत पुराण के वचनों से विदित होगा:—

बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं, बिभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम्। रंध्रान्वेणोरधर-सुधया पूरयन् गोपवृन्दैर्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्रावि-शद्गीतकीर्तिः ५ इति वेणुं रवं राजन् सर्वभूतमनोहरम्। श्रुत्वा व्रजस्त्रियः सर्वा वर्णयन्त्योऽभिरेभिर ६ तद्व-र्ण्यन्दा तद्रूपगायें मुकुन्दगीतमावर्तलक्षितमनोभवभग्न-

वेगाः । आलिंगनस्थगितमूर्मि भुजैर्मुरारे गृह्णंति पाद युगलं कमलोपहाराः १५ अस्पन्दनं गतिमतां पुलकस्तरूणां निर्योगपाशकृतलक्षणयोर्विचित्रम् १६

स्क० १० अ० २१

जिस प्रकार श्रीभगवान् ने श्रीगोपियों के चित्त को अपनाया वह कहते हैं—मस्तकपर मोरों का शिरोभूषण, नट के समान पीला जरी का पीताम्बर और वैजयन्ती (पांच वर्ण के सुगन्धित फूलों को गूंथी हुई) माला धारण करने वाले और गोपों के समूहों ने जिन की कीर्ति को गाया है ऐसे वे श्रीभगवान् वंशी के छिद्रों को अधरामृत मुख की वायु से पूर्ण करते (बजाते) हुए, जहां तहां भूमिपर दीखते हुए अपने चरणों के चिन्हों से सब को रमणीय प्रतीत होनेवाले श्रीभगवान् वृन्दावन में गये। हे राजन् ! इस प्रकार स्मरण करने वाली वे गोकुल की सभी स्त्रियां, सकल प्राणियों का मन हरने वाले वंशी के शब्द को सुनकर श्रीकृष्ण भगवान् के स्वरूप की मधुरता आदि का वर्णन करती हुई पद २ पर, परमानन्दमूर्ति श्रीभगवान् में मन से रमण करने लगीं। एक गोपी कहने लगी कि अरी ! जीवित प्राणियों की बात तो अलग रही, परन्तु यह निर्जीव नदियों ने भी श्रीभगवान् की मुरली का गान सुन कर, भंवरों के रूप से सूचित होने वाले प्रेम से अपने प्रवाह के वेग को रोक दिया है और वे श्रीभगवान् को कमल रूपी भेंट अर्पण करती हुई अपनीतरंग रूपी भुजाओं से श्रीभगवान् के चरण युगल को, जैसे दृढ़ता के साथ आलिङ्गन होना चाहिये, वैसे ग्रहण करती हैं। श्रीभगवान् की वंशीध्वनि से गौ, मोर आदि जंगम प्राणियों में चलना बंद हो कर स्थावर की भांति वे हो जाते थे और वृक्ष आदि स्थावर के शरीरों पर रोमाञ्च खड़े हो कर उन में जंगम का गुण देखने में आता था जो बड़े ही आश्चर्य की बात है। इस में कोई

आश्चर्य्य नहीं है। श्रीभगवान् जो स्थावर और जंगम दोनों के जोवन हैं और विश्व के मित्र, कारण और भी अंतिम लक्ष्य हैं और अपने प्रेम यज्ञ से सब की पुष्टि कर रहे हैं उन के वंशीध्वनि रूप आह्वान का प्रभाव किस पर नही पड़ेगा और कौन इसे अस्वीकार करेगा ? यह ध्वनि प्रणवशब्द अथवा अन्य रूप में हृदय में सुनी जाती है किन्तु यह श्वासों का शब्द "हंस" अथवा "सोऽहम्" नहीं है और न कर्ण के बन्द करने के दीर्घ अभ्यास से जो नाना प्रकार की ध्वनि (जिस में वंशी ध्वनि भी है) सुनने में आती है वह है, क्योंकि यह अंतिम शब्द भी भूलोक के ही आकाश का है, अतएव भौतिक है किन्तु श्रीभगवान् की वंशीध्वनि आध्यात्मिक "पश्यन्ती" शब्द है जो चर्म के कर्ण-इन्द्रिय के गोचर न हो कर केवल शुद्ध और प्रेमाप्लुत हृदय में ही प्रकट होता है। आज कल भी योग्य भाविक इस ध्वनि को सुनते हैं।

संसार में भी यह भाव है कि मनोहर और पवित्र रूप अथवा मधुर ध्वनि के निमित्त प्रेम उपजने पर प्रेमी प्रेमपात्र के साथ तन्मय होना चाहता है, क्योंकि प्रेम का स्वभाव ही एकीकरण है। रूप-प्रेम का उत्तम दृष्टान्त दीप-पतंग है जो दीप के प्रेम के कारण अपने को उस में अर्पण करता है। ध्वनि के प्रेम के लिये मृगा भी अपने को अर्पण करता है। ऐसे ही साधना की परिपक्वता होने पर और श्रीभगवान् के चरणामृत और मधुर वंशी ध्वनि द्वारा प्रेम की जागृति होने पर भाविक श्रीभगवान् की साक्षात् सेवा के लिये अर्थात् आत्मनिवेदन करने के लिये व्याकुल और व्यग्र होता है और इस अभाव के कारण असह्य वेदना अनुभव करता है। लिखा है :—

युगायितं निमेषेण चक्षुषा प्रावृषायितम्।
शून्यायितं जगत्सर्वं गोविन्दविरहेण मे॥

पद्यावली।

अटति यद्भवानह्नि काननं त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम्।
कुटिलकुन्तलं श्रीमुखंचते जड उदीक्षतां पक्ष्मकृद्दशाम्॥

श्रीमद्भा० स्क० १ अ० ३१।

गोपियां कहती हैं कि श्री भगवान् के विरह का निमेष काल भी मेरे लिये युग के समान है, नेत्रों की अश्रुधारा वर्षा काल की वर्षा के समान चल रही है और सम्पूर्ण संसार शून्य देख पड़ता है। हे श्री भगवन्! जब तुम दिन के समय वन में विचरण करते हो तब तुम्हें न देखनेवाले प्राणियों को त्रुटिमात्र का समय भी युग के तुल्य हो जाता है और जब सन्ध्या के समय तुम लौट कर आते हो तब घुंघुराले केशों से युक्त और अतिसुन्दर तुम्हारे मुख को बड़े प्रेम के साथ देखनेवाले प्राणियों को, नेत्रों की पलक बनानेवाला ब्रह्मा भी मूर्ख प्रतीत होने लगता है; अर्थात् दर्शन में पलक लगने मात्र का अन्तर भी नहीं सुहाता है।

इस अवस्था में भाविक श्रीभगवान् के विना क्षण भर भी रह नहीं सकता है। एक जिज्ञासु ने एक महात्मा के निकट जाकर निवेदन किया कि मुझे श्रीभगवान् की प्राप्ति का उपाय बतलाइये। वे उस को नदी में स्नान करवाने के लिये ले गये और उन्हों ने उसे गहरे जल में ले जाकर छोड़ दिया। वह जल में ऊबडूब करने लगा जिस के बाद महात्मा ने उसे निकाल लिया। बाहर आने पर महात्मा ने उस से पूछा कि तुम्हारे डूबते रहने के समय क्या भावना तुम्हारे चित्त में थी? उस ने उत्तर दिया कि केवल एकमात्र यही भावना थी कि किसी प्रकार श्वास लेने के लिये वायु मिले और सिवाय इस के अन्य कुछ नहीं थी। तब महात्मा ने कहा कि जिस प्रकार डूबते समय तुम को केवल श्वास मात्र के लिये वायु के पाने की इच्छा थी, अन्य कुछ नहीं, उसी प्रकार जब एकमात्र प्रबल वाञ्छा श्रीभगवान् की प्राप्ति के लिये होगी,

जिन के विना (श्वास के तुल्य) तुम रह नहीं सकते हो, तभी वे मिलेंगे। यह दृष्टान्त भक्ति भाव के लिये अवश्य उपयुक्त है।

तीसरी अवस्था सम्बन्ध की है। श्रीउपास्य से साक्षात् मिलन और उन को साक्षात् सेवा में प्रवृत्त होने के लिये भाविक बहुत व्यग्र हो जाता है और यह उत्कण्ठा उस में ऐसी प्रबल होजाती है कि दिन रात यही भावना उस के चित्त को कब्ज़ा किये रहती है। इसी धुन में वह निमग्न रहता, और संसार के सब कुछ उस को फीके लगते हैं। वह इस मिलन के लिये कठिन से कठिन त्याग करता, ऐसा कोई कष्ट नहीं जिस को इस के लिये वह सहर्ष सहन नहीं करता और ऐसी कोई सेवा नहीं जिस को श्रीउपास्य की प्रीति के लिये वह सम्पादन नहीं करता। वह इस मिलन के लिये मानों व्रत धारण करता है। श्रीगोपियों ने इस भाव में श्रीभगवान् के मिलने के लिये व्रत धारण किया और विशेष नियम को धारण कर श्रीकात्यायनी (पराशक्ति) देवी की उपासना की। इस का भाव यह है कि श्रीपराशक्ति और श्रीजगद्गुरु की इस भाव में विशेष सहायता की आवश्यकता होती है जैसा कि पहिले भी कहा जा चुका है। इस अवस्था का वर्णन श्रीमद्भागवत पुराण में यों है :—

कथं विनारोमहर्षं द्रवता चेतसा विना।
विनानन्दाश्रुकलया शुद्ध्येद्भक्त्या विनाशयः ॥२३॥

स्क० ११ अ० १४

क्वचिद्रुदति वैकुण्ठचिन्ताशवलचेतनः।
क्वचिद्धसतितच्चिन्ताह्लाद उद्गायति क्वचित् ॥३९॥
नदति क्वचिदुत्कंठो विलज्जोन्टत्यति क्वचित्।
क्वचित्तद्भावनायुक्त स्तन्मयोऽनुचकारह ॥४०॥
क्वचिदुत्पुलक स्तूष्णी मास्ते संस्पर्शनिर्वृतः।
अस्पंदप्रणयानंदसलिलामीलितेक्षणः ॥४१॥

स्क० ७ अ० ४।

और भी :—

कण्ठावरोधरोमाञ्चाश्रुभिः परस्परं लपमानाः पावयंति कुलानि पृथिवींच । तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि सुकर्मीकुर्वन्ति कर्माणि सच्छास्त्रीकुर्वन्ति शास्त्राणि ।

नारदसूत्र ।

विना भक्ति, विना रोमाञ्च, विना आर्द्र चित्त, विना आनन्दाश्रु हृदय की शुद्धि नहीं होती । श्री प्रह्लाद कभी ता श्री भगवान् के चिंतन से उन का अन्तःकरण क्षुब्ध होने पर रोदन करने लगते थे, कभी भगवच्चिन्तन से आनन्द प्राप्त होने पर हंसने लगते थे और कभी २ ऊंचे स्वर से श्रीभगवान् के गुणों का गान करते थे ३६ कभी २ वह बड़ी (हे हरे ! हे प्रभो ! इत्यादि की) गर्जना करते थे, कभी निर्लज्ज होकर नृत्य करने लगते थे और किसी समय श्री भगवान् के चिंतन में अत्यन्त लवलीन होने पर तन्मय होकर अपने आप भी श्री भगवान् की लीलाओं का अनुकरण करने लगते थे ४० कभी २ श्री भगवत्स्वरूप में लीन हो जाने के कारण वह सुख में निमग्न होते थे, उन के शरीर पर रोमाञ्च खड़े हो जाते थे और अचल प्रेम से उत्पन्न हुए आनन्द के अश्रुओं से युक्त होने के कारण उन के नेत्र कुछ एक मुंद्जाते थे, तब वह कुछ भी न बोल कर स्वस्थ बैठे रहते थे ।

जो प्रेम से गद्गद कण्ठ हो, शरीर से रोमाञ्चित हो, नेत्रों में से हर्ष के अश्रु बहाकर परस्पर श्री भगवान् के विषय की वार्ता करते हैं, वे अपने कुलों का उद्धार करते हैं और पृथिवी को पवित्र करते हैं । वे तीर्थ को भी पवित्र करते हैं, वे कर्मों को भी पवित्र करते हैं और शास्त्र को सुशास्त्र (लोकमान्य शास्त्र) कर देते हैं ।

इस लक्षण के लिये प्रथम खंड का पृष्ठ ३७१ और इस खंड का पृष्ठ ४५० देखिये । भाविक इस गोपीभाव की अवस्था में कभी २ अपने को विस्मरण करके जाग्रत् अवस्था से अन्य अवस्था

में चला जाता जिस को "भाव" की अवस्था कहते हैं और तब वह हृदय में श्री उपास्य के आन्तरिक समागम के आनन्द का अनुभव करता है। इस भाव के मिटने पर भी इस का प्रभाव भाविक पर रहता, अर्थात् उस के शरीर में विलक्षण पवित्र कान्ति और लावण्य आजाता है, उसका हृदय सदा श्री उपास्य के प्रेम से पूरित रहता और उस के कार्यकलाप, रहन सहन, वार्तालाप और भावना, इन सबों में, श्री उपास्य की तन्मयता की छाप स्पष्ट देख पड़ती है। उस के जीवन का सूत्र श्री उपास्य के हाथ में रहता और उन के द्वारा वह जैसा प्रेरित होता वैसाही करता है।

इस अवस्था में श्रीसद्गुरु और श्रीउपास्य की कृपा से उसके हृदय का मोहान्धकार दूर हो जाता और उन्हीं की कृपा द्वारा उसमें आनन्दमयी शक्ति (आध्यात्मिक उर्ध्व कुण्डलिनी) की जागृति होती, षट्चक्र बेधे जाते और तीनों उपाधियां शुद्ध और पवित्र की जातीं और अन्तरात्मा उन उपाधियों में कैदी की भांति बद्ध न रह कर जैसा कि साधारण मनुष्यों की दशा है, उनसे मुक्त हो जाती और तब से अन्तरात्मा उपाधियों के गुणों से पराभूत और प्रेरित न हो कर उन का प्रभु बन जाती और उनको श्री-भगवान् के काम में प्रयोजित करती है। यह हठ अथवा मंत्रयोग से आधिभौतिक अधः कुण्डलिनी को जगाना नहीं है, अथवा स्थूल चक्रों का उत्थान करना नही है जिससे प्रायः हानि होती है, क्योंकि वास्तविक चक्र और कुण्डलिनी शक्ति स्थूल शरीर में नहीं है, यहां तो उनका केवल प्रतिरूप है जिसको आधिभौतिक उपाय से छेड़छाड़ करने से वे आध्यात्मिक कार्य्य के लिये अयोग्य हो जाते हैं। भाविक में ये सब आंतरिक परिवर्तन श्री सद्गुरु और श्री उपास्य द्वारा होता है, अतएव ठीक २ होता है और इससे कोई अनिष्ट फल नहीं होने पाता। हठयोग आदि द्वारा इनके उत्थान के यत्न में प्रायः बड़ी हानि और व्याधि हो जाती हैं, साधक प्रायः विक्षिप्त हो जाता है और यदि हृदय परम शुद्ध न रहे

तो काम क्रोधादि की ऐसी वृद्धि हो जाती है कि साधक का पतन हो जाता है। यह श्री सद्गुरु द्वारा प्राप्त एक दीक्षा है। यही श्री गोपी के सम्बन्ध में चीर (वस्त्र) हरण लीला कही गई है। गोपी के चीर (वस्त्र) से तात्पर्य्य शरीर रूपी तीनों उपाधियों से है जिन को श्री उपास्य अपने हस्त कमल के पवित्र स्पर्श से शुद्ध स्वच्छ और मल एवं विकार से रहित कर देते हैं और तब वह (दीक्षित-गोपी रूप भाविक) उन को धारण करते हुए भी श्री उपास्य के मिलने का सौभाग्य प्राप्त कर सकता है जोकि उपाधि के मलिन रहने पर कदापि सम्भव नहीं है। इस का मुख्य आध्यात्मिक भाव यह है कि यह "मिलन" शुद्ध अन्तरात्मा " प्राज्ञ " का है जिस को अपनी उपाधि (वस्त्र) को आसक्ति से मुक्त होकर शुद्ध चिद्रूप में (अर्थात् नंगे हो कर) श्री उपास्य के निकट जाना चाहिये और तब से उसकी उपाधि भी ऐसी होनी चाहिये जो शुद्ध स्वच्छ और मल और विकार से रहित हो जो श्री उपास्य के पवित्र स्पर्श अर्थात् छाप के उस पर पड़ जाने से सम्भव है। इसी लिये श्री भगवान् ने गोपियों के वस्त्रों (उपाधियों) को लेकर अपने हस्त कमल के स्पर्श से शुद्ध कर वापस कर दिया और उपाधि (वस्त्र) में जो उन लोगों को आसक्ति थी उसको थोड़े काल के लिये विवस्त्र (निरुपाधि) करके छोड़ा दिया। श्री भगवान् ने उन्हें बतला दिया कि अन्तरात्मा किस प्रकार गुणमयी उपाधि को त्याग कर भी श्री चरण में युक्त हो सकती है।

श्रीमद्भागवत पुराण स्क-१०-अ-२२ में लिखा है :—

भगवांस्तदभिप्रेत्य कृष्णो योगेश्वरेश्वरः।
वयस्यैरागतस्तत्रवृतस्तत्कर्मसिद्धये २।

योगेश्वर (श्रीसद्गुरुगण) के भी ईश्वर श्रीभगवान् श्रीगोपियों का व्रत करना उनकी प्राप्ति के लिये है, ऐसा जानकर उनके व्रत के फल को देने निमित्त मित्रों सहित वहां जा पहुंचे। इसमें योगेश्वर

शब्द का व्यवहार श्री भगवान् के लिये इसी कारण है कि यह योग की दीक्षा है और सखा के साथ आने का तात्पर्य्य है कि इस दीक्षा में श्रीसद्गुरु और श्रीउपास्य दोनों की आवश्यकता रहती है। इस दीक्षा के बाद भाविक की ठीक अवस्था उस नवोढा के समान हो जाती है जिसको पति से सम्बन्ध का निश्चय तो अनेक दिन पहिले हो गया था किन्तु अब उसके मिलन अर्थात् गौना का समय नज़दीक आगया और जिसके कारण वह रंगीन वस्त्र (प्रेम रञ्जित उपाधि) धारण करती है। इस अवस्था का महात्मा कबीर ने होली राग में यों वर्णन किया है:—

आई गवनवां की सारी, उमिरि अबही मोरी बारी। टेक
साज समाज पिया लै आये, और कहरिया चारी।
बम्हना बेदरदी अचरा पकरिकै, जोरत गंठिया हमारी।
सखी सब पारत गारी ॥१॥

विधि गति वाम कछु समझ परतना, बैरी भई महतारी।
रोय रोय, अंखिया मोर पोछत, घरवा से देत निकारी।
भई सब कौ हम भारी ॥२॥

गवना कराय पिया लै चलले, इतउत बाट निहारी।
छूटत गांव नगर से नाता, छूटै महल अटारी॥
करमगति टरै न टारी॥ ३॥

नदिया किनारे बलम मोर रसिया, दीन्ह घुंघट पट टारी।
थरथराय तन कांपन लागे, काहून देख हमारी।
पिया लै आये गोहारी ॥४॥

कहै कबीर सुनोभाई साधो, यह पद लेहु विचारी।
अब के गौना बहुरि नहिं औना, करिले भेंट अकधारी।
एक बेर मिलिले प्यारी ॥५॥

इस अवस्था को "हंस" की अवस्था भी कहते हैं।

श्रीभगवान् का याज्ञिक ब्राह्मणों से भोजन मांगना और उन के अस्वीकार करनेपर उनको स्त्रियोंका भोजन प्रदान करना भी आध्यात्मिक भाव से पूर्ण है। श्रीभगवान् चाहते हैं कि यज्ञ उन में अर्पित हो किन्तु सकामभाववाले (प्रवृत्तिमार्गवाले) इस आज्ञा को न मान अपने स्वार्थ के लिये यज्ञ करते हैं। स्त्रियां जो भक्ति मार्ग के अनुसरण करने वाली हैं, वे सादर अपने कर्म को श्रीभगवान् में अर्पण करती है। श्रीभगवान् ने ब्राह्मणपत्नियों का समर्पित भोजन अपने सखाओं को दिया, इस का यही तात्पर्य्य है कि श्रीभगवान् में जो कर्म अर्पित किये जाते हैं उन को वे संसार के कल्याण में व्यवहृत करते हैं, जैसा कि बार २ कहा जा चुका है। इसी प्रकार श्रीगोवर्द्धन लीला भी रहस्यमय है।

रासोत्सवभाव

जिस आत्मनिवेदन के लिये अनेक जन्मों में कठिन साधनाएं की गईं, अनेक प्रकार के दुःसह क्लेश भोगे गये, जो कदापि त्याग करने लायक नहीं हैं उन का भी त्याग किया गया, कंटकाकीर्ण पथ से गमन करना पड़ा, मानों शर की शय्या पर सोना पड़ा, कामादि शत्रुओं के प्रबल आघात का बर्दाश्त करना पड़ा, प्रिय आत्मीय और परिजन के विछोह को भोगना पड़ा और संसार की दृष्टिमें जो कुछ प्रिय और मधुर हैं उन सब को स्वाहा करना पड़ा, उस की पूर्ति का अब समय आगया है। अब अन्तरात्मा के कल्पान्तर के बिछुड़े हुए अपने प्रियतम के मधुर मिलन का शुभ अवसर आ गया जिस मिलन से केवल प्रेमी को ही शान्ति नहीं मिलती है किन्तु विश्वभर इस मिलन से तृप्त होता है। यह जन्म जन्म के विरहिणी के अनेक भ्रमण और कष्ट के बाद अपने प्रियतम का लाभ करना है। नवोढ़ा भाविक जो अनेक काल से अपने प्राणप्रिय के चित्र को अपने हृदय मन्दिर में पूजा करती थी और जिस को उस ने अपना सर्वस्व अर्पण किया था उस का यह साक्षात् मिलन है।

गोपियों ने तो श्रीभगवान् के प्रेम के लिये पिता, पुत्र, परिजन, भाई, कुटुम्ब, गृह, समाज, शयन, भोजन, लोकलज्जा आदि का पहिले ही त्याग कर दिया था अर्थात् उन्हें यह तनिक भी परवाह नहीं थी कि उन को श्रीभगवान् के प्रेम के लिये स्तुति अथवा निन्दा हो, उन के स्वजन उन को त्यागें अथवा रखें, गृह अथवा वन में रहना पड़े, भोजन मिले अथवा उपवास करना हो, किन्तु वे अपने सच्चे प्रेम से टगनेवाली नहीं थीं। वास्तविक में उन्हें इस प्रेम के कारण अनेक कष्ट भोगने पड़े थे, किन्तु इस से उन के प्रेम की वृद्धि हुई, कमी नहीं। अब इस आत्मनिवेदन के समय उन्हें अंतिम त्याग करना पड़ा अर्थात् पति तक को त्याग कर श्रीभगवान् की शरण में गईं। वे चुपके से कदापि श्री भगवान् के निकट नहीं गईं और जाते समय परिजनों से मना किये जाने पर भी उनलोगों ने गृह और परिजनों के सम्बन्ध को त्याग कर श्रीभगवान् के चरणों में सम्मिलित हुईं। परिजनों के निवारण को न मानकर श्रीगोपियों का जाना उन के साथ सम्बन्ध को पूर्ण रूप से त्यागना था। इस में भी आध्यात्मिक रहस्य है। इस परम भाव अर्थात् आत्मनिवेदन के करते समय उस दीक्षित-प्रेमी को इस समर्पण से रोकने के लिये माया की ओर से बहुत बड़ी चेष्टा की जाती है, बड़े२ प्रलोभन दिखलाकर उस को इस से निवृत्त करने का यत्न किया जाता है और यदि वह लोभ से विचलित न होता तो बहुत बड़े भय और क्लेश के आने की सम्भावना दिखलाई जाती है। श्रीभगवान् बुद्ध को निर्वाणदशा की प्राप्ति के पूर्व माया के दल के प्रलोभन और भय का बड़ा कठिन साम्हना करना पड़ा और उन के प्रभाव से बचने पर ही उन को निर्वाण का लाभ हुआ। इस अवस्था में प्रेमी-दीक्षित को मोक्ष का लोभ भी दिखलाया जाता है और मोक्षके लोभ को दिखलाकर इस परमत्याग से निवृत्त करने का यत्न किया जाता है। अन्य मार्ग का अनुसरण करनेवाले प्रायः

इस प्रबल माया के भुलावे में पड़ कर गिर जा सकते हैं, किन्तु भक्त को श्री सद्गुरु और श्रीउपास्य रक्षा करते हैं। यह अन्तिम त्याग परमावश्यक है। श्री तुलसीदास जी का वचन है—

जाके प्रिय न राम वैदेही।
तजिये ताहि कोटि वैरी सम, जद्यपि परम सनेही॥
तज्यो पिता प्रह्लाद, विभीषन बंधु, भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो, कन्त व्रजवनिता, भये जग मंगलकारी॥
नाते नेह राम के मनियत, सुहृद सुसेव्य जहां लौं।
अंजन कहा आंखि जेहि फूटै, बहुतक कहौं कहां लौं॥
तुलसी सो सब भांति परम हित, पूज्य प्रान तें प्यारो।
जासों होय सनेह, रामपद, एतो मतो हमारो॥

यह भाव नवोढ़ा के नेहर से पति के गृह में जाने का है जहां से फिर वह कदापि वापस नहीं आवेगी। नवोढ़ा को अपने हृदयेश्वर से प्रथम मिलन में जो सुख होता है और जो सांसारिक सब सुखों में मधुर समझा जाता है वह इस मिलन के आनन्द को दृष्टि से तुच्छातितुच्छ है। उस को इस परम पयान (गौने) के समय नेहररूप शरीर के सम्बन्धियों से सम्बन्ध-त्यागना है, जो रोदन करके इस सम्बन्ध को तोड़ने से विरत करने की चेष्टा करते हैं। श्रीमहात्मा कबीर दास जी ने इस भाव का यों वर्णन किया है:—

मिलना कठिन है, कैसे मिलौंगी पियजाय। टेक॥
समुझि सोचि पगधरौं जतन से, बारबार डिगजाय।
ऊंची गैल, राह रपटीली, पांव नहीं ठहराय॥१॥
लोकलाज कुल की मरजादा, देखत मन सकुचाय।
नैहर बास बसौं पीहर में, लाज तजी नहिं जाय॥२॥
अधर भूमि जहं महल पिया का, हम पै चढ़ो न जाय।
धन भइ बारी पुरुष भये भोला, सुरत झकोरा खाय॥३॥

दूती सतगुरु मिले बीच में, दीन्हो भेद बताय।
दास कबीर पिया से भेंटे, सीतल कंठ लगाय ॥४॥

पिया मिलन की आस, रहौं कबलौं खड़ी।
ऊँचे चढ़ि नहिं जाय, मनैं लज्जा भरी ॥
अंतर पट दै खोलि, सबद उर लावरी।
दिल बिच दास कबीर, मिलै तोहि बावरी ॥

श्रीभगवान् के सामने पहुँचने पर भी उस प्रेमी की परीक्षा होती है और उस को फिर एक बार कहा जाता है कि उस के लिये अब भी सम्भव है कि वह आत्मार्पण रूप प्रेमाहुति न करके अपनी पूर्व की अवस्था में लौट जाय अथवा मोक्ष ले। श्रीभगवान् ने इसप्रकार श्रीगोपियों के प्रेम की परीक्षा की और उनलोगों को गृह लौटने को कहा। इसके उत्तर में गोपियों ने जो कहा वह इस भाव की प्रगाढ़ता को भली भांति दरशाता है:—

मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं संत्यज्य सर्व-विषयांस्तव पादमूलम्। भक्ता भजस्व दुरवग्रह मात्यजास्मान्देवो यथादिपुरुषो भजते मुमुक्षून् ।३१ कुर्वंति हि त्वयि रतिं कुशलाः स्व आत्मान्नित्य-प्रिये पतिसुतादिभिरार्तिदैः किम्। तन्नः प्रसीद परमेश्वर मास्मच्छिंद्या आशां भृतां त्वयि चिरादर-विंदनेत्र।३३। चित्तं सुखेन भवताऽपहृतं गृहेषु यन्नि-र्विशत्युत करावपि गृह्यकृत्ये पादौ पदं न चलतस्तव पा-दमूलाद्यामः कथं व्रज मथो करवाम किंवा ३४। श्री मद्भा-ग० स्क १० अ० २६।

श्रीगोपियों ने कहा कि हे श्रीभगवन्! ऐसा निषेधरूप मर्मघाती भाषण करना आपको उचित नहीं है। जैसे आदिपुरुष श्रीविष्णु मोक्ष की इच्छा करनेवालों को अंगीकार करते हैं

वैसे ही सब विषयों को त्याग कर तुम्हारे चरण तल का सेवन करने वाली हमें तुम अंगीकार करो, त्यागो मत। हे श्रीभगवान्! कुशल पुरुष अपने नित्य प्रिय, अन्तर्यामी आत्मारूप तुम में अपनी आत्मा को अर्पण कर, रमण करते हैं, क्योंकि इस लोक में संसारदुःख देने वाले पतिपुत्रादिकों से क्या करना है? इस कारण तुम मेरे ऊपर प्रसन्न होवो, दीर्घकाल से तुम में लगाई हुई तुम में अर्पण करने की मेरी आशा को मत भंग करो। और जो तुम घर लौट जाने को कहते हो, वह होना कठिन है, क्योंकि हमारा चित्त, इतने समय पर्यंत सुख से घर के कार्य में व्यस्त था उस को तुम ने हर लिया, हमारे घर के काम में लगे हुए हाथ को तुम ने चेष्टारहित करदिया है अब हमारे पांव भी तुम्हारे चरण कमल के समीप से दूसरे स्थान में एक पगभर जाने को समर्थ नहीं है, फिर हम गोकुल को कैसे जायं और वहां जा कर क्या करें? इस के बाद श्रीगोपियों और श्रीभगवान् का अलौकिक और परमपावन मिलन हुआ जो अवश्य आध्यात्मिक भाव में आत्मा परमात्मा का मिलन है। वहां ही लिखा है:-"इति विक्लवितं तासां श्रुत्वा योगेश्वरेश्वरः। प्रहस्य सदयं गोपी रात्मारामोऽप्यरीरमत्" ४२ हे राजन्। इस प्रकार उन श्रीगोपियों के शरणागति सूचक भाषण सुन कर अपनी आत्मा (श्रीपराशक्ति) में रमण करने वाले योगेश्वरेश्वर श्रीभगवान् ने गोपियों (चिच्छक्तियों) के साथ रमण (शक्ति संचार लीला) किया। यहां भी श्रीभगवान् के लिये योगेश्वरेश्वर विशेषण का व्यवहार किया गया और भी "आत्माराम" का, जिससे स्पष्ट अर्थ यह है कि यह आध्यात्मिक भाव में प्रेम योग की दीक्षा है और जैसे आत्मा में रमण किया जाता है उसी प्रकार यह भी जीवात्मा परमात्मा का आभ्यन्तरिक हृदयस्थ रमण था, बाह्य (शारीरिक) कदापि नहीं। इस परमदुर्लभ मिलन के आनन्द के अनुभव से अन्तरात्मा में अपनी उत्कृष्टता का

भाव आना सम्भव है, क्योंकि मिलन होने पर भी यह आत्मनिवेदन के स्वीकार के योग्य नहीं हुई है। इस मान के होने पर श्रीभगवान् अलक्षित हो जाते हैं। हृदय से श्रीभगवान् के अलक्षित होनेपर अन्तरात्मा अत्यन्त ही विह्वल और व्यग्र होकर अन्वेषण में प्रवृत्त होती है। संसार में मित्र मित्र, पतिपत्नी, पितापुत्र आदि का वियोग प्रायः असह्य और हृदयविदारक होता है जिस के कारण विरही को संसार शून्य देख पड़ता, भोजन आदि आवश्यक कर्म भी बन्द हो जाते और उसका चित्त दिनरात अपने बिछुड़ेहुए प्रियपात्र में स्वाभाविक रूप से संलग्न रहता है। जब कि सांसारिक सम्बन्ध के विछोह में ऐसी दशा होती है तो फिर विश्व की आत्मा आनन्दकन्द करुणापुंज श्रीभगवान् की साक्षात् सेवा से विच्छेद होने से विरही की क्या दशा होगी? इसका वर्णन कठिन है, किन्तु यह विच्छेद-विरह अन्तरात्मा के लिये परमावश्यक है और इसी कारण उस के हितके लिये ही यह भाव प्रदान किया जाता है। प्रेम की परीक्षा और भी वृद्धि प्रियतम के विच्छेद ही से होती है, किसी २ के लिये समीपता से इसके घटने की सम्भावना रहती है। इसी नियम के अनुसार श्रीभगवान् भी श्रीगोपियों के बीच से बन में मद और मान के आने पर उन को शमन करने के लिये और श्रीगोपियों के कल्याण के लिये अन्तर्द्धान हो गये—श्रीमद्भागवत पुराण का यह स्पष्ट वाक्य है।

श्रीभगवान् के अन्तर्द्धान होने पर गोपियां आत्महारा (जस की आत्मा हरली गयी हो) होकर श्रीभगवान् के अन्वेषण में प्रवृत्त हुईं। श्रीमद्भागवत पुराण के १० स्क० अ० ३० का वचन है :—

गतिस्मितप्रेक्षणभाषणादिषु प्रियाः प्रियस्य प्रतिरूढमूर्त्तयः। असावहंत्वित्यबलास्तदात्मिका न्यवेदिषुः कृष्णविहारविभ्रमाः ॥३॥ गायन्त्य उच्चैरमुमेव संहता विचिक्युरुन्मत्तकवद्वनाद्वनम्। पप्रच्छुराकाशवदन्तरं बहिर्भूतेषु सन्तं पुरुषं वनस्पतीन् ॥४॥

उन प्रिय श्रीभगवान् को गति, हास्य, देखना और भाषण आदि की ओर ही उनका मन लगा हुआ था, इतना ही नहीं किन्तु देह भी एकता को प्राप्त हो रही थी, और श्रीभगवान् के तुल्य ही जिन के क्रीडा-विलासों का प्रारम्भ हो रहा था, ऐसी श्रीकृष्णमयी और श्रीकृष्णप्रिया गोपियां, "श्रीभगवान् मैं ही हूं", ऐसा परस्पर कहने लगीं, ॥३॥ वे एक साथ मिल कर ऊंचे स्वर से श्रीभगवान् का गान करती थीं और उन्मत्त के समान हो कर एक वनसे दूसरे वन में, फिर तीसरे में, इस प्रकार घूमती हुई श्रीभगवान् को ढूंढ़ने लगीं और आकाश के सदृश स्थावर जंगम प्राणीमात्रके भीतर और बाहर व्याप्त उन पुराण पुरुष श्रीभगवान् का पता वृक्षों से पूछने लगीं।

वृक्षके सिवाय लता, पुष्प, फल वाले वृक्ष, पशु, और पृथ्वी तक से श्रीगोपियों ने श्रीभगवान् की सुधि पूछी। विरहदशा में प्रियतम के निमित्त चिंता और भावना विशेष प्रबल और व्यापी होने के कारण प्रेम की मात्रा उस के कारण बहुत बढ़ जाती है और गोपियों में इस का ऐसा प्राबल्य हुआ कि वे अपने को श्रीभगवान् मानने लगीं। प्रबलता से आत्मविस्मरण अवश्यम्भावी है और तब अन्तरात्मा में केवल श्रीउपास्य का भाव रह जाता है— यह भी आत्मनिवेदन के अन्तर्गत है। गोपियां स्थावर जंगम आदि जड़ से श्रीभगवान् के विषय में पूछने लगी। इस का भाव यह है कि स्थावर जंगम जड़ के भीतर जो श्रीभगवान् अपने विश्वरूप भाव में विराज रहे हैं, यह ज्ञान इस अवस्था में प्रत्यक्ष होजाता है जिस के कारण गोपियों को ये सब चैतन्य बोध होते थे। इस विरह के कारण गोपियां श्रीभगवान् में ऐसा तन्मय हो गईं कि उनकी लीलाओं का अनुकरण करने लगी, जैसा कि पूतना का स्तन पीना, शकट का तोड़ना, तृणावर्त वध, गौओं का चरवाहो, गोवर्धन धारण, कालिय दमन, अग्निभय नाश आदि जिन के द्वारा उन को किञ्चित् शान्ति मिलने लगी। श्रीगोपियों का उस समय का यह आचरण श्रीभगवान् के लीलानुकरण की उपयोगिता को सिद्ध करता

है। यथार्थ श्रद्धा और प्रेम से किये हुए लीलानुकरण को यदि योग्य रसिक भाविक श्रद्धा और प्रेम से अवलोकन करेंगे, तो इस से श्रीभगवान् के चरणकमल में प्रीति होने में अवश्य बड़ी सहायता मिलेगी। कलियुग में तो इस से विशेष लाभ सम्भव है, इस लिये श्रीगोपियों ने स्वयं लीला कर के दिखला दिया कि लीला का श्रद्धा से अनुकरण अथवा दर्शन श्रीभगवान् की प्राप्ति के उपायों में उत्तम उपाय है। अन्त में श्रीगोपियों ने क्या किया उस का वर्णन श्रीमद्भागवत के उसी प्रसंग में यों है :—

तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः ।
तद्गुणानेवगायन्त्योनात्मागाराणि सस्मरुः ॥ ४३ ॥

श्रीगोपियां श्रीभगवान् में अपने चित्त को संलग्न किये हुई, उन्हीं की वार्ता परस्पर करती हुई, उन्हींकी लीलाओं का अनुकरण करती हुई, उन्ही में अपनी आत्मा को अर्पित किये हुई, उन्हीं के गुण का गान करती हुई अपने बाह्य भाव को भूल गईं। इस के बाद श्रीगोपियों ने कातर हो कर बड़े ही स्नेह और अनुराग से श्रीभगवान् के पावन यश का गान कर अपने हृदय के प्रेमोच्छ्वास को प्रकट किया। वे केवल साक्षात् सेवा में विच्छेद के कारण व्याकुल थीं और यही उन का विरह-वेदना का मुख्य कारण था। उन्हों ने कहा :—

व्रजजनार्तिहन्वीर योषितां निजजनस्मयध्वंसनस्मित।
भज सखे भवत्किंकरीःस्म नो जलरुहाननं चारु दर्शय॥६

अ० ३१

हे वीर! तुम गोकुलवासियों के सकल पीड़ाओं को दूर करने वाले हो और तुम्हारा हास्य भक्तों के गर्व को नष्ट करने वाला है, इस कारण हे प्राणों के सखा! तुम हमें अपनी दासी जान स्वीकार करो और हम स्त्रियों को अपने कमल के तुल्य सुन्दर मुख दिखाओ। इस के बाद की उन की दशा का यों वर्णन है :—

इतिगोप्यः प्रगायन्त्यः प्रलपन्त्यश्च चित्रधा ।
रुरुदुः सुस्वरं राजन् कृष्णदर्शनलालसाः ॥ १ ॥
अ० ३२

हे राजन् ! श्रीभगवान् के दर्शन के लिये अति उत्कण्ठित होकर ऐसे अनेकों प्रकार के गान करने वाली और नाना प्रकार के प्रलाप करती हुई वे गोपियां अंत में सुन्दर स्वर से रोने लगीं। इस के बाद श्रीभगवान् प्रकट हो गये। श्रीगोपियों के इस वियोग के समय के आचरण और भाव में भक्ति मार्ग की साधनाओं का उत्तम आदर्श वर्तमान है।

इन में श्रीभगवान् में तन्मयता, लीलानुकरण जिस का मुख्य तात्पर्य्य उन के दिव्य मधुर भाव के गुणों का जैसा कि दया और प्रेम को अपने में प्रकाशित करना है, उन के साकार भाव में प्रेम रखते हुए भी विश्व को उन का रूप मानना, कीर्तन, गुण गान, मन और आत्मा का समर्पण और वियोग के असह्य होने पर रोदन अर्थात् हृदय का प्रेमोच्छ्वास मुख्य है। भाविक भक्त के पवित्र प्रेम के कारण उस के श्रीउपास्यमय हृदय द्वारा जो नामोच्चारण होता है वह ऐसा मधुर और भावपूर्ण होता है कि उस के कारण केवल भाविक में ही भाव की दशा नहीं उत्पन्न होती किन्तु सुनने वाले पर भी इस का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता और उन में भी अनेकों में भाव का किंचित आविर्भाव आजाता। ऐसा ही प्रभाव श्रीगोपियों का नामगान में होता था। जैसा पद्यावली में लिखा है:—

नयनं गलदश्रुधारया वदनं गद्गदरुद्धया गिरा ।
पुलकैर्निचितं वपुः कदा, तवनामग्रहणे भविष्यति ॥

हे प्रभो ! कब तुम्हारे नाम लेने से मेरे नेत्रों से आनन्दाश्रु चलने लगेंगे, मुख गद्गद्वचनों से रुद्ध हो जायगा और पुलकोद्गम

के कारण सर्वांग कंटकित हो जायंगे। गोपियां का क्रन्दन उन की अन्तरात्मा का आध्यात्मिक क्रन्दन था, जिस के होने पर फिर श्री भगवान् कृपा करने में विलम्ब नहीं करते। देखो प्रथम खंड पृष्ठ १६४।

रसिक भक्त के जीवन में यह विरह भाव अधिक दिनों तक चलता है, क्योंकि प्रेम की प्रगाढ़ता, त्याग की कठोरता, साक्षात् सेवा के लिये व्यग्रता, श्री उपास्य के करुणा भाव का संसार में प्रसार, प्रेमगंगा के वारि से सिंचित होकर प्रेम रूपी हृदयकुसुम का विशेष विकाश और आत्मार्पण का अधिकार- ये सब इसी भाव में पुष्ट और परिपक्व होते हैं, अतएव भक्तों को यह भाव परम वाञ्छनीय रहता है। पूर्वकाल में श्रीसीता जी ने इस भाव को प्रदर्शित कर जगत् को तृप्त किया। श्री लक्ष्मी जी क्षीरसागर में श्री भगवान् के शयन के समय उन के चरणकमल में स्थित रह कर इसी भाव का प्रदर्शन करती हैं। श्री गोपियों के जीवन के भी अधिक भाग इसी विरहदशा में बीता और इसी कारण वे प्रेम के आदर्श हुईं। इस दशा में रसिक-भक्त को समय २ पर हृदय मन्दिर में श्री उपास्य से मिलन होता है और फिर वे पृथक् भी हो जाते हैं। भक्त इस मिलन के आनन्द की स्मृति और अनुभव में मस्त रह कर सदा सर्वदा श्री उपास्य ही के चरणकमल में अपनी आत्मा तक को अर्पित रखता, उन्हीं के स्मरण में निमग्न रहता और यद्यपि बाहर से संसार यात्रा के और अन्य कर्मों को करता किन्तु उस की अन्तरात्मा सदा श्री उपास्य में अनुरक्त रहती, कदापि पृथक् नहीं होती। किन्तु यद्यपि वह श्री उपास्य की करुणा और तेजपुंज को संसार के हित के लिये वितरण करके परमसेवा में नियुक्त रहता किन्तु साक्षात् सेवा की लालसा के कारण विच्छेद से वह बड़ा दुःखित रहता और इस विरहज्वाला से वह दग्ध होता रहता है।

कलियुग में श्रीजयदेव जी, श्रीमती मीराबाई, भक्तशिरोमणि श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज, श्रीअयोध्या के श्रीयुगलानन्यशरण

जो बंगाले के शक्ति के उपासक श्रीरामप्रसाद आदि भक्तों ने इस भाव को भक्तों के हित के लिये प्रकाशित किया। किन्तु कलियुग में इस महाभाव का पूर्ण प्रकाश बंगाले के नवद्वीप के श्रीमहाप्रभु चैतन्य चन्द्र ने किया। उन्होंने अपने जीवन द्वारा गोपीप्रेम और श्रीराधाभाव को बड़ी मधुरता से प्रकाशित किया। जब उन को अपने हृदयमन्दिर में श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के दर्शन होते, तो वे प्रेम से पुलकित हो जाते जिस का प्रभाव उन के रोम २ पर देखा जाता, प्रेम के अश्रु उनके नेत्रों से बहने लगते प्रेम के कारण कण्ठ अवरुद्ध हो जाता, उन के रोम रोम २ से श्रीभगवान् के तेजपुंज निकलने लगते जिस का स्पष्ट प्रभाव दर्शकों पर पड़ता और ऐसी अवस्था में वे अपने को श्री उपास्य मानते और वैसाही आचरण करते। जब विरह का भाव उन में आता तो उन के हृदय का स्पन्दन बन्द हो जाता, नाड़ी रुक जाती, मुंह से लार आने लगते, संज्ञा एक दम जाती रहती, मृत्यु के लक्षण देखने में आते, यहां तक कि कभी २ रोमकूपों से रुधिर तक निकल ने लगता, कभी २ हाय श्री कृष्ण! हाय प्राणनाथ! हाय! वृन्दावन! आदि कह कर रोदन करते। श्री भगवान् के नाम कर्णगोचर कराने से बड़ो कठिनता से उनका यह भाव छूटता। श्री कृष्णप्रेम क्या है? गोपी विरह क्या है? श्री राधाभाव क्या है? नामोच्चारण द्वारा श्री भगवान् कैसे शीघ्र कृपा करते हैं? इन बातों को श्री महाप्रभु ने अपने जीवन द्वारा संसार को स्पष्ट दिखला दिया। श्री भगवान् के भक्त को कैसा उपकारी होना चाहिये? श्री भगवान् के नाम में पतितों के भी उद्धार करने के लिये कैसी अद्भुत शक्ति है? और भक्त को किस प्रकार श्री भगवान् के नाम और प्रेम का प्रचार कर जगत का कल्याण करना चाहिये? ये सब बातें श्री महाप्रभुने अपने जीवन द्वारा भली भांति प्रकाशित कर दिया। इस प्रेमतत्त्व को जानने के लिये श्री महाप्रभु की जीवनी अवश्य पढ़नी चाहिये। श्री महाप्रभु के बाद इस भाव को बड़ी सुन्दरता से मातृभाव के उपासक कलकत्ते के महात्मा श्री रामकृष्ण परमहंस जी ने दिख-

लाया। उनको भी यह परम भाव हुआ करता था और विरह के भाव में उनकी भी अवस्था आसन्न मृत्यु काल के समान हो जाती थी। इनको भी श्री उपास्य से मिलन होता और फिर विच्छेद भी होता, इन में भी दोनों भाव देखे जाते थे। कीर्तन स्मरण परोपकार और भक्ति का प्रचार श्री भगवान् की मुख्य सेवा है इस पर इन्हों ने भी बहुत जोर दिया, जैसा कि श्री चैतन्य महाप्रभु का सिद्धान्त था। इन को भी जीवनी और उपदेश अवश्य पढ़ना चाहिये। श्री मा काली की मधुर उपासना के महत्व को इन्हों ने विशेष प्रगट किया। इन के बाद बंगाल में महात्मा श्री विजयकृष्ण गोस्वामी जी हुए, उन में भी इस भाव का प्रकाश होता था। इनको भी श्री सद्गुरु से सम्बन्ध था और श्रीसद्गुरु की कृपा से ही इनको प्रेम-भक्ति का लाभ हुआ। श्री सद्गुरु तत्त्व को और भी मातृभाव की उपासना को इन्हों ने अच्छी तरह प्रकाशित किया। कीर्तन स्मरण परोपकार और ज्ञान-भक्ति का विशेष प्रचार परमावश्यक है इस पर इन्हों ने भी जोर दिया। इनकी भी जीवनी और उपदेश पठनीय है।

प्रेमतत्त्व के आध्यात्मिक रहस्य को दिखलाने का एक तात्पर्य्य यह भी है कि भाविकगण समझें कि आजकल भी स्थूल शरीर से सम्बन्ध रखते हुए भी इस परम प्रेमभाव के आनन्द का अनुभव हो सकता है, जैसाकि पूर्व के भक्तशिरोमणि श्रीगोपीगण आदि को हुआ। ऊपर के जीवनवृत्तान्त से इस की अधिक पुष्टि हो गई।

रासमण्डल में श्री भगवान् के प्रकट होने पर श्रीगोपियां इस प्रकार प्रसन्न हुईं मानो मृत शरीर में जीवन आगया। उस समय श्री गोपियों के प्रश्न पर श्रीभगवान् ने जो उत्तर दिया उस में भक्ति-मार्ग और वियोग का तत्त्व और श्रीगोपियों के प्रेम का उत्कर्ष वर्णित है। श्रीभगवान् ने कहा :—

भजंत्यभजतो ये वै करुणाः पितरो यथा।
धर्मो निरपवादोऽत्र सौहृदं च सुमध्यमाः॥१८॥

एवंमदर्थोऽज्झितलोक वेदस्वानां हि वोमय्यनुवृत्तयेऽबलाः। मयापरोक्षं भजता तिरोहितं माऽसूयितुंमाऽर्हथ तत्प्रियं प्रियाः २१ न पारयेऽहंनिरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः। यामाऽभजन् दुर्जरगेह शृङ्खलाः संवृश्च तद्वः प्रतियातु साधुना। २२

अ० ३२

श्रीभगवान् ने कहा कि हे सुमध्यमा ! जो निष्काम उपकार करते हैं उन में एक केवल दया और दूसरे माता पिता के समान स्नेह के कारण करते हैं, उन में दयालु का धर्म उत्तम और स्नेह वाले का मध्यम है। हे गोपियो ! मुझ प्राप्त करने के निमित्त जिन तुम ने, योग्य अयोग्य का विचार, धर्म अधर्म का विचार और बान्धवों का स्नेह, ये सब, त्याग किये हैं तिन तुम्हें मुझ में निश्चल वृत्ति रहे इस कारण तुम्हारा प्रेम का भाषण गुप्त रीति से सुनने वाला मैं अन्तर्द्धान होगया था। हे प्रिय सखियो ! तुम, तुम्हारा प्रिय करने वाले मेरे ऊपर, दोषदृष्टि रखने के योग्य नहीं हो। निष्कपट भाव से मेरी सेवा करनेवाली तुम्हारे साधु के समान आचरण का मैं अपने सदाचरण से प्रत्युपकार करने को देवताओं की आयु से भी समर्थ नहीं होऊंगा, क्योंकि तुम ने कठिनता से तोड़ने योग्य गृहरूपी बेड़ियों को तोड़ कर मेरी सेवा की है, तिन तुम्हारे सत्कार्य का तुम्हारे सुन्दर स्वभाव से ही प्रत्युपकार होवे। इस वाक्य से गोपियों के त्याग का महत्व प्रत्यक्ष है।

वियोग-परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर श्री गोपियों का आत्म-समर्पण स्वीकृत हुआ और उन की शुद्ध आत्मा को अपनाने के लिये श्री भगवान् ने उन लोगों के साथ रास किया जो परम आध्यात्मिक भाव है। आध्यात्मिक रास के वाह्य अनुकरण के वर्णन से आन्तरिक का किंचित् पता लग जायगा। दो दो, गोपियों के मध्य में एक एक श्री भगवान्, अनेक रूप होकर, उनके कोमल हाथों को

अपने हस्तकमल से पकड़ कर और इस प्रकार मण्डल बनाकर और मिल कर नृत्य और गान करने लगे जिस में श्री भगवान् और दोनों गोपियां, इन तीनों ने एक होकर योग दिया। स्त्रियों सहित देवतागण अपने २ विमानों में बैठ कर आकाशमण्डल से इस अलौकिक और अप्राकृत लीला को देखने लगे और दुन्दुभि बजाकर पुष्प की वर्षा करने लगे, श्रेष्ठ गन्धर्व गण श्री भगवान् के निर्मल यश गाने लगे और वे गन्धर्व किन्नर रस के आवेश में आकर स्वयं नृत्य करने लगे। यदि यह रासोत्सव केवल वाह्य दृश्य रहता जिस का अनुकरण सब कोई कर सकता है तो इस की इतनी महिमा नहीं होती और न गोपियों को केवल इस से शान्ति मिलती। यथार्थ में यह परमदुर्लभ आध्यात्मिक भाव है। श्री ब्रह्मवैवर्त पुराण के कृष्णजन्मखण्ड के ४ थे अध्याय में लिखा है कि रास-मण्डल गोलोक में है। मनुष्य शरीर (पिण्डाण्ड) में रासमण्डल हृदय का एक गुह्य भाग है, जहां प्रिया-प्रियतम का मिलन होकर आत्मसमर्पण पूर्ण होता है।

श्रीउपास्य के मिलन के लिये दीर्घ अन्वेषण भ्रमण, कठोर व्रत विधान, अनवरत सेवा, दारुण त्याग, दुःसह क्लेश प्रबल विरहसंताप, कठिन परीक्षा आदि के सहर्ष भोगने पर और श्रीसद्-गुरु की कृपा प्राप्त करने पर जब अन्तरात्मा रासोत्सवरूपी महा-भाव को प्राप्त करने पर आत्मसमर्पण करती है और वह समर्पण स्वीकृत होजाता है, तब उपासक श्रीउपास्य का एक दिव्य अंग हो जाता है जिस को श्रीउपास्य अपने जगत की रक्षा और पालन के कार्य्य में उपयुक्त करते है। ऐसा होने से जगत का बड़ा कल्याण होता है, प्राणिमात्र को इससे लाभ होता है, इसी कारण इसका नाम रासोत्सव है। श्रीनारद सूत्र में लिखा है :—

"मोदन्ते पितरस्तृप्यन्ति देवताः सनाथा चेयंभूर्भवति।"

श्रीभगवान् की प्राप्ति से अर्थात् आत्मनिवेदन करने पर पितर आनन्दित होते हैं, देवतागण नृत्य करते है और पृथ्वी सनाथ

(कृतकृत्य) होती है। तैत्तिरीय उपनिषद् में जो निम्नकथित अवस्था का वर्णन है वह भी यही उच्चभाव है—

आप्नोतिस्वराज्यम् । आप्नोति मनस्पतिं वाक् पतिश्चक्षुःपतिःश्रोत्रपतिर्विज्ञानपतिः ।

वह यथार्थ स्वराज्य (श्रीभगवान् का आनन्दभाव जिससे च्युत होगया है) को प्राप्त करना है। विश्वात्मा श्रीभगवान् के साथ युक्त होने से सब भूतों के मन, वाक्य, चक्षु, श्रोत्र और विज्ञान पर उसका आधिपत्य होता है अर्थात् वह भी सर्वव्यापी के समान हो जाता है।

श्री भगवान् ने अपने प्रिय अंश चिच्छक्ति को जिस उद्देश्य से संसार में भेजा अर्थात् प्रकृति को जयकर श्रीभगवान् के दिव्य गुणों को प्रकाशित करना और संसार रूपी क्षीरसागर के सम्बन्ध से प्रेम रूपी मक्खन प्राप्त कर उस अनुपम नैवेद्य के साथ विशुद्ध अन्तरात्मा का श्रीभगवान् की साक्षात् सेवा के लिये आत्मसमर्पण करना, उस उद्देश्य की यह पूर्ति है। श्रीमद्भागवत पुराण स्क० ११ अ-१४ में लिखा है:—

निरपेक्षं मुनिं शांतं निर्वैरं समदर्शनम् ।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यंघ्रिरेणुभिः॥१६॥

श्रीभगवान् कहते हैं कि निरपेक्ष, मननशील, शान्त, निर्वैर और समदृष्टि (आत्मसमर्पक) भक्त के पीछे मैं नित्य "इस भक्त के चरणरज से अपने उदर के ब्रह्माण्डों को पवित्र करूंगा" ऐसी भावना से जाता हूं।

जीवात्मा को दीर्घ जीवन यात्रा की, गन्तव्य स्थान पर पहुंचने से, यह समाप्ति है। श्रीपराशक्ति और श्रीभगवान् के एकत्र मिलने से बड़ा मण्डल (ब्रह्माण्ड का केंद्र) बन जाता है जिस के द्वारा शक्ति का सञ्चार होकर वह संसार की स्थिति और पालन का कारण होता है। यही शक्तिसंचार रासक्रीड़ा है। जिस रास-

क्रीडा में स्वयं श्री पराशक्ति प्रवृत्त है, तो उनके अंश चिच्छक्तियों (जीवात्मागण) का भी यह परम कर्तव्य है कि वे भी आत्म-समर्पण कर इस में प्रवृत्त होकर योगदें।

इस वाह्य रास क्रीडा में हस्तस्पर्श द्वारा एक होकर और मण्डलाकार बनकर नृत्य गान का सम्पादन मुख्य है जो आध्यात्मिक भाव का ठीक द्योतक है। साक्षात् आत्मसमर्पण द्वारा शुद्ध अन्तरात्मा के श्रीउपास्य में युक्त होने पर एक केन्द्र (मण्डल) बन जाता है और तब नृत्य (इच्छा शक्ति का संचार) और गान (प्रेमानन्दमयी शक्ति का संचार) द्वारा जो धर्म रूपी आनन्द भाव की उत्पत्ति होती है वह गंगा बन कर तीनों लोक में प्रवाहित होती और सबों का कल्याण करती है आत्मनिवेदन द्वारा ऐसे जितने अधिक केन्द्र (मण्डल) प्रस्तुत होते हैं अथवा जितनी अधिक आत्मायें परम मण्डल में योग देती हैं उतना ही अधिक विश्व में आनन्दभाव का वितरण और प्रसरण होता है, अतएव यह रासमण्डल की लीला (शक्ति संचार) विश्व के लिये परम मंगलकारी उत्सव है।

श्रीभगवान् शिव भी जगत का मंगल नृत्य और वाद्य (डमरू का बजाना) ही से करते हैं और वे भी श्रीजगदम्बा के साथ नृत्य करते और डमरू बजाते हैं। यह शब्दशास्त्र ही श्रीशिव के डमरू के बजाने का परिणाम है अर्थात परानाद ही सब प्रकार के शब्द का मूल है। प्राकृतिक कार्य में भी प्रथम दो पदार्थों के संयोग से मण्डल (केन्द्र) बनता और फिर उसमें नृत्य (शक्ति संचारmotion) और शब्द (स्पन्दन vibration) होने से वस्तु का निर्माण होता है।

रास की (आकर्षिणी) शक्ति (cohesive force in nature) द्वाराही यह संसार चल रहा है, अतएव रासलीला नित्य और सृष्टि का नियम है। पुरुष (positive) और प्रकृति (negative) शक्ति के एकत्र मिलने से केंद्र (मण्डल) बनता है और उस के द्वारा शक्तिसंचालन (रासलीला) होने से ही परमाणु की उत्पत्ति होता है जो दृश्य जगत् का मूल है।

इस परमप्रेम-तत्त्व और गुह्य आत्मनिवेदन के रहस्य को प्रकाशित करने के लिये श्रीभगवान् ने अपनी प्रिय श्रीगोपियों के साथ श्रीवृन्दावन में रासमहोत्सव किया जो आध्यात्मिक भाव का वाह्य अनुकरण था। उस समय तो श्रीवृन्दावन ही श्रीगोलोक था जहां की श्रीभगवान् की प्रिय शक्तियां श्रीगोपी होकर प्रकट हुई थीं, अतएव श्रीगोलोक के रहस्य का अभिनय श्रीव्रज में संसार के मंगल के लिये दिखलाया गया। इसी कारण श्रीमद्भागवत पुराण में रासक्रीड़ा के सम्बन्ध को आत्मरमण कहा गया है। जैसा कि:—

कृत्वा तावंतमात्मानं यावतीर्गोप योषितः।
रेमे स भगवां स्ताभि रात्मारामो ऽपि लीलया २०

अ० ३३

श्रीभगवान् ने आत्मा (विशेष कर आत्मनिवेदित आत्मा) में रमण करने वाले हो कर जितनी गोपी उतने रूप को धारण कर, उन (आत्मनिवेदन करने वाली) गोपियों की आत्मा में रमण किया। जैसे वाह्यदृष्टि से वाह्ययज्ञ में त्याग और कष्ट होते हैं, वैसे ही वाह्य रासोत्सव में भी वाह्यदृष्टि से किंचित् थकावट और क्लेश अवश्य हैं किन्तु दोनों आंतरिक्र दृष्टि से आनन्द भाव हैं। धन्य हैं श्रीगोपियां, जिन्हों ने अपने आदर्श और प्रेममय जीवन द्वारा इस प्रेमपथ को कलियुग के लिये प्रकाशित कर दिया। प्रेम की दीक्षा श्रीगोपियों से मिलने पर श्रीउद्धव ने उन के विषय में जो कहा वह श्रीमद्भा० स्क० १० अ० ४७ में यों है :—

सर्वात्मभावोऽधिकृतो भवतीनामधोक्षजे।
विरहेण महाभागा महान्मेऽनुग्रहः कृतः ॥ २७ ॥
आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनां। या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ॥६१॥

वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः ।
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम् ॥६१॥

हे महाभागाओं ! तुम्हें विरह से श्रीभगवान् के विषय जो प्रेम-लक्षणा एकान्त भक्ति प्राप्त हुई, सो तुमने मुझे सहज में ही दिखादी, ऐसा कर के तुमने मेरे ऊपर भी बड़ा अनुग्रह किया है। अहो ! यों मेरी तो प्रार्थना है कि इन श्रीगोपियों के चरणों के रेणु को सेवन करने वाली श्रीवृन्दावन में उत्पन्न हुई लता और औषधियों में से कोई मैं होऊं, क्योंकि जिनका त्यागना कठिन है ऐसे अपने स्वजन और प्रवृत्तिमार्ग को त्याग कर श्रुतियों को भी जिस का मिलना दुर्लभ है, ऐसा श्रीभगवान् की प्राप्ति का मार्ग इन्हों ने स्वीकार किया है। जिन श्रीगोपियों का श्रीभगवान् की कथाओं का गाना त्रिलोकी को पवित्र करता है उन नन्द के गोकुल में की स्त्रियों के चरणरेणु को मैं वारवार नमस्कार करता हूं। श्रीमुख वाक्य है :—

सहाया गुरवः शिष्या भुजिष्या बान्धवाः स्त्रियः ।
सत्यं वदामि ते पार्थ ! गोप्यः किं मे भवन्ति न ॥

गोपी प्रेमामृत ।

मन्माहात्म्यं मत्सपर्यां मच्छ्रद्धां मन्मनोगतम् ।
जानन्ति गोपिकाः पार्थ नान्ये जानन्ति तत्त्वतः ॥

आदि पुराण ।

हे अर्जुन ! श्रीगोपियां मुझको क्या नहीं हैं यह मैं कह नहीं सकता। वे मेरे सहाय, गुरु, शिष्य, दासी, बन्धु, प्रेयसी जो कहो सबही हैं। मेरा माहात्म्य, पूजा विधि मेरी श्रद्धा और मेरा अभीष्ट श्रीगोपियां जानती हैं, इनके तत्व दूसरे लोग नहीं जानते।

इस भावकी प्राप्ति पर भी प्रेमसेवा अवश्य बनी रहती है। किन्तु यह शुद्ध साक्षात् आध्यात्मिक सेवा है जिस में निवेदित आत्मा केवल निमित्तमात्र केन्द्र बन जाता और स्वयं श्रीभगवान् उस के द्वारा संसार के मंगल के लिये बड़े २ कार्य्यों को करते हैं।

ऐसी आत्मा तब से श्रीसद्गुरु का कार्य्य करती है और इसी कारण श्रीसद्गुरु और श्रीउपास्य में भेद नहीं है, क्योंकि आत्मनिवेदन के कारण वे दोनों एक होगये, यद्यपि कार्य्य द्वारा भेद रहता है

गोपीभाव यथार्थ में अनादि है और गोपी शब्द का अर्थ रक्षा करने वाली है अर्थात् श्रीभगवान् के संसार की रक्षाके काम में योग देनेवाली। बीते कल्प के भक्तगण गोपीरूप में श्रीभगवान् के साथ सृष्टि के प्रारम्भ से ही रह कर श्रीभगवान् की अंतरंग सेवा में अनुरक्त रहते हैं और व्रज में इन्हीं गोपियों ने जन्म लेकर अपने जीवनद्वारा प्रेममार्ग को फक्ति के लिये विशेष प्रकट कर दिया और इस मार्ग की यात्री स्वयं बन कर श्रीभगवान् की प्राप्ति के साधन और भाव को प्रकाशित कर दिया। प्रत्येक भाविक अंत में गोपी बन कर श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्र को प्राप्त करेगा और इसी प्रकार श्रीरामोपासक श्रीसीताजी की सहचरी बन कर उन की कृपा से आत्मसमर्पण कर अर्थात् महा-रास में प्रवृत्त हो श्रीभगवान् को प्राप्ति करेंगे, जैसा कहा जा चुका है। इसी प्रकार अन्य उपासकगण अपने २ श्रीउपास्य की शक्ति की सहचरी बन श्रीउपास्य में आत्मसमर्पण करेंगे। सब उपासकों के मार्ग, साधन, भाव और लक्ष्य एक हैं, यद्यपि नाम में भिन्नता है। श्री भा० का वचन है:—

गोप्यस्तपः किमचरन् यदमुष्य रूपं, लावण्यसारम-समोर्द्ध्वमनन्यसिद्धम्। दृग्भिः पिबन्त्यनुसवाभिनवं दुराप-मेकान्तधाम यशसः श्रिय ईश्वरस्य ॥

मथुरावासिनियों ने श्रीभगवान् को देख कर कहा कि अहो! श्री गोपीयों ने कैसी अनिर्वचनीय तपस्या की जिसके कारण वे सर्वदा नेत्र से श्री ऐश्वर्य्य और यश के एकान्त आस्पद, दुष्प्राप्य, अनन्यसिद्ध, असमोर्द्ध्व, लावण्यसार रूप श्री भगवान् की रूप-सुधा का पान करती हैं।

श्री राधाभाव ।

मारः स्वयं नु मधुरद्युति मण्डलं नु माधुर्यमेव नु मनोनयनामृतं नु । वेणीमृजो नु मम जीवितवल्लभो नु बालोऽयमभ्युदयते मम लोचनाय ।

कृष्णकर्णामृत ।

यह गोपी भाव से उच्चभाव है। इसके भी दो भेद हैं। श्री राधा स्वयं परा शक्ति हैं और गोलाक में श्री भगवान् की नित्यलीला में रासस्थल में प्रवृत्त रहती हैं। इसी कारण इन का नाम रासेश्वरी है अर्थात् विना इन के रास लीला अर्थात् सृष्टि को उत्पत्ति स्थिति पालन हो नहीं सकते। श्री लक्ष्मी, श्री पार्वती, श्री गायत्री, श्री सीता, श्री राधा एक ही पराशक्ति के भिन्न २ रूप और नाम हैं। इसका वर्णन ब्रह्मवैवर्त में भली भांति है। वहां श्री कृष्ण-जन्म खंड अ० १२४ में लिखा है:—

त्वं सीता मिथिलायाञ्च त्वच्छाया द्रौपदी सती ।
९७ रावणेन हृता त्वञ्च त्वञ्च रामस्य कामिनी ॥

श्रीभगवान् श्री राधा से कहते हैं कि हे श्री राधे ! मिथिला में तुम श्रीसीता हुई और सती द्रौपदी तुम्हारी छाया हैं। श्री भगवान् रामचन्द्र की तुम भार्य्या हो और रावण ने तुम्ही को हरण किया था। और भी ब्रह्मवैवर्त्त पुराण में लिखा है :—

कृष्णवामांशसम्भूता राधा रासेश्वरी पुरा ।
तस्याश्चांशांशकलया बभूवुर्देवयोषितः ॥४१॥
बभूव गोपीसंघश्च राधाया लोमकूपतः ।

प्रकृति० खं० अ० ४८

अहं यज्ञश्च कलया त्वं स्वाहांशेन दक्षिणा ।
त्वया सार्द्धं च फलदोऽप्यसमर्थस्त्वया बिना ॥७३॥

अहंपुमांस्त्वं प्रकृतिर्नस्रष्टाहं त्वया विना ।
त्वञ्चसम्पत्स्वरूपाह मीश्वरश्च त्वया सह ॥७४॥

श्री कृष्ण ज० खं० अ० ५१

देवी कृष्णमयी प्रोक्ता राधिका सर्वथाधिका ।
सर्वलाद्मीमयी सर्वकान्तिः सम्मोहिनो परा ॥

भक्तिरसामृत-सिन्धु ।

श्रीभगवान् महेश्वर के वाम अंश से रासेश्वरी (जगद्धात्री) श्री राधा की उत्पत्ति हुई और उनके अंशांश और कला से देवस्त्रियां हुईं । श्रीराधा के लोमकूपों से गोपियों के यूथ की उत्पत्ति हुई । श्रीभगवान् श्रीराधा से कहते हैं कि मैं कला द्वारा यज्ञ हूं, तुम दक्षिणा हो, तुम्हारे युक्त होने से मैं फल देता हूं किन्तु विना तुम्हारे असमर्थ हूं । मैं पुरुष हूं तुम प्रकृति हो और तुम्हारे विना मैं सृष्टि नहीं कर सकता । तुम विभूति रूप हो और तुम से युक्त हो कर ही मैं ईश्वर हूं । श्रीराधिका कृष्णमयी, परदेवता, सर्वलद्मीमयी, सर्वकान्ति, सम्मोहिनी, और परा नामसे कीर्तित हैं ।

गर्गसंहिता में लिखा हैः—

कृष्णः स्वयं ब्रह्म परं पुराणो लीला त्वदिच्छा प्रकृतिस्त्वमेव ।

मथुरा खंड अ० १५

हे श्री राधे ! श्री कृष्ण स्वयं पुराण परब्रह्म और तुम प्रकृति हो औरतुम्हारी इच्छा से संसारलीला होती है ।

चूंकि आनन्दमयी पराशक्ति का जीवन ही परम प्रेम है, वे ही परम प्रेम पराभक्ति के आश्रय और दात्री हैं और उपासक तथा श्रीउपास्य के बीच वे ही प्रेमसूत्र से सम्बन्ध जोड़ दोनों का मिलन कराने वाली हैं, अतएव वे भी अपनी दया के कारण श्री उपास्य के सम्बन्ध में प्रकट होती हैं और प्रकट होने पर अपने

जीवन द्वारा प्रेमतत्त्व के परमोच्च भाव को प्रकट कर प्रेम मार्ग को विशेष प्रकाशित और सुगम कर देती हैं। श्री भगवान् का संसार के हित के लिये प्रेमयज्ञ अवश्य मधुर है किन्तु श्री पराशक्ति का श्री भगवान् के लिये प्रेम-यज्ञ उससे अधिक मधुर (मधुराति मधुर) है जिस के आस्वाद के लिये स्वयं श्री भगवान् व्याकुल रहते हैं। अवतार द्वारा श्रीपराशक्ति अपने मधुर (त्याग) भाव को प्रकट करती हैं और श्री भगवान् उस का आस्वाद लेकर जगत को तृप्त करते हैं। श्री भगवान् के प्रेमी लोग इस भाव को स्वयं पाकर ससार में वितरण करते हैं। श्री पराशक्ति ने श्री सती होकर अपने शरीर तक को श्रीभगवान् शिवजी के लिये अर्पण किया और श्रीपार्वती होकर कठिन तपस्या द्वारा अपने अद्भुत प्रेम, त्याग को जगत के कल्याण के लिये प्रकाशित किया। श्री सीता जी ने लंका युद्ध के बाद श्री भगवान् की आज्ञा के अनुसार अग्नि में और फिर यज्ञ के समय पृथ्वी में प्रवेश कर अपने अलौकिक प्रेमत्याग को जगत के हित के लिये प्रकाशित किया। श्री लक्ष्मी जी, श्रीगायत्री भी अपने जीवन द्वारा ऐसाही कर रही हैं।

श्रीराधा जी ने भी व्रज में प्रकट हो कर ऐसाही किया जो उन का दूसरा भाव है। आत्मसमर्पण करने तक तो गोपी भाव है जो इस आध्यात्मिक भाव की मध्यमावस्था है किन्तु इस समर्पण की पूर्ति होने पर जो भाव है वह यथार्थ राधाभाव है, जिस को श्रीमती ने प्रकाशित किया, क्योंकि इस को केवल वेही प्रकाशित कर सकती हैं।

श्रीराधा जी ने अपने जीवन में गोपीभाव और भी अपना (राधा) भाव दोनों को दिखलाया। श्रीभगवान् के लिये उन का प्रगाढ़ और परम मधुर प्रेम, अतुलनीय आत्मत्याग, ऐकान्तिक, अविरत और अचल अनुरक्ति और भावपूर्ण अन्तरङ्ग सेवा, मधुर गुणगान, अपरिमित करुणा आदि दैवी गुण ऐसे थे कि उन की

उपमा मिल नहीं सकती, क्योंकि इन गुणों के वेही आश्रय हैं। श्रीगोपियों को भी श्रीकृष्णप्रेम श्रीमती की कृपा से प्राप्त हुआ। श्रीराधा जी ने श्रीकृष्णविरह का यथार्थ स्वरूप, उस की महिमा, उस की मधुरता, उस का प्रभाव, उस की ज्योति उस की विश्व-हित शक्ति आदि को भलीभांति दरशाया, जिस का वर्णन यहां होना कठिन है। यह परम आध्यात्मिक भाव शब्दों द्वारा कैसे वर्णन हो सकता है? किन्तु कलियुगी जीवों पर बड़ी कृपा कर के श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीराधाभाव को अपने जीवन में बड़ी सुन्दरता से प्रकट किया। उन को श्रीराधा जी का अवतार मानना चाहिये. अथवा यों कहिये कि श्रीभगवान् श्रीराधा जी के परम दुर्लभ प्रेम की मधुरता को व्यक्त भाव में स्वयं आस्वादन करने के लिये और कलियुग के लोगों के कल्याण निमित्त उसको प्रकट करने के लिये स्वयं श्रीमहा प्रभु रूप को धारण किया। श्रीपूज्यपाद स्वरूप दामोदर ने लिखा है :—

> श्रीराधायाः प्रणयमहिमा कीदृशो वानयैवा-
> स्वाद्यो येनाद्भुतमधुरिमा कीदृशो वामदीयः।
> सौख्यं चास्या मदनुभवतः कीदृशं वेतिलोभात्
> तद्भावाढ्यः समजनि शचीगर्भसिन्धौ हरीन्दुः॥

जिस प्रेम से श्रीराधा मेरे अद्भुत मधुर भाव का आस्वादन करती हैं वह श्रीराधा की प्रेममहिमा कैसी है? श्रीमती राधा जो मेरे मधुर भाव का आस्वादन करती हैं वह कैसा है? मेरी मधुरता का आस्वादन कर श्रीमती राधा को जो आनन्द होता है वह कैसा है? इन तीन वासनाओं की पूर्ति के लिये महाभाव में भावित श्रीमती शचीदेवी के गर्भ में श्रीमहाप्रभु चैतन्य गौर-चन्द्र का जन्म हुआ।

श्रीभगवान् और उन की आनन्दमयी पराशक्ति में जो अभिन्न सम्बन्ध है उन को श्री भगवान् ने श्रीराधाजी के सम्बन्धद्वारा,

भक्तों के आनन्द के लिये, प्रकट किया। श्रीराधाजी जिस प्रकार श्रीभगवान् में सर्वतोभाव से अनुरक्त और तन्मय रहती थीं उस से अधिक श्रीभगवान् उन के दर्शन-स्पर्श के लिये उत्सुक और व्यग्र रहते थे और श्रीभगवान् को भी श्रीराधा का वाह्य वियोग सदा असह्य रहा। कहा जाता है कि द्वारका में भी यह वियोग का दुःख कभी २ प्रकट होता था जब कि वृन्दावन का भाव उन में आने से हे राधे! आदि कह कर वे मूर्छित हो जाते थे और तब वहां जो श्रीवृन्दावन बना हुआ था उस में ले जाने से वाह्य संज्ञा प्रकट होती थी।

श्रीभगवान् ने व्रज में रह कर अपना अगाध प्रेम श्री राधा के प्रति अनेक लीलाओं द्वारा दिखलाया। श्रीभगवान् श्रीराधा के दर्शन के लिये वैद्य, योगिनी, मालिन, मनिहारी, विदुषी, दिव्यांगना आदि रूपों को धारण किया। क्यों न करें, उनका तो कथन ही है कि भक्त के हाथ मैं बिका हुआ हूं और यहां तो प्रेम का मूल ही स्वयं श्रीमती थी। इन लीलाओं का रहस्य यह है कि भाविक में प्रेम की उत्पत्ति होने से श्रीभगवान् उसके पास स्वयं आते हैं और तब उनको उस भाविक भक्त से पृथक् रहना असह्य हो जाता है। श्रीभगवान् छद्मवेष में भी भाविक को मिलते हैं और अज्ञात भी मिलते हैं जैसा व्रज में होता था। भाविक को श्री भगवान् को ढूढ़ने की आवश्यकता नहीं है, प्रेम रूपी मक्खन पास रखने से वे स्वयं इस को लेने के लिये आवेंगे, यहां तक कि प्रेम को चुरा कर के भी लेलेंगे। मक्खनचोरी का रहस्य यह है कि भाविक से उस के प्रेमधन को श्री भगवान् स्वयं लेलेते हैं अर्थात् उस के कारण सम्बन्ध हो जाता है किन्तु जागृत अवस्था का अभिमानी "विश्व" (जीवात्मा) को प्रारम्भ में इसका कुछ ज्ञान नहीं रहता और यही चोरी है। उस अवस्था में ज्ञान न होना ही उत्तम है। कुछ दिनों के बाद यह सम्बन्ध प्रकट हो

आता है। अतएव इन लीलाओं के अभिनय के देखने से प्रेमोत्पत्ति में बड़ी सहायता मिलती है।

श्रीभगवान् ने श्रीराधा की उत्कृष्टता को प्रकाशित करने के लिये रासमण्डल से श्रीमती राधा जी को लेकर अन्तर्द्धान हो गये। श्रीजयदेव जी ने लिखा है:—"राधामाधाय हृदये तत्याज ब्रजसुन्दरीः" अर्थात् श्रीराधा जी को हृदय में रखकर गोपियों को त्याग दिया। यहां श्रीभगवान् के श्रीराधा को हृदय में धारण करने से इस क्रीडा के आध्यात्मिक भाव को दरशाना है। दूसरा भाव यह है कि केवल श्री राधा (पराशक्ति) जी ही श्रीभगवान् के हृदय में वासकरने योग्य हैं और केवल श्री राधा पराशक्ति के हृदय में श्री भगवान् का वास है अर्थात् इन दोनों में साक्षात् सम्बन्ध है और अन्य जितनी चिदात्मायें हैं, वे उच्च से उच्च क्यों न हों, जीवन्मुक्त महात्मा तक के दर्जे में क्यों न पहुंच गये हों, महर्षि की अवस्था क्यों न पाये हों, उन सबों का कदापि साक्षात्सम्बन्ध श्रीभगवान् से नहीं हुआ होगा और न हो सकता है। जब सम्बन्ध होगा अथवा हुआ होगा तब केवल पराशक्ति (श्रीराधा, श्रीलक्ष्मी, श्रीसीता, श्रीदुर्गा, श्रीगायत्री) द्वारा होगा विना पराशक्ति से प्रथम सम्बन्ध स्थापित किये अथवा पराशक्ति के आश्रय में विना आये सीधे सम्बन्ध कदापि नहीं हो सकता, जैसा कि पहिले भी कहा जा चुका है। सम्बन्ध का क्रम ऐसा है। श्रीभगवान् के हृदय में अथवा उनका स्वयं हृदय श्रीपराशक्ति (श्रीराधा) है और अन्योन्याश्रय के कारण श्रीपराशक्ति के हृदय में श्रीभगवान् विराजमान हैं। श्रीपराशक्ति के हृदय में विश्वकी छोटी बड़ी सब चिदात्मायें हैं, अतएव चिदात्माओं को श्रीपराशक्ति के हृदय से सम्बन्ध होने पर ही श्रीभगवान् से सम्बन्ध होगा। श्रीमद्गुरुलोगों का आत्मनिवेदन द्वारा श्रीराधाभाव की प्राप्ति होने पर ही उनका वास श्रीपराशक्ति में होता है और तब से पराशक्ति का वास उनके हृदय में होता है। अतएव अन्तरात्मा का सम्बन्ध प्रथम श्रीसद्गुरु से होगा, तब

उनके द्वारा श्रीपराशक्ति से और पराशक्ति द्वारा श्रीभगवान् से इसी कारण साधक अपने हृदय में श्रीसद्गुरु के रूपको स्थापन कर फिर श्रीसद्गुरु के हृदय में पराशक्ति के साथ श्रीउपास्य की युगल मूर्ति का ध्यान करते हैं यही सम्बन्ध का क्रम है। यही राधाभाव का रहस्य है।

श्रीगोपियों को भी श्रीभगवान से सम्बन्ध श्रीराधा जी की सहचरी (सखी) बनने से हुआ और श्रीभगवान् के भाविक (गोपियों) के आत्मनिवेदन (रासोत्सव) के समय श्रीराधा जी को अपने हृदय में धारण कर गोपियों से अन्तर्द्धान होने का रहस्य यही है कि अन्तरात्मा केवल श्री पराशक्ति द्वारा श्रीभगवान् को पा सकती है, अन्यथा नहीं। गोपियों को श्रीभगवान् फिर श्रीराधा जी के संग होने पर ही मिले। श्रीगोपियों की श्रीराधाजी के न मिलने के पूर्व की उक्ति श्रीमद्भा०स्क० १० अ० ३० में यों है-

अनयाराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद्रहः २

श्रीराधा जी ने वास्तव में श्रीभगवान् की उत्तम आराधना की है, क्योंकि हमसबों को त्याग कर, उन को आराधना से संतुष्ट श्रीभगवान् उन को एकान्त स्थानमें ले गये हैं। रासविहार दो प्रकारके हैं, एक तो श्रीभगवान् के दिव्यलोक में निवेदित चिदात्मायें और श्रीभगवान् एकत्र होकर साक्षात्भाव से नित्य विहार करते हैं जिस की अधिष्ठात्री श्रीराधा (पराशक्ति) है और इस शक्तिसंचाररूपी क्रीडा द्वारा निःसृत परम तेजपुंजरूपी प्रेमगंगा अथवा ध्वनि (गायत्री) से सृष्टिमात्र पालित और परितृप्त होती है। इस रासविहार का दूसरा भाव, विश्वके नीचे के भागों में श्रीभगवान्‌के विश्व रूप के सम्बन्ध से, प्रेमयज्ञ का रूप धारण करता है जिस में ब्रह्मादि देवगण, ऋषिगण, रुद्रगण आदि सम्मिलित हैं और यह यज्ञ विश्वके हित के लिये विश्वभर में सर्वत्र हो रहा है। जब जीवात्मा अपने

स्वार्थ को त्याग कर, श्रीभगवान् की सेवा के निमित्त इस विश्व-व्यापी प्रेम-यज्ञ में अनेक काल तक योग देकर और सर्वस्व अर्पण कर अपने अनुष्ठान की पूर्ति के लिये आत्मनिवेदनरूपी अन्तिम पूर्णाहुति देना चाहता है, तो श्रीमद्गुरु कृपा कर उसको प्रेमदीक्षा से विभूषित कर और गोपी बना कर पराशक्ति से सम्बन्ध करवा देते हैं और तब श्रीराधा जी उस अन्तरात्मारूपी गोपी (अपनी सहचरी) को श्रीभगवान् की रासस्थली में लेजाकर उस का आत्म-निवेदन श्रीभगवान् के चरणकमल में करवादेती हैं और तब से वह नित्य रासलीला में श्रीभगवान् के साथ श्रीराधा (पराशक्ति) के सम्बन्ध के कारण उन के द्वारा युक्त हो जाती है और विहार में युक्त हो कर और केंद्र बनकर श्रीभगवान् की सेवा रूप जगत का कल्याण करती है। आत्मनिवेदन श्रीभगवान् के विश्वरूप में नहीं होसकता, क्योंकि विश्व परिवर्तनशील होने के कारणविश्व रूप भी परिवर्तनशील है, किन्तु श्रीभगवान् का दिव्य रूप जो विश्वरूप का बीज है वह नित्य और शाश्वत है, अतएव आत्मसमर्पण उसी में होता है। सांख्यमार्ग से विश्व के कारण अव्यक्त में अर्पण करने से केवल लय दशा की प्राप्ति होगी। इस नित्य रासलीला के द्वारा ही श्रीराधा (पराशक्ति) से चिदात्माओं का प्रादुर्भाव हुआ और फिर वे अपने शुद्ध रूप और स्थान में आत्मनिवेदन द्वारा पहुंचती हैं। नित्य विहार-लीला से विश्वरूपी प्रेमयज्ञ की उत्पत्ति है और जीवात्मा के प्रेमयज्ञ की समाप्ति करने पर फिर वही नित्यलीला में प्रवेश है। जब तक सृष्टि चलती रहेगी और उस की तृप्ति के लिये श्रीभगवान् विहारलीला में प्रवृत्त रहेंगे तबतक यह आत्मनिवेदित आत्मा (महात्मा) भी विश्राम न लेकर श्रीभगवान् के विहार में योग देते रहेंगे और जब कल्प के अंत में श्रीभगवान् विश्राम करेंगे तब ये भी उन के साथ

विश्राम करेंगे और फिर भावी नयी सृष्टि के प्रारम्भ में श्रीभगवान् की इच्छा के अनुसार सृष्टिकार्य में योग देंगे।

चिदात्माओं का श्रीराधा (पराशक्ति) जी से सम्बन्ध और फिर श्रीभगवान् के सम्बन्ध के विषय में गोविन्द-लीलामृत में एक उत्तम उक्ति है, जो यों है:—

> विभुरतिसुखरूपः स्वप्रकाशोऽपि भावः
> क्षणमपि नहि राधा कृष्णयो र्या ऋते स्वाः।
> प्रवहति रसपुष्टिं चिद्विभूतीरिवेशः
> श्रयति न पदमासां कः सखीनां रसज्ञः॥

चिद्विभूतिसमूह (चिदात्माओं) के अतिरिक्त जिस प्रकार श्रीभगवान् की पुष्टि नहीं होती, उसी प्रकार श्री राधाकृष्ण का भाव व्यापक, अतिमहान्, अतिसुखस्वरूप और स्वयं प्रकाशमान होने पर भी सखीगण (चिदात्मा रूपी गोपियों) की सहायता (आत्मनिवेदन) विना नाना रसों (भावों का जिन से संसार का कल्याण होता है) की सम्पुष्टि नहीं होती है। अत एव इन आत्मनिवेदिका गोपियों (श्रीसद्गुरु) का चरण कौन रसज्ञ भक्त आश्रय नहीं करेगा?

आधिभौतिक राधाभाव की प्रवेशावस्था यह है कि अपने को बिलकुल विस्मरण कर श्रीभगवान् में प्रेमासक्त अन्तरात्मा की ऐसी निरन्तर स्वाभाविक तन्मयता और अनुरक्ति हो जाना कि अनेक यत्न करने पर भी वह श्रीभगवान् से कदापि पृथक् नहीं हो सकती।

श्रीराधा जी से न श्रीभगवान् वास्तव में पृथक् हो सकते और न श्रीराधा जी उनसे; क्यों कि शक्तिमान् और शक्ति किस प्रकार भिन्न हो सकती हैं अर्थात् शक्ति विना आधार (शक्तिमान्) के रह नहीं सकती और शक्तिमान् शक्ति के विना शवतुल्य है।

अतएव राधाभाव में भाविक और श्रीउपास्य एक हो जाते, वे एक क्षण के लिये भी पृथक् नहीं हो सकते। जिस प्रकार बालक के गर्भ से निकल जाने पर फिर पूर्व की निश्चेष्ट गर्भावस्था की पुनः प्राप्ति असम्भव है, उसी प्रकार इस भाव के आने पर प्राकृतिक जीवभाव का कदापि क्षण भर के लिये भी फिर आना असम्भव है। सूर्य्य में तम किस प्रकार रह सकता है। और भी लिखा है—

"राधा भजति श्रीकृष्णं स च तां च परस्परम्"

ब्रह्मवै० प्रकृ० अ० ४८

तयोरप्युभयोर्मध्ये राधिका सर्वथाधिका।
महाभावस्वरूपेयं गुणैरतिगरीयसी॥

उज्ज्वल नीलमणि।

श्रीराधा जी श्रीकृष्ण भगवान् की उपासना करती हैं और श्री कृष्ण भगवान् श्रीराधा की उपासना करते हैं। श्रीगोपियों में श्रीराधा और श्रीचन्द्रावली प्रधान हैं, किन्तु इनमें भी श्रीराधाजी सर्वश्रेष्ठा हैं। क्योंकि ये स्वयं महाभावस्वरूपिणी और गुणों में अति श्रेष्ठ हैं।

कहाजाता है कि श्रीराधा श्रीभगवान् के प्रेमचिन्तन की प्रगाढ़ता के कारण प्रायः श्री भगवान् के रूप में परिणत हो जाती थीं और श्री भगवान् श्री राधिका का रूप धारण करते थे। गर्ग-संहिता में लिखा है:—

श्री कृष्ण कृष्णेति गिरावदन्त्यः श्री कृष्ण-पादा-म्बुज लग्नमानसाः। श्री कृष्ण रूपास्तुवभूवुरंगना श्चित्रं न पेशस्कृत मेत्यकीटवत्।

श्री भगवान् के नाम का स्मरण करते २ और उनके चरण-कमलों में चित्त को संलग्न किये हुई श्री गोपियां श्रीकृष्ण-रूपा

हो गईं । इस में आश्चर्य नहीं है। क्योंकि छोटा कीट बड़े के भय से चिंतन करने से उसके समान हो जाता है। गर्गसंहिता में कथा है कि एकवार श्री राधा जी से सिद्धाश्रम में श्रीभगवान् और श्रीभगवान् की रानियों को भेंट हुई और सबों का एकत्र वास हुआ। रात्रि में श्रीभगवान् की रानियों ने देखा कि श्रीभगवान् के चरणों में छाले पड़ गये हैं जिसके कारण पूछने पर श्रीभगवान् ने कहा कि तुम लोगों ने श्रीराधाजी को गर्म दूध पिलादिया, जिसके कारण ये छाले मेरे चरणों में पड़गये हैं, क्योंकि मेरे चरण सदा उनके हृदय में रहते हैं। यथाः—

श्रीराधिकाया हृदयारविंदे पादारविंदं हि विराजते मे। अहर्निशं प्रश्रयपाशबद्धं लवंलवार्द्धं न चलत्यतीव ।३५। अथोष्णदुग्ध प्रतिपानतोंघ्राबुच्छालकास्ते ममप्रोच्छलन्ति । मन्दोष्णमेवं हि न दत्तमस्यै युष्माभिरुष्णं तु पयःप्रदत्तम् ।३६।

गा० सं० द्वारकाखंड अ० १७

श्री राधाके हृदय में मेरा चरणकमल सदा दिनरात स्नेहपाश में बंधा विराजमान रहता है, लेशमात्र भी हटता नहीं। उन के गर्म दूध के पीने से मेरे पग में छाले पड़ गये। मन्दोष्ण दूध न देकर उष्ण दूध देने से मुझ को उष्ण देने के समान हुआ। श्रीहनुमानजी का हृदय भी श्रीरामनामांकित था। श्रीवृन्दावन में एक मृत साधु को हड्डी नामांकित पायी गई अर्थात् जिस नाम को वे सतत स्मरण करते थे वह उन की हड्डियों में भी अङ्कित हो गया था।

श्रीमती राधा जी के भाव और तत्त्व को कौन वर्णन कर सकता है जिन के श्रीचरण(पदपल्लवमुदारम्) को स्वयं श्रीभगवान् ने अपने मस्तक पर धारण किया और ऐसा करके मधुर प्रेमभाव को उत्कृष्टता सिद्ध कर दी। और भी गीतगोविन्द में श्रीभगवान् की ऐसी उक्ति है :—

करकमलेन करोमि चरण महमगामितासि विदूरम् ।
क्षणमुपकुरु शयनोपरि मामिव नूपुरमनुगति शूरम् ।

श्रीभगवान् श्रीराधा जी से कहते हैं कि तुम बहुत दूर से आई हो। मुझे करपद्म से अपनी चरणपूजा करने की आज्ञा दो। और अपने चरणस्थनूपुर के समान मुझे आश्रित जान मुहूर्त भरके लिये शय्या पर मुझे स्थान दो।

श्रीराधा जी के प्रेम, त्याग, तन्मयता, करुणा आदि श्रवणीय हैं। परम भाग्यशाली प्रेमियों को उनकी कृपा से इसके कणामात्र का किंचित् अनुभव होता है। श्रीभगवान् के 'वृन्दावन से चले जाने पर श्रीगोपियों और भी श्रीराधा जी को श्रीभगवान् के विच्छेद-विरह के कारण प्रेम का विशेष विकाश हुआ, क्योंकि वियोग इसकी पुष्टि और वृद्धि का प्रबल कारण है। श्री राधा जी पर कलंक लगने पर उन्होंने श्रीभगवान् के यश की रक्षा के लिये परीक्षा रूपी त्याग सहर्ष किया। उन्हों ने छिद्र युक्त बांस के पात्र में जल को कूप से निकाला, किन्तु जल का एक विन्दु भी उस पात्र में से गिरा नहीं, पात्र जल से पूर्ण रहा। उन्हों ने परीक्षा द्वारा श्रीभगवान् के साथ, अपने अनादि आध्यात्मिक प्रेम सम्बन्ध को सिद्ध कर दिया और इसी ज्ञान के कारण उन्हों ने परीक्षा को स्वीकार किया।

श्रीशिव जी के श्रीकाली के चरण तल में रहने का भाव यही है कि श्रीशिवजी उन की आद्यशक्ति के चरण की प्राप्ति से ही मिल सकते हैं। अतएव श्री शिवजी को श्री पराशक्ति के चरण की प्राप्ति द्वारा प्राप्त करना चाहिये। इसी परम सत्य को सिद्ध करने के लिये श्री भगवान् ने श्रीराधा जी के चरणकमल की पूजा और धारणा की।

उपासक लोग ललाट के चन्दन के मध्य में जो रक्त, पीत, श्याम अथवा श्वेतबिन्दी (विन्दु अथवा वर्तुल) अथवा ऊर्ध्व पुण्ड्र के

समान रेखा अथवा त्रिकोण (जिस का अधोभाग दीर्घ और ऊर्ध्व सूक्ष्म रहता है) का निर्माण करते हैं, वह श्रीपराशक्ति का सूचक है और वैष्णव लोग इस को "श्री" कहते भी हैं जिस का अर्थ श्रीलक्ष्मी (श्रीपराशक्ति) है। वैष्णवगण चन्दन के द्रव्य को, विशेष कर रक्त वर्ण वाले को, श्री कहते हैं जो भी इसी सिद्धांत को पुष्ट करता है अतएव साधना की अवस्था में चन्दन धारण करने का तात्पर्य्य श्रीपराशक्ति का सम्बन्ध और कृपा की प्रार्थना है और सिद्धावस्था में वह सम्बन्ध की प्राप्ति का सूचक है। सतत् स्मरण में सहायता करना भी चन्दन का तात्पर्य्य है और इसी निमित्त नामांकित वस्त्र के भी धारण करने की प्रथा है।

जो भक्त श्रीभगवान् में आत्मसमर्पण करता है उस भक्त में भी श्रीभगवान् आत्मसमर्पण करते हैं। भक्त चाहता है कि श्रीभगवान् उन के आत्मसमर्पण को स्वीकार कर उस के द्वारा अपना कार्य्य करें; और श्रीभगवान् चाहते हैं कि भक्त उन की शक्ति को लेकर उस कार्य्य को सम्पादन करे जिस में भक्त ही का यश फैले। श्री भगवान् की संज्ञा है "अमानी मानदो" अर्थात् वे अपना मान नहीं चाह कर भक्त का मान करना चाहते हैं। इस प्रकार यह समर्पण परस्पर है। श्रीमद्भागवत पुराण स्क० ११ अ० २९ में लिखा है:—

किंचित्रमच्युत तवैतदशेषबन्धो दासेष्वनन्य-शरणेषु यदात्मसात्त्वम्। योऽरोचयत्सह मृगैः स्वयमीश्वराणां श्रीमत्किरीटतट पीडितपादपीठः ॥४॥

हे श्रीभगवन्! तुम सबों के अन्तर्यामी और हितकर्ता हो (जिन के चरण रखने के आसन पर ब्रह्मादि देवता मस्तक नवाते हैं) ऐसे तुम ने श्री रामावतार में वानरों के भी साथ मित्रता की थी, फिर जो अनन्य भाव से शरण आये उन नन्द, गोपी, गोपाल आदि सेवकों के अधीनत्व के लिये तुम ने अपने को अर्पण किया और उन के कार्य्यों को किया इस में आश्चर्य्य क्या है?

श्री भगवान् का अपने प्रण को त्याग कर भक्त श्री भीष्म के प्रण को रक्षा करना प्रसिद्ध ही है। श्री भगवान् का भक्त बलि की प्रहरी बनने का उल्लेख हो ही चुका है। श्री भगवान् का अर्जुन के सारथी का काम करना प्रसिद्ध ही है। द्वारका में भी श्री भगवान् राजा उग्रसेन ही की मातहत में रहते थे।

भक्त के श्रीराधाभाव की प्राप्ति करने से श्रीभगवान् और उस भक्त में कोई भेद नहीं रह जाता। यह प्रेम द्वारा एकीभाव है, क्योंकि परम प्रेम प्रेमी और प्रेम पात्र में कोई भेद नहीं रहने देता। तत्त्व को दृष्टि से एकता हो जाती है, किन्तु श्री भगवान् के परम मंगल विश्वसेवा कार्य्य के लिये किञ्चित् भेद रहजाता है। भक्त चाहता है कि श्री भगवान् के इस सेवा कार्य्य के लिये भेद रहे: किन्तु श्री भगवान् चाहते हैं कि भेद मिट जाय, जैसा कि कहा जा चुका है· दोनों को रुचि रहती है अर्थात् एक आनन्द घन शुद्ध चैतन्य सर्वात्म को दृष्टि से एक होने पर भी ,जिस प्रकार श्रीपराशक्ति अभिन्न होने पर भी श्री भगवान् की सेवा मे स्वयं अनुरक्त रहती हैं उसी प्रकार उन की कृपा से निवेदित शुद्ध आत्मा भी रत रहती है। ऐसी आत्मा श्री भगवान् की सेवा के लिये श्री भगवान् की इच्छा के अनुसार निरहंकार होकर और केवल निमित्त मात्र बन कर श्री भगवान् द्वारा प्रेरित होकर जैसा वे चाहते हैं वैसी सेवा करती है, यहां तक कि कार्यब्रह्म होकर त्रिलोक के चलाने का कार्य्य तक करेगी किन्तु कदापि कोई आत्मा श्री भगवान् से अभिन्न रहने पर भी स्वरूप से श्री भगवान् नहीं हो सकती है। जैसे वृक्ष के बीज में सम्पूर्ण वृक्ष निहित रहता है और कालान्तर में उस बीज से सम्पूर्ण वृक्ष प्रकाशित हो जाता है, इसी प्रकार चिदात्मा में श्री भगवान् की विभूति और शक्ति गुप्त रूप से निहित रहती हैं जिन का विकाश करना सृष्टि का उद्देश्य है और इसी कारण चिदात्मा के संवित् की क्रमशः वृद्धि होती है जो दीक्षा प्रकरण में कहा जायगा

और चिदात्मा ब्रह्मा अर्थात् कार्य्य ब्रह्म तक हो सकती है किन्तु स्वयं श्री भगवान् कदापि नहीं, क्योंकि परब्रह्म के रूप होने के कारण उन की शक्ति, विभूति अपरिमित हैं। यह प्रसिद्ध है कि आजकल के वलि आगामी कल्प में इन्द्र होंगे, श्री परशुराम जी ब्रह्मा होंगे। योगवाशिष्ठ में लिखा है कि चिदात्मा पुरुषार्थ से ब्रह्मा विष्णु शिव हो सकता है किन्तु यह त्रिदेव कार्य्यब्रह्म हैं अर्थात् प्रकृति के गुणों को धारण कर त्रिलोक अथवा ब्रह्माण्ड के नायक हैं, किन्तु श्री भगवान् (महाविष्णु, सदाशिव) का रहस्य स्थान ब्रह्माण्ड के परे है और वे अनेक ब्रह्माण्ड के नायक हैं । सायुज्य के होने पर अभिन्नता होजाती है किन्तु यह भी स्वयं श्रीभगवान् होना नहीं है।

लिखा है:—

हरिभक्तिमिदं साक्षाद्भक्तिमुक्तिप्रसाधनम् ।
त्रैलोक्यकर्षणं देवि हरिसान्निध्यकारकम् ॥

श्रीराधा पराशक्ति साक्षात् रूप से मुक्ति (त्रिगुण से मुक्त करने वाली) और भक्ति देनेवाली है और केंद्र बनकर तीनों लोकों के लिये (आकर्षिणी आनन्दमयी प्रेममयी और जीवनी) शक्ति है और श्री भगवान् के निकट ले जानेवाली है। श्री राधा तत्व के भी आधि-भौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक भाव हैं और इन के आधि-भौतिक भाव का किंचित् वर्णन प्र० ख० के पृष्ठ २३५ और अन्यत्र हो चुका है। श्री राधा (पराशक्ति) से साक्षात् सम्बन्ध और उन की विशेष कृपा उन की (पराशक्ति) परम प्रिया सहचरी निवेदितात्मा सिद्धा गोपी रूप श्री सद्गुरु के सम्बन्ध ही से सम्भव है जिन की चर्चा सर्वत्र की गई है और जिन की सहायता के विना न सम्बन्ध भाव की प्राप्ति हो सकती है और न आत्मनिवेदन हो सकता है और न गोपीभाव की प्राप्ति हो सकती है। इस कारण श्री जगद्गुरु के तत्व का वर्णन किया जायगा।

जितनी साधना के उल्लेख हो चुके हैं उन के आधिभौतिक भाव में कम से कम प्रवेश करने ही पर श्री सद्गुरु की साक्षात् कृपा का लाभ हो सकता है, अतएव यह प्रकरण अन्त में लिखा गया। क्रम यह है कि सब से पहिले सब साधनाओं के आधिभौतिक भाव में क्रमशः एक साधना के बाद दूसरे मे प्रवेश करना चाहिये; फिर इन को साधना की अवस्था में और उस के बाद सिद्धावस्था में, इस के बाद उन साधनाओं के क्रमशः आधिदैविक भाव की तीनों अवस्था और अंत में साधनों के आध्यात्मिक भाव की तीनों अवस्थाएं लब्ध होती हैं। इस प्रकरण के अंत में कथ्य यह है कि भगवत्प्रेम परम दुर्लभ है। लिखा है :—

कृष्णभक्तिरसभाविता मतिः
क्रियताम् यदि कुतोऽपिलभ्यते।
तत्रलौल्यमपि हि मूल्यमेकलं,
जन्मकोटि सुकृतैर्नलभ्यते।

जो कहीं भी श्रीभगवान् की भक्ति के रससे भींगी हुई बुद्धि मिले तो उसे खरीदिये किन्तु उस की कीमत केवल एक स्नेह (नेह) है जो कोटि जन्म के पुण्यसे भी लाभ नही हो सकता है।

यत्कीर्तनं यत्श्रवणं यदीक्षणं यद्वन्दनं यच्छ्रवणं यदर्हणम्। लोकस्यसद्यो विधुनोति किल्बिषं तस्मै सुभद्रश्रवसे नमोनमः।

श्रीगुरुचरणकमलेभ्यो नमः ।

तृतीयभाग ।

गुरु-तत्त्व ।

ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिम्, द्वंद्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम् । एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधी साक्षिभूतम् भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तन्नमामि ।१। आनन्दमानन्दकरं प्रसन्नं ज्ञानस्वरूपं निजबोधरूपम् । योगीन्द्रमीड्यं भवरोगवैद्यं श्रीमद्गुरुं नित्यमहं भजामि ॥२॥

मैं श्रीसद्गुरु को प्रणाम करता हूं जो ब्रह्मानन्द के समान परम सुखद केवल ज्ञान स्वरूप, द्वंद्व से परे, आकाश के समान (निर्लेप), तत्त्वमसि आदि महावाक्यों के लक्ष्य, केवल एक नित्य, विमल अचल, साक्षी के समान सब में वर्तमान और भाव (विकार) और गुणों से रहित हैं। मैं नित्य श्रीसद्गुरु का भजन करता हूं जो आनन्द के देने वाले प्रसन्न, ज्ञान रूप स्वयं बोध स्वरूप, योगीन्द्र और संसार रूपी रोग के वैद्य हैं।

जो त्रिगुणमयी माया के पार हो चुके हैं, माया के सब भेदों को अच्छी तरह देख चुके हैं, वर्तमान सर्ग में जितना ज्ञान होना सम्भव है उसमें जिन को कुछ शेष नहीं रहा, और इस सूर्य्यमण्डल में सर्वत्र जिन की संज्ञा जा सकती हो, जिन को श्रीभगवान् के साथ अभेदता होने के कारण किसी के भी साथ कोई भेद नहीं रहा हो, जिन में सब आंतरिक आध्यात्मिक शक्तियों का पूर्ण

विकाश हो गया हो, ऐसे महात्मा ईश्वरप्रियार्थ और विश्व के सब प्राणियों के निमित्त असीम दया उन में रहने के कारण निर्वाण अर्थात् विदेह मुक्ति को नहीं लेके (जिस के पाने के योग्य वे रहते हैं) दैवी प्रकृति में रह के सृष्टि की भलाई करने का व्रत प्रसन्नता से अपने ऊपर लेते हैं और लोगों को ईश्वरोन्मुख करने और श्री-भगवान् के साथ संयुक्त करने के लिये स्वयं श्रीभगवान् जिन के द्वारा अपना विश्व हित कार्य्य करते हैं वे ही श्रीसद्गुरु हैं, जिस श्रेणी के कतिपय महानुभावों को ऋषि अथवा महर्षि भी कहते हैं। गीता का वचन हैः—

महात्मानस्तु मां पार्थ ! दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥

अध्याय ६।

हे पार्थ ! महात्मा गण मेरी दैवी प्रकृति में टिके हुए मुझ को भूतों का अविनाशी कारण जान अनन्यचित्त हो मुझ को भजते हैं (मेरे निमित्त सृष्टि के उपकार में प्रवृत्त होते हैं जो मेरी यथार्थ सेवा है)। ऐसे श्रीसद्गुरुओं की चर्चा श्रीमद्भागवत् पुराण में यों है—

मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः।
सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने ! ॥

६ स्कन्ध।

हे महामुनि ! मुक्तसिद्धों में भी जो प्रसन्न चित्त से नारायणनिमित्त कर्म्म करने का (सृष्टि का उपकार करने का, व्रत अपने ऊपर उठाते हैं वे बहुत दुर्लभ हैं, कोटि में ऐसे कोई एक होते हैं। श्री शंक-राचार्य्य महाराज ने श्री मद्भगवद्गीता अध्याय ४ श्लोक १५ और १६ के भाष्य में ऐसे जगत्त्राता जीवन्मुक्त सद्गुरुओं की चर्चा की है जिन को उनने आधिकारिक नाम दिया है जो श्रीभगवान् के इच्छा-नुसार संसार की भलाई में प्रवृत्त रहते हैं जिस को वे बाह्य से करते हैं किन्तु अंतर से श्रीभगवान् में लग्न रहते हैं।

लिङ्गपुराण के ७ वें अध्याय में इन सद्‌गुरुओं का योगाचार्य्य नाम से विस्तृत वर्णन है और वहां लिखा है कि भिन्न २ युगों में भिन्न २ सद्‌गुरु प्रकट होते हैं; और इन सब श्री सद्‌गुरुओं के नायक श्री जगद्‌गुरु श्री शिव जी हैं जिन के नाम और शक्ति से ये श्री सद्‌गुरुगण ज्ञान-भक्ति का प्रचार और योग्य शिष्यों को श्री भगवान् में सम्मिलित करते हैं। यह प्रसंग प्रथम खड के पृष्ठ २३७ में भी कहा जा चुका है। लिगपुराण अ० ७ में इन श्री सद्‌गुरुओं के अनेक नाम उल्लेख कर के लिखा है:—

हिरण्यनाभः कौशल्यो लौगाक्षिः कुथुमिस्तथा।
कुशिकश्चैव गर्भश्च मित्रः कौरुष्य एवम॥

अर्थात् इन के नाम हैं:—

हिरण्यनाभ, कौशल्य, लौगाक्षि, कुथुमि, कुशिक, गर्भ, मित्र, कौरुष्य।

इनके शिष्य प्रशिष्य का भी उल्लेख है। लिंगपुराण में इनलोगों का वासस्थान उत्तराखंड के हिमालय और सुमेरु पर्वत में सिद्धाश्रम वताया है। लिगपुराण अ० २४ में लिखा है: —

हिमवच्छिखरे रम्ये भृगुतुङ्गे नगोत्तमे। नाम्ना भृगोस्तु शिखरं प्रथितं देव पूजितम्। तत्रापि मम ते पुत्राः भविष्यन्ति दृढव्रताः। योगात्मानो महात्मान स्तपोयोगसमन्विताः॥५०॥

हिमवच्छिखरे रम्ये महोत्तुङ्गे महालये।
सिद्धक्षेत्रं महापुण्यं भविष्यति महालयम्॥७७॥
तत्रापि मम ते पुत्रा योगज्ञा ब्रह्मवादिनः।
भविष्यन्ति महात्मानो निर्म्ममा निरहङ्कृताः॥८॥
हिमवच्छिखरे रम्य जटायुर्यत्र पर्वतः।
तत्रापि ममते पुत्रा भविष्यन्ति महौजसः॥
हिरण्यनाभः कौशल्यो लौगाक्षिः कुथुमिस्तथा॥८२॥

दिव्यां मेरुगुहां पुण्यां त्वया सार्द्धञ्च विष्णुना ।
भविष्यामि तदा ब्रह्मन् ! लकुलीनाम नामतः ॥१८९॥
कायावतार इत्येवं सिद्धक्षेत्रश्चवैतदा ।
भविष्यति सुविख्यातं यावद्भूमिर्धरिष्यति ॥१९०॥
तत्रापि मम ते पुत्रा भविष्यन्ति तपस्विनः ।
कुशिकश्चैव गर्गश्च मित्रः कौरुष्य एवच ।
योगात्मानो महात्मानो ब्राह्मणा वेदपारगाः ।

श्रीमहादेवजी श्री ब्रह्मा जी से कहते हैं कि रमणीय हिमालय पर्वत के श्रेष्ठ भृगुतुंग पर्वत में देवपूजित भृगु नाम का शिखर है, उसको मेरा रूप जानो। उस पर्वत में दृढ़व्रत मेरे पुत्रगण योगात्मा महात्मा औ तपयोगनिष्ठ होंगे। सुन्दर हिमालय के सब से ऊंचे शिखर पर सिद्धक्षेत्र नाम का पुण्यद महालय होगा। वहां मेरे पुत्रगण ब्रह्मवादी, योगी, महात्मा होंगे जो ममता और अहंकार से शून्य रहेंगे। रम्य हिमालय शिखर मे जटायु पर्वत है; वहां भी मेरे पुत्र बड़े वीर्यशाली होंगे। उनके नाम हिरण्यनाभ, कौशल्य, लोगाक्षि और कुथुमि हैं। हे ब्रह्मन् ! तुम्हारे साथ दिव्य सुमेरु गुहा आश्रय करके नकुलीश नाम होकर मैं वहां रहूंगा; जबतक पृथ्वी रहेगी तब तक कायावतार नाम का यह सिद्धक्षेत्र विख्यात होगा। वहां भी मेरे विख्यात तपस्वी पुत्रगण होंगे जिनके नाम हैं कुशिक, गर्ग, मित्र और कौरुष्य। लिंग पुराण में सैकड़ों योगेश्वरों के नाम हैं। किन्तु उनमें ऊपरकथित नाम मुख्य है, क्योंकि इनका उल्लेख दो स्थानों में आया है। मुण्डकोपनिषद् ३ मुण्डक २ खण्ड के ११ वे मंत्र में इन सद्गुरुओं का यों उल्लेख है :—

"नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः ।

श्वेताश्वतरोपनिषद् में इन श्रीसद्गुरुओं का यों वर्णन है :—

पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगु-

णेप्रवृत्ते। न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ॥ १२ अ० २।

अर्थ–पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश यह पञ्चात्मक भूत जब योग गुण में प्रवृत्त हो जाता है अर्थात् परिवर्तित होकर शुद्ध हो जाता है और तेजोमय शरीर को प्राप्त हो जाता है, उस समय मनुष्य को जरा रोग वा मृत्यु नहीं सताती। रुद्रयामल में गुरु माहात्म्य यों है :—

गुरुरेवपरोमंत्रो गुरुरेवपरोजपः। गुरुरेवपराविद्या नास्ति किंचिद्गुरुंविना। यस्यतुष्टो गुरुर्देवि! तस्यतुष्टा महेश्वरी। येनसंतोषितो देवि गुरुः सहि सदाशिवः। तस्माद् गुरुंभजेद्भक्त्या तोषयेत् सततंगुरुम्।

श्री महादेव जी कहते हैं कि गुरु ही परम मंत्र, परम जप और पराविद्या है, गुरु के विना कुछ भी नहीं है। जिस पर गुरु की कृपा हुई, उस पर महेश्वरी (पराशक्ति) की भी कृपा होती है और हे देवी! जिस ने गुरु को संतुष्ट किया वही सदाशिव है। इस कारण गुरु का भजन करे और सतत गुरु को प्रसन्न रक्खे।

दक्षिण देश में ऐसे एक सद्गुरु दक्षिणमूर्ति नाम से प्रसिद्ध हैं। श्री चिदम्बर के मन्दिर में जहां श्रीशिव और श्रीभगवान् दोनों की मूर्ति मध्य में है उसमें प्रवेश के प्राकार में श्रीदक्षिणा मूर्ति की प्रतिमा है जिस का भाव यह है कि प्रथम श्रीसद्गुरु की प्राप्ति होने पर ही फिर जगद्गुरु श्री शिव से सम्बन्ध होता है और उस के बाद श्री उपास्य मिलते हैं। दक्षिणामूर्त्ति स्तोत्र में श्री सद्गुरु का उत्तम वर्णन यों है :—

चित्रं वटतरोर्मूले वृद्धाः शिष्या गुरुर्युवा। गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तुछिन्नसंशयाः। निधये सर्वविद्यानां भिषजे भवरोगिणाम्। गुरवे सर्वलोकानां दक्षिणामूर्त्तये नमः।

सारांश अर्थ यह है कि चिदाकाश में गुरु युवा हैं, शिष्य वृद्ध है, उपदेश मौन भाव से होता है किन्तु उसी से शिष्यों का संशय नाश हो जाता है। सद्गुरु द्वारा आध्यात्मिक दीक्षा इसी प्रकार अंतर में दी जाती है।

इन सद्गुरुओं का त्रिकाल में कभी अभाव नहीं हो सकता, जैसे इन्द्रादि देवताओं का अपना २ नियत कार्य्य सृष्टि में है जिस के सम्पादन में वे लोग सदा नियत रहते हैं, वैसे ही धर्म्म की रक्षा करना, दिव्य ज्ञान और भगवद्भक्ति का प्रचार करना, राज्यविद्या के मार्ग से चलनेवालों को सहायता देना और उस को दीक्षा प्रदान कर शिष्य को श्रीपराशक्ति और श्रीउपास्य के चरण में समर्पित करा देना आदि इन श्री सद्गुरुओं के नियत कार्य्य हैं जिन में वे सदा प्रवृत्त रहते हैं। अतएव श्री सद्गुरु तो सदा प्रस्तुत पाए जाते हैं किन्तु शिष्य ही की कमी है। कर्म्म, अभ्यास, ज्ञान और भक्तियोग में निपुणता प्राप्त करने के अनन्तर साधक को इन से सम्बन्ध होता है और अदृश्य भाव में अंतर में प्रेषित इन के आदेश के अनुसार चलने से अथवा इन की कृपा से किसी सत्पुरुष के सम्बन्ध और उपदेश के पालन से वह इन के शिष्य होने के योग्य होता है और तब उस को इन श्रीसद्गुरु की साक्षात् प्राप्ति होती है, बरन सद्गुरु स्वतः ऐसे साधक के निकट प्रगट होते हैं। ऐसा नहीं है कि श्री सद्गुरु अपने को इस निमित्त गुप्त रखते हैं कि जिस में मनुष्य अज्ञानी बना रहे, किन्तु जैसे कोई वैज्ञानिक पण्डित किसी बालक को विज्ञान का विषय कितने ही यत्न से नहीं समझा सकता है जब तक कि बालक प्रौढ़ होकर उस के समझने की शक्ति प्राप्त न करे, ऐसे ही जब तक कोई अपने को इनका कृपापात्र अथवा अदृश्य सम्बन्ध अथवा साक्षात् शिष्य होने के योग्य न बनावे, तब तक श्रीसद्गुरु का मिलना उस के लिये किंचित् भी लाभकारी न होगा और न वह श्रीसद्गुरु को तब तक दर्शन देने पर भी पहचान सकेगा अथवा सम्मान करेगा, किन्तु यह हो सकता है कि मिलने पर उन का तिरस्कार कर देगा।

आवश्यक योग्यता के प्राप्त करने के पूर्व साधक को श्रीसद्गुरु के साक्षात् दर्शन होने से उस की हानि होगी क्योंकि वह उन के साक्षात् तेजपुञ्ज को नहीं सह सकेगा। यही कारण है कि सुना जाता है कि देवताओं के साक्षात् दर्शन से कई लोग विक्षिप्त होगये। इन के कृपापात्र अथवा शिष्य होने के योग्य होने के लिये जो कुछ कर्त्तव्य है वह सब शास्त्र मे प्रकाशित है और उस का वर्णन इस पुस्तक में किया गया है जिस के अनुसार चलने से साधक वहां अवश्य पहुंच जायगा, और तब तक भी जितनी सहायता आवश्यक है उतनी सहायता साधक को अप्रकाश्य रूप से श्रीगुरुलोग अवश्य देते हैं। साधक प्रायः कभी २ गम्भीर निद्रा में अपने सूक्ष्म शरीर में रह के श्रीसद्गुरु से उपदेश पाता है और उन उपदेश के कारण उन्नति भी करता है किन्तु अनेक काल तक वह जाग्रत् अवस्था में इन को नही जानता, क्योंकि स्थूल शरीर से जीवात्मा की जाग्रत अवस्था की संज्ञा से पृथक् हो के सूक्ष्म शरीर में जाने के पूर्व किंचित् काल के लिये वह अचेतन हो जाती है और फिर लौटते समय भी अचेतन हो के जाग्रत् अवस्था में आती है, अतएव सूक्ष्म शरीर में रह के जो २ उपदेश उसे मिलते अथवा दृश्य देखने में आते वे जाग्रत में स्मरण नहीं रहते; किन्तु तथापि वह उस के फल से वंचित न रहती। जब अभ्यास द्वारा चित्त शुद्ध, समाहित, भावान्वित और एकाग्र होता, तब भाविक बिना अचेतन हुए सूक्ष्म शरीर में जाता और आता और तब वहां के सब कुछ अनुभव जाग्रत् में भी स्मरण रहते।

संसार में जो कोई शुद्ध उद्देश्य से परोपकारी काम, विशेषतः परमार्थ सम्बन्धी, के करने में प्रवृत्त होता है उसको श्रीसद्गुरु अज्ञात भाव से अवश्य सहायता करते हैं, क्योंकि निष्काम परोपकार व्रत उनको परम प्रिय है जिसमें प्रवृत्त होनेसे उनकी कृपा और सहायता अवश्य मिलती है। वे ऐसे उपकारी के चित्त में उसके योग्यतानुसार ऐसी सद्भावना प्रेषण करते हैं जिस से उसको उस कार्य्य

के करने में आवश्यक सहायता मिलती है। ये श्रीसद्गुरुगण इस सृष्टि रूपी वाटिका के मनोहर पुष्प हैं जिन्होंने श्रीभगवान् के करुणा भाव के साथ घनिष्ठ तदात्म्य स्थापन कर उनके करुणा पुंज का बड़ा केंद्र इस निमित्त बनगये हैं कि उनके द्वारा संसार का हित और तृप्ति हो जिस बड़े कर्म्म में वे प्रवृत्त रहते हैं। इसी कारण इन महानुभावों ने निर्वाण पद का त्याग किया जिसका ग्रहण करने से वे इस विश्वहित कार्य्य को नहीं कर सकते। अतएव ये लोग श्रीभगवान् की दैवी करुणा के रूप ही हैं जिसके कारण इनका केवल कार्य्य यह है कि श्रीभगवान् के करुणा रस का केंद्र बन कर उसको विश्व में प्रवाहित करना। ये लोग सदासर्वदा केवल विश्व के उपकार करने में उद्यत रहते हैं जिसमें योग्य साधकों का श्रीभगवान् से सम्बन्ध स्थापित करवाना और भाविक को श्रीभगवान् में युक्त करना इनका मुख्य कार्य्य है। श्रीभगवान् का मुख्य कार्य्य जो सृष्टि में धर्म की वृद्धि और अधर्म का ह्रास करना है वह मुख्य कर इन्हीं महात्माओं के द्वारा श्रीभगवान् सम्पादन करते हैं और जब बहुत बड़ी आवश्यकता आ जाती है तो विशेष कर इन्हीं की प्रार्थना पर श्रीभगवान अवतार लेते हैं, क्योंकि वे भक्त के वश में हैं। इन्हीं के त्याग के कारण इस घोर कलियुग में भी अबतक धर्म वर्तमान है। विवेक चूडामणि में इन का लक्षण यों है:—

शान्ता महान्तो निवसन्ति सन्तो वसन्तवल्लोक् हितंचरन्तः। तीर्णाः स्वयं भीम भवार्णवंजनान् अहेतुनाऽन्यानपितारयन्तः॥ अयंस्वभावः स्वतएव यत् परश्रमापनोदप्रवणं महात्मनाम्। सुधांशुरेष स्वयमर्ककर्कशप्रभाभितप्ता भवति क्षितिं किल।

शान्त प्रकृति वाले महात्मा वसन्त—ऋतु के सदृश केवल संसार का हित करते रहते हैं, वे कठिन संसार सागर से विना स्वार्थ के अन्य जनों को तारते हुए आप भी तर जाते हैं।

दूसरे के शूम (कष्ट) को नाश करने में तत्परता ही महात्माओं का स्वयं सिद्ध स्वभाव है। जैसे यह चन्द्रमा सूर्य्य की कर्कश प्रभा से सन्तप्त पृथिवी को तृप्त किया करता है।

विद्यार्थिगण विद्यारम्भ के समय "ऊँनमः सिद्धम्" कह के इन्हीं महात्माओं को स्मरण प्रणाम करते हैं। शूाद्ध में "महायोगी" कह के कई वार इन्हीं का स्मरण प्रणाम करना पड़ता है, जैसा किः—

"देवताभ्यः पितृभ्यश्चमहायोगिभ्य एवच।
नमः स्वधायै स्वाहायै नित्यमेवनमोनमः" ॥

शूीउपास्य और शूीसद्गुरु में भेद नहीं है, दोनों को समान मानना चाहिये। शूीमद् भागवत पुराण स्क० ११ में लिखा हैः—

आचार्यंमां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिंचित्। न मर्त्यबुद्ध्याऽसूयेत सर्वदेवमयो गुरुः २७ अ० १७ योवै मद्भावमापन्न इशितुर्वशितुः पुमान्। कुतश्चिन्नविहन्येत तस्य चाज्ञा यथामम २७ अ० १५

शूीभगवान् कहते हैं कि मनुष्य शूीसद्गुरु को मेरा साक्षात् स्वरूप जाने, उन का तिरस्कार न करे, और यह मनुष्य है ऐसा जान कर उन की निन्दा न करे, क्योंकि वे सर्वदेवमय हैं। जो सत्पुरुष, ध्यान योग के द्वारा, मुझ सर्वनियन्ता स्वतन्त्र स्वभाव के साथ एकता को प्राप्त हुआ है उस की आज्ञा को मेरी आज्ञा के तुल्य कोई भी नहीं टालसकता है, यह उस को अप्रतिहताज्ञा नामवाली सिद्धि है। और भीः—

"गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुरेव परंब्रह्म तस्मै श्री गुरवेनमः" ॥

गुरु ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर और परब्रह्म रूप हैं—ऐसे शूीसद्गुरु को नमस्कार है। यह भी अटल नियम है कि बिना

श्रीसद्गुरु की कृपा प्राप्त किये कदापि किसी अवस्था में श्रीउपास्य से सम्बन्ध नहीं हो सकता है। इस नियम में कभी रियायत नही होसकती है। इस विषय का प्रमाण श्वेताश्वतरोपनिषद् के प्र० ख० के पृष्ठ १७६ और भी इस खंड के पृ० ४३४ और ४३५ में देखिये। बिना श्रीसद्गुरु की कृपा के श्रीउपास्य में वास्तविक प्रेम का भी प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। शुद्ध निर्हेतुक और स्वाभाविक प्रेम की प्राप्ति श्रीसद्गुरु की कृपा से ही सम्भव है। चूंकि श्रीसद्गुरु द्वारा श्रीउपास्य की प्राप्ति होती है, इस कारण साधकों के लिये श्रीसद्गुरु का दर्जा श्रीउपास्य से बड़ा है। प्रथम पूजा ध्यान श्रीसद्गुरु का होता है, तत्पश्चात् श्रीउपास्य का। इसी कारण दक्षिण के श्रीचिदम्बर के मन्दिर में श्रीसद्गुरु दक्षिणा मूर्ति की प्रतिमा प्रवेश के बाद के प्राकार में है जिस के बाद श्रीभगवान् विष्णु और श्रीमहादेव जी की प्रतिमा मध्यम में है। चूंकि श्रीसद्गुरुगण योग दीक्षा जगद्गुरु श्रीशिवजी के नाममें और उन्हीं को शक्ति से देते हैं, अतएव प्रत्येक भाविक को श्रीसद्गुरु से सम्बन्ध होने पर श्रीजगद्गुरु श्रीशिवजी से भी सम्बन्ध होता है और उस के बाद श्रीउपास्य की प्राप्ति होती है। इसी कारण श्रीशिवजी ब्रज में श्रीगोपेश्वर रूप में हैं, और श्रीसद्गुरु (दुर्वासा) और श्रीगोपेश्वर शिवजी की कृपा से श्रीगोपियों को श्रीभगवान् की प्राप्ति हुई। अतएव श्रीचिदम्बर मन्दिर में, जो श्रीपतंजलि ऋषि का बनवाया हुआ है उस में श्रीशिव श्रीविष्णु दोनों विराजमान हैं, क्योंकि साधक को दोनों की आवश्यकता है। देखिये, प्र० ख० पृष्ठ २३७।

श्रीसद्गुरु की उत्कृष्टता के विषय में श्रीसहजो बाइ का निम्न कथित बड़ा सुन्दर पद्य है:—

राम तजूं पै गुरु न बिसारूं, गुरु के सम हरिकूँ न निहारूं।१
हरिने जन्म दियो जग माही, गुरु ने आगागमन छुटाहीं।२
हरिने पांच चोर दिये साथा, गुरु ने लई छुटाय अनाथा।३
हरिने कुटुंब जाल में गेरी, गुरु ने काटी ममता बेरी।४

हरिने रोग भोग उरझायो, गुरु जोगी करि सबै छुरायो ।५
हरिने कर्म भर्म भरमायो, गुरु ने आतम रूप लखायो ।६
हरिने मोसूं आप छिपायो, गुरु दीपक दै नाहि दिखायो ।७
फिर हरिबंध-मुक्ति गति लाये, गुरु ने सब ही भर्म मिटाये ।८
चरनदास पर तन मन वारूं, गुरु न तजूं हरि कूं तजि डारूं ।६

साधक जब प्रवृत्ति मार्ग को असार समझ निवृत्तिमार्ग के अनुसरण करने का संकल्प कर उसमें पदार्पण करता है और स्वार्थ को त्यागकर और प्रेमसे प्रेरित होकर श्री उपास्य की सेवा के निमित्त अपने को अर्पित करता है और अपने आचरण को शुद्ध और हृदय को पवित्र और स्वच्छ करता है तभी से श्रीसद्गुरु का ध्यान उसकी ओर आकर्षित होता है और वे उसे अप्रकाश भाव से आवश्यक सहायता देने लगते हैं। ऐसे साधक को प्रायः किसी पुस्तक अथवा सत्संगति द्वारा अथवा अन्यभांति आवश्यक उपदेश मिलजाते हैं और कभी २ उनके मन में भी आवश्यक भावना का स्फुरण हो जाता है। प्रायः स्वप्न में भी आदेश होता है। किन्तु परम आवश्यक है कि साधक श्रीसद्गुरु को वरण करके अर्थात् श्रीसद्गुरु में दृढ़ विश्वास कर उनके चरण में अपने को अर्पित करे, उनके परम करुणा और त्याग आदि की भावना कर उनमें अविचल प्रीति स्थापित करे औरउनका ध्यान स्मरण नियम से प्रतिदिन किया करे। चूंकि श्रीसद् गुरु के दिव्य रूप को साधक ने अबतक नहीं देखा है अतएव केवल उनके श्रीचरण हृदय में ध्यान करे। इसी कारण प्रायः मन्दिरों के सामने "श्रीगुरुपाद" बनाया हुआ रहता है जिसका भाव यह है कि प्रथमा अदृश्य श्रीसद्गुरु के चरण की सेवा और आश्रय करने पर ही श्रीउपास्य मिलते हैं। श्रीसद्गुरु के मंत्र का जप, उनका ध्यान, उनका स्मरण और उनकी परम करुणा और संसार के कल्याण के लिये अद्भुत त्याग का मनन और भी उन साधनाओं का अभ्यास जिनका वर्णन प्रथम खड में हो चुका है, श्रीसद्गुरु की प्राप्ति के लिये

आवश्यक हैं। इन अभ्यासों में परोपकार और ध्यान मुख्य हैं। लिंग पुराण मे भी लिखा है कि इन श्रीसद्गुरुओं की साधना में ध्यान मुख्य है। उनका नाम ध्यानयोगी भी है। यथार्थतः ध्यान में परमाद्भुत शक्ति है। शुद्ध निष्काम हृदय का भावयुक्त ध्यान ध्येय को अवश्य आकर्षण करता है। यदि साधक का शुद्ध हृदय निःस्वार्थ प्रेम और अहैतुक उपकार के भाव से प्लावित न रहेगा तो वह हृदय श्रीसद्गुरु के आदेश अथवा प्रभाव को, अभ्यन्तर में आने पर भी, ग्रहण नहीं कर सकेगा। श्रीसद्गुरु की प्राप्ति के लिये भी उन की भक्ति और उन के करुणा भाव को अपने जीवन में प्रकाशित करना भाविक के लिये आवश्यक है अर्थात् उस के लिये परोपकारव्रत, विशेष कर परमार्थ सम्बन्धी, का धारण करना आवश्यक है। जो श्रीसद्गुरु के समान संसार के पारमार्थिक कल्याण के लिये त्याग करना नहीं चाहता, उस को श्रीसद्गुरु से साक्षात् सम्बन्ध हो नहीं सकता, क्योंकि यहां समानता का अभाव है। श्रीसद्गुरु के ध्यान और कृपा के आकर्षण करने का मुख्य उपाय उन के लिये शुद्ध और निष्काम हृदय की प्रवल पिपासा और अनुराग है, अर्थात् जब साधक की अन्तरात्मा में श्रीसद्गुरु के निमित प्रवल व्याकुलता उत्पन्न होगी जिस की निवृत्ति के लिये वह सर्वस्व त्यागने पर भी उद्यत होगा, तब श्रीसद्गुरु कृपा करने में विलम्ब न करेंगे। श्रीसद्गुरु की कृपा होने पर साधक को प्रायः प्रथम ऐसे सत्पुरुष से सम्बन्ध होता है जिन को श्रीसद्गुरु प्राप्त हैं और फिर उस सत्पुरुष द्वारा श्रीसद्गुरु से सम्बन्ध हो जाता है। सत्पुरुष का लक्षण प्रथम खंड के पृष्ठ २५८ में वर्णन किया गया है। विवाह का रूपक लेने से इस नवोढा भाविक के सम्बन्ध में सत्पुरुष अगुआ अथवा घटक हैं और श्रीसद्गुरु पुरोहित जो मिलन के समय मंत्र द्वारा दोनों को एक कर देते हैं। श्रीधनी धर्मदासजी का एक विनय का पद है जो श्रीसद्गुरु की प्राप्ति के निमित्त व्याकुलता और पिपासा सूचक हृदय की कातरोक्ति का

उत्तम नमूना है। यह पद श्रीसद्गुरु के निमित्त अन्तरात्मा के प्रवल अनुराग को प्रकट करता है जिस के होने ही पर वे मिलते हैं:—

गुरु पैयां लागौं नाम लखा दीजो रे। टेक
जनम जनम का सोया मनुवां, शब्दन मार जगा दीजो रे।
घट अंधियार नैन नहिं सूझे, ज्ञान का दीप जला दीजो रे। १
विष की लहर उठत घट अन्तर, अमृत बूंद चुवा दीजो रे। २
गहरी नदिया अगम बहै धरवा, खेय के पार लगा दीजो रे। ४
धरम दास की अरज गुसाईं, अब के खेप निभा दीजो रे। ५

इस विनय का भाव यह है कारण शरीर का अभिमानी प्राज्ञ जीवात्मा जो वास्तव अन्तरात्मा है वह सोये हुए के समान है अर्थात् जाग्रत् अवस्था की उसे सुधि नहीं है। श्रीभगवान् की वंशी ध्वनि के स्पर्श रूपी आघात से श्रीसद्गुरु इस प्राज्ञ को जगाते हैं और तब उस के हृदय का अज्ञानान्धकार नष्ट होकर वहां श्रीपराशक्ति की ज्योति का प्रकाश होता है जिसके होने पर दिव्य दृष्टि खुलती है।

जो पवित्र भाविक प्रेम-यज्ञ में अपने को स्वाहा करना चाहता है अर्थात् केवल श्रीभगवान् के निमित्त परोपकार रूपी सेवाव्रत के सिवाय अन्य सब स्वार्थ कामना जिसकी मिट गयी हैं उसी को श्री-सद्गुरु की प्राप्ति होती है और ऐसे को श्रीसद्गुरु अवश्य मिलते हैं। श्रीतुलसी दास जी को श्रीहनुमान् जी श्री सद्गुरु रूप में मिले। साधक को शुद्ध और निःस्वार्थ होकर परोपकार व्रत में प्रवृत्त होते ही प्रथम श्रीसद्गुरु उसे अप्रकट भाव से सहायता करने लगते हैं जो विचारने से साधक को अच्छी तरह प्रतीत होता है और जिसमें उसे कोई सन्देह नहीं रहता; किन्तु साक्षात् सम्बन्ध उपयुक्त समय आने पर ही होता है जिसके लिये साधक को धैर्य्य रखना चाहिये। साधक का निश्चय ऐसा होना चाहिये कि श्रीसद्गुरु शीघ्र मिलें अथवा अनेक जन्मों के बाद, किन्तु मैं

अपने लक्ष्य से विचलित न होऊंगा। सेवा में प्रवृत्त रहना साधक का धर्म है, दर्शन देना श्रीसद्गुरु का काम है। श्रीसद्गुरु श्रीउपास्य की कृपा से ही मिलते हैं। श्रीगोस्वामी जी का वचन है :—

"विनुहरि कृपा मिलहिं नहिं सन्ता"

श्रीभगवान् ने ही श्रीनारद जी को ध्रुव के निकट श्रीसद्गुरु बनाकर उपदेश देने के निमित्त भेजा। मुख्य लक्ष्य श्रीसद्गुरु का सम्बन्ध है जो परम दुर्लभ है और इस के होने से तो "वेड़ापार" ही है अर्थात् उसके होने पर साधक की यात्रा का प्रधान उद्देश्य पूर्ण हो जाता है। जो कुछ कठिनता है वह यहां ही तक है।

श्री सद्गुरु की उपमा "कर्णधार" (नाव का खेवनेवाला) अथवा सीढ़ी से दी गई है। जब कि कर्णधार मिल गये तो फिर भवसागर को पार कर श्री उपास्य के देश में जाना सुलभ हो गया अथवा ऊपर उठने के लिये सीढ़ी मिल जाने से ऊपर जाना सुगम हो गया। श्री सद्गुरु के साथ अदृश्य सम्बन्ध भी स्थापित होने से फिर वह सम्बन्ध कदापि टूटता नहीं, जन्म जन्मान्तर तक बना रहता है। अतएव यह भी बड़ा दुर्लभ है। बड़े लोग एकबार जिस को बांह गहते हैं, उस का कदापि त्याग नहीं करते। जिस साधक को किसी ऐसे सत्पुरुष से सम्बन्ध हो गया, जिन को श्रीसद्गुरु लब्ध हैं, तब उनके द्वारा श्री सद्गुरु से सम्बन्ध बड़ी सुगमता से हो जाता है। अतएव सत्पुरुष से भी सम्बन्ध करने का यत्न अवश्य करना चाहिये। बड़े भाग्य की बात है कि वर्तमानकाल में भी ऐसे सत्पुरुष हैं जो जङ्गल पहाड़ सदृश अगम्य स्थान में न रहकर नगरों में रहते हैं और योग्य साधकों को मार्ग बतलाने के लिये और आवश्यक सहायता देने के लिये सदा उद्यत रहते हैं और इन के द्वारा साधक मार्ग में पदार्पण कर सकता है और उस के बाद श्री सद्गुरु के दुर्लभ सम्बन्ध को प्राप्त कर सकता है। अतएव सत्पुरुष की

प्राप्ति और उन में श्रद्धा और उन की कृपा भी दुर्लभ है और यह भी बिरलेही लोगों को होता है। सत्पुरुष भी ऐसे गुप्त रहते हैं कि उनको पहचान भी कठिन है। सत्पुरुष का लक्षण प्र० ख० के पृष्ठ २५८ में कहा जा चुका है। लिखा है :-

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मांवेत्तितत्त्वतः ३ गी. अ. ७

सहस्रों (अनेकों) मनुष्यों में कोई ही परमार्थ के मार्ग में अनुसरण करने का उपाय करता है और इन उपाय करने वालों में भी कोई ही मुझको तत्त्व (तादात्म्य भाव) से जानता है।

मंत्र गुरु आदि जो हैं वे भी श्रीसद्‌गुरु के प्रतिनिधि हैं जिसके कारण उन का आदर सम्मान अवश्य करना चाहिये किन्तु ये श्रीसद्‌गुरु पद वाच्य नहीं है क्योंकि "गुरुर्ब्रह्मागुरुर्विष्णुः गुरुरेव महेश्वरः" के वाच्य केवल श्रीसद्‌गुरु हैं।

बहुत साधक निद्रित रहने में सूक्ष्म शरीर द्वारा भुवर्लोक में मृत व्यक्ति के जीव को अथवा अचानक मरे हुए व्यक्ति को अथवा अपने से कम जाननेवाले किसी पुरुष के जीव को उपदेश देकर सहायता करते हैं। यदि श्री सद्‌गुरुसम्बन्ध प्राप्त शिष्य साधनकाल में अथवा दीक्षा पाने पर स्थूल शरीर को त्याग करता है, तो वह स्वर्ग के सुख का भी त्याग करता है अर्थात् वह स्वर्ग के उच्च भाग में जाके स्वर्ग का उत्तम आनन्द प्राप्त कर सकता था जिस को वह त्याग कर भुवर्लोक में ही इस लिये रह जाता है कि उस के गुरु शीघ्र उस का जन्म भूलोक में करवा दें जिस में वह शीघ्र श्रीगुरु और श्रीभगवान् के कार्य्य को संसार में करने में प्रवृत्त हो जाय। ऐसी अवस्था में उस को श्रीगुरु उस के शीघ्र जन्म होने का प्रबन्ध करते और उस के लिये उपयुक्त स्थान और कुल में उस का जन्म करवा देते हैं। गीता में ऐसे जन्म को परम दुर्लभ कहा है। उस के स्वर्ग में जाकर वहां का आनन्द लेने से जितनी वहां की शक्तियां खर्च होतीं वे संसार के उपकार में खर्च

होती हैं। यहां सब कुछ पुरुषार्थ से मिलता है, गुरु लोग केवल उपदेश द्वारा मार्ग बतलानेवाले हैं किन्तु चलना काम लोगों का है और कोई चलने ही से मार्ग के अन्त में कभी न कभी पहुंचेगा, अन्यथा नहीं। किन्तु इस समय में बहुधा लोग पुरुषार्थ का श्रम लेना नहीं चाहते हैं, वे चाहते हैं कि बिना श्रम किये किसी प्रकार से महात्मा हो जायं, कोई किसी प्रकार उन्हें एकाएक महात्मा में परिवर्तन कर दे। जब कि लोग ऐसे आलसी और परमार्थ के सम्बन्ध में उदासीन हैं, तब ऐसे समय में यदि श्रीगुरु लोग संसार में प्रकाश भाव से रहेंगे, तो सब कोई समझ सकता है कि उन का रहनाकैसा असह्य उन के लिये हो जायगा। अधिकांश लोग यही प्रार्थना करेंगे कि हम लोग एकाएक महात्मा बना दिये जायं, सब सांसारिक वांछित पदार्थ उन्हें मिलें, व्याधि और अन्य दुःख से मुक्त कर दिये जायं, उन के भरोसे रहकर पुरुषार्थ करने का कोई साहस न करेगाः अतएव अनधिकारी से गुप्त रहना श्रीगुरुओं का आवश्यक और उत्तम नियम है। और संसार भी, आजकल लोगों के दुष्टाचरण के कारण, ऐसा अपवित्र हो गया है कि पवित्र महात्माओं का जनसमूह में रहना उन के लिये असह्य है, अतएव वे लोग अपने पवित्र गुप्त स्थान में रह के वहां से संसार का जितना अधिक उपकार करते हैं उतना वे प्रकाश भाव से जनसमूह में रह के नहीं कर सकते। आवश्यक होने पर उन में से कोई २ समय २ पर संसार में साधारण रीति से जन्म लेके प्रगट होते हैं, किन्तु अधिकांश इस भूलोक में स्थूल शरीर में रह के भी अप्रकट रहते हैं। श्रीगुरुओं में भी कई श्रेणियां हैं और वे लोग अपने शरीर के कारण बाह्यदृष्टि से इस भूलोक में यथार्थ में ऊपर के दिव्य लोक में रहते हैं। स्थूल शरीर भी उन लोगों को है, किन्तु उन का स्थूल शरीर हमलोगों के स्थूल शरीर से अन्य प्रकार का है, उन का शरीर उन के इच्छाधीन है और उस में पंच भूत का शुद्धसात्विक सूक्ष्मांश विशेष है, स्थूल बहुत कम है। जिज्ञासु श्रीसद्गुरु की प्राप्ति करने का जितना इच्छुक

रहता है, उस से सहस्र गुणा अधिक श्रीसद्गुरु उस के पास पहुंचने के लिये इच्छुक रहते हैं जिस में वे उस को सहायता दे सकें, किन्तु उन की ओर जाने की चेष्टा करना, यह काम साधक का है। किन्तु केवल कोरा इच्छामात्र रखने से और उन की ओर चलने की कुछ भी चेष्टा नहीं करने से तो वे प्राप्त हो नहीं सकते। यदि जिज्ञासु एक पग श्रीगुरु की ओर बढ़ता है तो वे दो पग उस की ओर बढ़ते हैं जिस में शीघ्र वह उन को प्राप्त करे। प्रत्येक मनुष्य के एक नियत इष्टदेव और एक नियत श्रीसद्गुरु हैं, किन्तु उन को प्रत्यक्ष भाव में प्राप्त करने के लिये यत्न करना मनुष्य का परम कर्त्तव्य है। श्रीसद्गुरु लोग चाहते हैं कि संसार में शिष्य उन को प्राप्त हो जिन के द्वारा विशेष रूप से संसार का उपकार (संसार के लोगों का ध्यान सत् मार्ग की ओर आकर्षण करके) कियाजाय और धर्म्म का प्रचार हो जिस से लोग सब अज्ञान में न लिप्त रह कर जीवन को व्यर्थ खोने से बचें और श्रीभगवान् के निर्भय चरण के आश्रय में आवें। अत-एव वे लोग सदा संसार के जीवों को इस अभिप्राय से निरीक्षण करते रहते हैं कि कौन ऐसा है जो उन की सहायता चाहता है और उन की प्राप्ति करने के लिये प्रस्तुत है? अतएव साधक जब शिष्य होने के योग्य हो जाता है, तब एक क्षण भी गुरु लोग उस के निकट पहुंचने में विलम्ब नहीं करते हैं, चुम्बक की तरह वह उन को आकर्षित करलेता है। परन्तु हमलोगों ने अपने हृदयद्वार को अहंकार, अभिमान, स्वार्थ, आलस्य, आंतरिक मलिनता, विषय-वासना इत्यादि के कारण ऐसा बन्द कर रक्खा है कि जिस के कारण श्रीसद्गुरु यद्यपि वहां सहायता करने के लिये खड़े हैं परन्तु हमलोग देखते नहीं हैं और अपनी पीठ उन की ओर से फेर कर बन्द गुफा (कामक्रोधादि से आवरुद्ध हृदय) के भीतर अज्ञान के अन्धकार में पड़े हुए उन के शान्तिदायी प्रकाश से वंचित हो रहे हैं। हृदय को शुद्ध स्वच्छ और प्रेम पूरित होने पर और स्वार्थ और कामादि शत्रु को पराजित कर के हृदयद्वार खोलने और उन के चरण-

कमल की प्राप्ति निमित्त आर्त्तनाद उच्चारण करनेही से श्रीसद्गुरु भीतर स्वतः मिल जायंगे। हृदयद्वार खोलना क्या है मानो अहंकार, स्वार्थ, विषयतृष्णा, आलस्य आदि अवगुणों का त्यागना है, और आर्त्तनाद निष्काम परोपकारी कर्म्म करना, इन्द्रिय और मन का निग्रह करना, विचार और ध्यान मनन करना, शुद्ध आचरण का अभ्यास करना और श्री उपास्य और श्री सद्गुरु में एक निष्ठा और अचल निष्काम भक्ति रखना है। ऐसा करने से श्रीसद्गुरु अवश्य मिलेंगे। स्वार्थ अनर्थ का मूल है, और जब तक हमलोग अपने २ स्वार्थ को दीवार (जिस के कारण हमलोग अपने को अपने से नीचे की श्रेणी के लोगों से पृथक् समझते हैं) को नहीं तोड़ेंगे और उन लोगों के साथ प्रेम का बर्ताव करके शुद्ध हृदय से उन का उपकार करना प्रारम्भ नहीं करेंगे, तब तक जो दीवार हमलोग और हमलोगों से ऊंची श्रेणी के लोगों (महात्मागण) में है वह भी न टूटेगी और उस के नहीं टूटने के कारण उन लोगों से सहायता प्राप्त करने के योग्य हमलोग नही होवेंगे। श्रीसद्गुरु की प्राप्ति जंगल २ पहाड़ २ अथवा जनस्थानों में खोजने से नहीं होगी। श्रीसद्गुरु का प्रथम साक्षात्कार अपने शरीर के भीतर में ही हृदय में होगा, अतएव श्री सद्गुरु को अपने भीतर में खोजना चाहिये, अंतर में जो चित्त चंचलता, तृष्णा, स्वार्थपना, अज्ञानता आदि अन्धकार और कामक्रोधादि मल हैं उन को निष्काम परोपकारी कर्म, अभ्यास, ज्ञान और भक्ति रूप सूर्य्य के प्रकाश और भगवत्प्रेम रूपी जल के सिंचन से नष्ट करने से श्री सद्गुरु का वहां ही दर्शन होगा। श्रीसद्गुरु यह चाहते हैं कि जैसे हम (गुरु) लोगों ने सृष्टि की भलाई निमित्त निर्वाण के परम आनन्द को त्यागा है, उसी प्रकार जो श्रीगुरु के निकट आना चाहते हैं उन को भी सर्व प्रकार की स्वार्थकामना का त्याग करना चाहिये और सृष्टि का उपकार करना ही एक मात्र उद्देश्य रखना चाहिये, और परोपकारी कर्म निःस्वार्थ भाव से कर के दिखलाना चाहिये कि वह उन श्री सद्गुरुओं के शिष्य होने के

योग्य हैं। ऐसे ही श्री सद्गुरु राजविद्या के दीक्षक और श्रीभगवान् सशक्ति के साथ युक्त करानेवाले हैं और केवल उन्हीं के द्वारा राजविद्या की प्रेम दीक्षा मिल सकती है, अन्य द्वारा नहीं। अतएव जब तक ऐसे श्रीसद्गुरु की प्राप्ति न हो, तब तक साधक को अपने को उन के शिष्य होने निमित्त अधिकारी बनने का यत्न करते रहना चाहिये, और भक्तिपूर्वक चित्त को उन्ही के अदृश्य चरणकमल पर रखना चाहिये। श्री सद्गुरु की प्राप्ति अनधिकारी को कदापि नही हो सकती। दीक्षा से दीक्षित कर के श्री सद्गुरु शिष्य को त्रिगुण से पार कर श्रीउपास्य में मिला देते हैं। बीते काल में श्रीसद्गुरु की प्राप्ति योग्य शिष्यों को होती थी, आजकल भी होती है और आगे भी होगी। जैसे कोई रात्रि में पहाड़ पर खड़ा होकर नीचे देखता है तो नीचे के सर्वत्र अन्धकार मे जिस किसी एक झोपड़ी में प्रकाश हो उस पर उस को दृष्टि शीघ्र पड़ती है, ऐसे ही जो तमोगुण रूपी अंधकार को सत्वगुण के प्रकाश द्वारा नाश करता है और रजोगुण रूपी वायु को शान्त कर जीवात्मा रूपी दीप को प्रज्वलित करता है, उस पर प्रकाश के कारण श्री सद्गुरु का ध्यान शीघ्र आकर्षित होता है और तब वह उन के शान्तिदायी दृष्टि के भीतर आ के उन के चरणकमल तक पहुंचता है। धन्य है वह मनुष्य जो श्रीसद्गुरु की प्राप्ति करता है, देवता लोग उस की बड़ाई करते हैं और विश्वभर का उस से उपकार होता है।

लिखा है—"नास्ति तत्त्व गुरोः परम्" अर्थात् गुरुतत्त्व से परे कोई तत्त्व नहीं है। किन्तु शोक है कि आज कल इस गुरु तत्त्व को लोग भूल गये हैं और इस के यथार्थ तत्त्व की अज्ञानता के कारण इस का प्रायः दुरुपयोग होता है। शास्त्र में जो कथन है कि श्रीगुरु को सर्वस्व अर्पण करो वह श्रीसद्गुरु के निमित्त है और वे ऐसे कारुणिक और दयालु हैं, और संसार के लिये जो उन्हों ने परम त्याग किया है वह ऐसा परमोच्च और भावनातीत है कि सर्वस्व-अर्पण भी उन की तुच्छ सेवा है,

कदापि यथेष्ट नहीं है। आजकल दृश्य गुरु की खोज में लोग अनेक कष्ट उठाते हैं और धोखे में पड़कर किसी २ कच्चे और व्यवसायी गुरु के उपदेश से बड़ी हानि पाते हैं। यह बड़े शोक की बात है। यदि साधक को गुरुतत्त्व का और श्रीसद्‌गुरु की असीम करुणा और उन का यह अटल व्रत कि "वे योग्य साधक को जहां वह रहेगा वहां ही अवश्य सहायता करेंगे और उपयुक्त समय पर अवश्य मिलेंगे" का ज्ञान और विश्वास हो और इसी विश्वास के आधार पर वह साधना में अग्रसर होता रहे, तो साधकों का बड़ा उपकार होगा और वे ठीक मार्ग में स्थित रहेंगे और इधर उधर भटक कर गड्हे में नही गिरेंगे। श्रीसद्‌गुरु और श्रीभगवान् ने संसार के हित के लिये उन साधनाओं को सच्छास्त्र द्वारा प्रकाशित कर दिया है जिन के अभ्यास से श्रीसद्‌गुरु से सम्बन्ध होता है। अतएव इन के जानने के लिये शास्त्र की सहायता आवश्यक है। इन साधनाओं के अभ्यास से और अनुराग की आकर्षिणी शक्ति से श्री सद्‌गुरु की कृपा अवश्य होगी जिस के होने पर वे भाविक की बांह पकड़ के उस को अविद्यान्धकार रूपी सागर से पार कर श्रीभगवान् के सन्निकट लेजायंगे। अतएव साधक को इधर उधर न भटक कर केवल साधना में अग्रसर होते रहना चाहिये और श्रीसद्‌गुरु में विश्वास रख उन की प्राप्ति के लिये यत्न करते रहना चाहिये।

श्रीसद्‌गुरु के विषय में जो कुछ यहां लिखा गया है वह केवल शास्त्र के प्रमाण पर ही नहीं है किन्तु वर्तमान काल में जिन सत्पुरुषों को श्रीसद्‌गुरु से साक्षात् सम्बन्ध है उन के ज्ञान और अनुभव के आधार पर लिखा गया है। हम लोगों को जैसे अपने शरीर का प्रत्यक्ष ज्ञान है उसी प्रकार, इन सत्पुरुषों को श्रीसद्‌गुरु के अस्तित्व का ज्ञान है। उन लोगों को नित्य ध्यान द्वारा हृदय क्षेत्र में श्रीसद्‌गुरु के साथ समागम होता है और

उन के दर्शन और उन के दिव्य तेजपुंज रूपी प्रेम रस का स्पर्श और आस्वादन होता है। जब कभी वे लोग श्रीसद्गुरु का आवाहन करते हैं तभी श्रीसद्गुरु का आंतरिक समागम उन को लब्ध हो जाता है। साधकों के लिये अवश्य यह परमोत्तम समाचार है कि वर्तमान समय में भी श्रीसद्गुरु और फिर उन के द्वारा श्रीउपास्य की प्राप्ति का मार्ग खुला हुआ है और यद्यपि श्रीसद्गुरु बाह्य दृष्टि के अदृश्य हैं तथापि उन के साथ सम्बन्ध करवाने के लिये सच्छास्त्र और श्रीसत्पुरुष हम लोगों के बीच वर्तमान हैं।

राजविद्या की दीक्षा।

राजविद्या क्या है?

जब शुद्ध बुद्धि वाले को श्री भगवान्, उनकी शक्ति, सृष्टितत्त्व और जीवात्मा और इन सबों का परस्पर सम्बन्ध आदि का ज्ञान प्रत्यक्ष अनुभव के समान प्राप्त होता है और उस ज्ञान के कारण श्रीभगवान् के निमित्त प्रेम यज्ञ में वह प्रवृत्त होता है तो उसको ज्ञानयज्ञ कहते हैं। यह ज्ञान अथवा आध्यात्मिक स्वाध्याय की प्राप्ति अथवा ज्ञानयज्ञ भी दुर्लभ है और बिना सत्पुरुष और श्री सद्गुरु की कृपा से नहीं प्राप्त हो सकता है। श्री गीता अ० ४ में लिखा है :—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥

हे अर्जुन! तत्त्वदर्शी ज्ञानी लोग इस तत्त्व ज्ञान को तुझे उपदेश करेंगे। तू उन से प्रणिपात (दण्डवत् प्रणाम अर्थात् अहंकार छोड़कर अपने को समर्पण करना), जिज्ञासा और सेवा द्वारा ज्ञान-यज्ञ की प्राप्ति कर।

इस में प्रणिपात, प्रश्न और सेवा तीन उपाय दर्शित हैं। प्रणिपात अर्थात् अर्पण के लिये श्रीसद्गुरु में पूर्ण श्रद्धा और

विश्वास आवश्यक हैं जिनके विना यथार्थ अर्पण सम्भव नहीं है। और भी श्रीसद्गुरु की प्राप्ति के लिये हृदय की आंतरिक निष्काम पिपासा की आवश्यकता है और ऐसा दृढ़ विश्वास कि केवल श्रीगुरुदेव ही इस पिपासा की शान्ति कर सकते हैं अन्य नहीं। अतएव साधक को गुरुभक्ति और प्रेम से सुसज्जित हो कर श्रीसद्गुरु की शरण में, किसी स्थान विशेष में नहीं, किन्तु अपने हृदय में जाना चाहिये। यहां सेवा का अर्थ इन्द्रिय और अन्तःकरण को श्रीसद्-गुरु के निमित्त अर्पण करना है और अपने श्रीगुरुदेव को सर्वत्र व्याप्त अर्थात् विश्वमय जान उनकी सेवा के निमित्त उनको विश्व-हित कार्य्य में नियुक्त करना है। "स इव आसमंतात् सेवा" अर्थात् वे सर्वत्र हैं ऐसा जान प्राणियों का हित करना उनकी यथार्थ सेवा है। फिर श्रीगीता अ० ७ श्लोक ११ और १६ में श्रीभगवान् ने ज्ञानी (ज्ञान यज्ञ करने वाले) को अपनी आत्मा कह के कहते हैं कि अनेक जन्मों तक ज्ञान यज्ञ करने पर ज्ञानी मुझको पाता है जब कि प्राणिमात्र को मेरा रूप होना उसे प्रत्यक्ष हो जाता है; किन्तु ऐसा महात्मा दुर्लभ है। इसका तात्पर्य्य यह है कि भाविक को प्रेम यज्ञ में सिद्धि लाभ करने से उसको विश्व ईश्वरमय बोध होता है। इसके बाद श्रीगीता अ०६ में श्रीभगवान् ने ऐसी अवस्था का वर्णन किया है जो बुद्धि के ऊपर स्थिति होने से प्राप्त होती है, जब कि ज्ञान विज्ञान होकर हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष होजाता है। यह अवस्था जिस के द्वारा प्राप्त होती है उस को राजविद्या कहते हैं जो परम रहस्य है और केवल श्रीसद्गुरु द्वारा दीक्षा मिलने से प्राप्त होती है। श्रीगीता अ० ६ में लिखा है:—

इदंतुते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानंविज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् १
राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् २

हे अर्जुन ! तू विषमदर्शी नहीं (अर्थात् समदर्शी) हो इस से विज्ञान (प्रत्यक्षज्ञान) सहित जो यह अत्यन्त गुप्त ज्ञान है, वह मैं तुझ से कहता हूं, इसे जानकर तू सब अशुभ कर्मों से छूट जायगा, यह विद्याओं का राजा "राजविद्या" है, गुप्तों का भी राजा अर्थात् गुप्तातिगुप्त और अत्यन्त पवित्र है। इसका फल साक्षात् देखने में आता है। यह धर्म का तत्त्व है, करने में सब प्रकार के भय से शून्य और अक्षय फल देनेवाली है। राजविद्या यथार्थ में क्या है—यह श्रीभगवान् ने श्रीगीता में नहीं बतलाया, क्योंकि जो गुह्यातिगुह्य है वह केवल श्रीसद्गुरु द्वारा प्राप्त होता है, कदापि लिखा नहीं जाता। श्रीसद्गुरु और श्रीपराशक्ति की कृपा से इस राजविद्या को प्राप्त कर श्रीभगवान् की विहार-लीला में प्रवृत्त हो आत्मसमर्पण करना इसका उद्देश्य है। इसका इशारा श्रीभगवान् ने उसी ६ वें अध्याय के ३ श्लोकों में दिया है:—

महात्मानस्तुमां पार्थ ! दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजंत्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्
सततं कीर्तयंतो मां यतंतश्च दृढव्रताः।
नमस्यंतश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते १४
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ३४

हे अर्जुन ! दैवी (परा) प्रकृति का आश्रय रखने वाले महात्मा गण मुझे सम्पूर्ण प्राणियों का कारण और अविनाशी बोध कर के चित्त को मुझ में पूर्ण रूप से संनिवेशित कर के (तन्मय होकर) मेरा ही भजन (विहार लीला में संयुक्त होकर सेवा) करते हैं। वे महात्मा गण निरन्तर मेरा भजन कीर्तन (मेरे तेजपुंज का वितरण) करते हैं, दृढ संकल्प कर के मेरे निमित्त यजन (त्याग) करते हैं, भक्ति पूर्वक मेरे में अपने को नमस्कार (अर्पण)

करते हैं ,और मुझ में युक्त रह कर मेरी उपासना करते हैं । तू अपना मन मुझ में लगा, मेरा भक्त बन, मेरी पूजा कर, मुझे नमस्कार कर · मेरे में अपने को अर्पण कर), मेरे में तत्पर हो (केवल मेरे निमित्त कर्म कर), इस प्रकार अपनी आत्मा को अपण द्वारा युक्त करने से मुझ को पावेगा। इसी राजविद्या की दीक्षा को अवस्था को श्रीगीता अ० १२ श्लोक ५४ में श्रीभगवान् ने पराभक्ति और ५५ श्लो० में ' तत्त्व से जान कर मेरे मे प्रवेश करना'' कहा है ।

इस प्रकरण में जो राजविद्या की दीक्षा का वर्णन है वे वेही हैं जिन का वर्णन आत्मसमर्पण के प्रकरण में हो चुका है किन्तु यहां उन्हीं को योगशास्त्र की संज्ञा द्वारा वर्णन किया जाता है। आज कल अधिकांश लोग इन की आधिभौतिक अवस्था को किंचित् जानते हैं और उसी दृष्टि से इन को समझते हैं किन्तु इन के आधिदैविक और आध्यात्मिक भाव अधिकांश लोगों को एकदम ज्ञात नहीं हैं। चूंकि केवल श्रीसद्गुरु द्वारा दीक्षा मिलती है, अन्य गुरुओं के द्वारा नहीं, और श्रीसद्गुरु श्रीशिव के नाम में और उन्हीं की शक्ति से यह दीक्षा देते हैं, अतएव जगद्गुरु श्री-महादेव से विना सम्बन्ध हुए भाविक को यह उक्त दीक्षा मिल नहीं सकती है। इस अवस्था में श्रीशिवजी की कृपा की बड़ी आवश्यकता होती है, क्योंकि इस अवस्था में भाविक के अवशेष दोषों का पूर्ण नाश होना आवश्यक है जो श्रीशिवजी की कृपा और तेजपुंज की प्राप्ति से होता है। श्रीशिवजी श्मशान में रहते हैं इस का तात्पर्य्य यही है कि उन का तेजपुंज दोषों को दग्ध करनेवाला है। जिन उन्नतिशील भाविक को श्रीशिवजी से सम्बन्ध का सौभाग्य प्राप्त है वे उन के तेजपुंज को साक्षात् रूप से अपने हृदय में अनुभव करते हैं जो ज्वलंत अर्थात् तप्त के समान रहता है, चूंकि वह दोषों का नाश करनेवाला है। यह आनुमानिक कथन नहीं है किन्तु श्रीसद्गुरु के जो शिष्य (सत्पुरुष) हैं वे प्रतिदिन ध्यानस्थ

होकर इस का हृदय में उसी प्रकार अनुभव करते हैं जैसा कि शरीर को शीत उष्ण के स्पर्श से अनुभव होता है। दोषों के नाश होने पर श्रीउपास्य के तेजपुंज का भी प्रत्यक्ष अनुभव हृदय में होता है किन्तु इस का स्पर्श परम शीतल, शान्तिप्रद और प्रेमानन्द का प्रदान करने वाला होता है। जगद्गुरु श्रीशिवजी के तेजपुंज का स्पर्श उसी के लिये उपयोगी है जो अधिकांश में शुद्ध है; किन्तु जो कामादि दोषों से पूरित हैं उन के लिये विष है और उन को इस की प्राप्ति हो नहीं सकती है। इसी कारण श्रीशिवजी का प्रसाद जो उन के आंतरिक तेज से पूरित समझा जाता है उस को ग्रहण (भोजन) करना मना है। किन्तु दोषों को भस्म करने के लिये श्रीशिवजी की वाह्य विभूति जो भस्म है उस का धारण करना विहित है। इस आध्यात्मिक भस्म के स्पर्श से पंच भूतों के विकार नष्ट हो जाते हैं। श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी ने भी जगद्गुरु श्रीशिवजी के महत्व और जगद्गुरु से सम्बन्ध स्थापित करने की आवश्यकता को अपने आचरण द्वारा सिद्ध किया। वे श्रीउपमन्यु (श्रीसद्गुरु) से दीक्षा लेकर जगद्गुरु श्रीशिवजी की तपस्या द्वारा आराधना की और इस प्रकार श्रीजगद्गुरु के सम्बन्ध की आवश्यकता को प्रकाशित किया। श्रीशिवजी भी श्रीभगवान् का ध्यान कर के सिद्ध करते हैं कि श्रीउपास्य अतिम लक्ष्य हैं और श्रीजगद्गुरु और श्रीउपास्य दोनों एक हैं। ध्यान ही यथार्थ में आध्यात्मिक तपस्या है।

श्रीगोस्वामी तुलसी दास जी जो श्रीरामोपासक थे उन्हों ने अपने श्रीरामचरित मानस और भी विनयपत्रिका में बड़ी श्रद्धा और प्रेम से श्री शिव जी को जगद्गुरु होने के कारण प्रणाम और वन्दना की है और वे श्रीकाशी में, विशेष कर श्रीशिवजी की कृपा का लाभ करने के लिये रहते भी थे। उपासकों का विश्वास है कि भक्ति के देनेवाले श्रीशिवजी हैं जिस का भाव यही है कि वे जगद्गुरु हैं

और विना उनकी कृपा के न श्रीउपास्य को भक्ति लब्ध हो सकती है और न प्राप्ति हो सकती है।

साधारण मनुष्य केवल स्वर्लोक तक जाता है और वहां से लौटकर फिर भी नीचे गिरता है और स्वर्लोक से ऊपर उस के लिये जाना कठिन है, क्योंकि वहां महाश्मशान है जहां मूल प्रकृति का त्रिगुण और पराशक्ति का त्रिभाव दोनों टक्कर खाते हैं। पहाड़ों में जहां दो नदियों का संगम है जैसा कि देवप्रयाग, रुद्रप्रयाग आदि, वहां संगम के कारण नदी का वेग ऐसा प्रवल है कि उस स्थान में तो किसी प्रकार से पार होना असम्भव है। इस महाश्मशान से पार वही होता है जो श्रीसद्गुरु और श्रीजगद्गुरु शिव से सम्बन्ध लब्धकर दीक्षा प्राप्त करता है, जिस के होने पर ये दोनों श्रीगुरु देव उस को पार करदेते हैं।

साधारण मनुष्य में तीनों शरीरों, स्थूल, सूक्ष्म, और कारण में एकता नही है, एक जीवात्मा का अनुभव दूसरे को प्राप्त नही, मानों तीनों शरीर में अभिमानी और तीन अवस्था जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति के बीच अविद्या की नदी वह रही है जिसमें विना सेतु के निर्माण के एकता नहीं हो सकती है। और भी आवश्यक है कि ये तीनों शरीर जो गुणमय हैं उनके गुणों के विकार नाश किये जायं। ये सव राजविद्या की दीक्षा के द्वारा सम्पन्न होते हैं। सहस्रनाम अर्थात् एक के वाद तीन शून्य का तात्पर्य्य है कि तीनों शरीरों को शून्य वनाने से एक जो श्रीउपास्य हैं उनकी प्राप्ति होगी।

आगे जिन अवस्था का वर्णन होगा उनके समझने के लिये यह लिखना आवश्यक है कि प्रकृति के तीन गुण और चेतन की तीन अवस्था जिनमें आपस में भी सम्बन्ध और समानता है उनके भी तीन अन्तर्विभाग हैं जो मिश्र हैं और इस प्रकार इन तीन का ६ विभाग यों हैः—

तमोगुण—	१ तमतम	२ तमरज	३ तमसत्व	स्थूल उपाधि
जाग्रतअवस्था—	१ जाग्रतजाग्रत	२ जाग्रतस्वप्न	३ जाग्रतसुषुप्ति	
रजोगुण—	४ रजतम	५ रजरज	६ रजसत्व	सूक्ष्म उपाधि
स्वप्नावस्था—	४ स्वप्नजाग्रत	५ स्वप्नस्वप्न	६ स्वप्नसुषुप्ति	
सत्वगुण—	७ सत्वतम	८ सत्वरज	९ सत्वसत्व	कारण उपाधि
सुषुप्तिअवस्था	७ सुषुप्ति जाग्रत	८ सुषुप्तिस्वप्न	९ सुषुप्तिसुषुप्ति	

साधारण लोग की उपाधि में नं० ६ रजसत्व की प्रबलता रहने के कारण वे केवल स्वप्नसुषुप्ति अवस्था तक जाते हैं और रजोगुण की प्रधानता के कारण थोड़ा सुषुप्ति के आनन्द का अनुभव होता है किन्तु वह जाग्रत् अवस्था में स्मरण नहीं रहता। साधक की उपाधि में नं० ७ सत्वतम की प्रधानता रहने के कारण वह सुषुप्ति जाग्रत् तक जाता है किन्तु सत्वतम के मिश्रण के कारण आनन्द (सत्व) का अनुभव ते उसे जाग्रत् में होता है किन्तु तम के वर्तमान रहने से उस अवस्था का ज्ञान लोप हो जाता है। केवल श्रीसद्गुरु की दीक्षा द्वारा साधक की उपाधि का रूप और अवस्था की गति नं० ९ तक जाकर आगे भी बढ़ती है।

बहुत साधारण लोगों में केवल स्थूल उपाधि के सिवाय सूक्ष्म उपाधि (शरीर) बनी तक नहीं रहती है अर्थात् सूक्ष्म उपाधि जिन गुणों के मिश्रण से बनती है वह रहता है किन्तु शरीर नहीं तय्यार रहता। सूक्ष्म शरीर साधन द्वारा तय्यार होता है। इसी कारण जिस संस्कार से द्विजत्व प्राप्त होता है उसको दूसरा जन्म लेना कहते हैं, क्योंकि आचार्य्य के उपदेशानुसार चलने से सूक्ष्म शरीर तय्यार हो जाता है। उसी प्रकार केवल श्रीसद्गुरु की दीक्षा द्वारा ही कारण शरीर और उसका अभिमानी 'प्राज्ञ'' जागरित होता है, जैसा कि पहिले भी कहा जाचुका है। इस प्रकरण में जहां जहां चित्र शब्द का व्यवहार है वहां प्रथम खंड के पृष्ठ १४८ के

चित्त से तात्पर्य्य है। इन दीक्षाओं की अवस्था के वर्णन में भी पहिले उसकी प्रवेशिकावस्था अर्थात् आधिभौतिक अवस्था दी जायगी, उसके बाद उसको उच्च अवस्था का वर्णन होगा।

दीक्षा।

जब साधक कर्म्म, अभ्यास, ज्ञान और भक्ति योग के अभ्यास द्वारा (जिस का वर्णन इस पुस्तक में हो चुका है), श्रीसद्गुरु के शिष्य होने के योग्य होता है (उस के पहिले साधक गुरु से अप्रकाश भाव से सहायता पाता है जैसा पहिले कहा जा चुका है) और ऐसी अवस्था में प्राप्त हो जाता है कि तब से बिना श्रीसद्गुरु के प्रत्यक्ष हुए और उन के द्वारा विना प्रकाश भाव से उपदेश पाये वह आगे बढ़ नहीं सकता है, तब उस को गुरु का प्रत्यक्ष रूप मे दर्शन होता है। तब शिष्य श्रीसद्गुरु द्वारा दीक्षा ग्रहण करता है जो दीक्षा ४ प्रकार की है। शिष्य को दीक्षा इस निमित्त प्रदान की जाती है कि वह उस को प्राप्त कर सृष्टि के निमित्त उपकार करने में विशेष योग्य होवे और उस के द्वारा श्रीभगवान् में आत्मसमर्पण कर उन का प्रिय साधन कर सके। प्रत्येक दीक्षा पाने से शिष्य में बहुत बड़ा आंतरिक परिवर्त्तन होता है और उस की संविक्ति (प्रज्ञाशक्ति) फैलती है जिस के कारण वह योग-भक्ति की कुंजी को पाता है और उस कुंजी को काम मे लाने से उस दीक्षा की विज्ञान-अवस्था को प्राप्त करता है और फिर उस विज्ञान (आध्यात्मिक) से शक्तिलाभ करता है। इन दीक्षाओ के पाने के अनन्तर जब जो साधना करना होता है, जो गुण प्राप्त करना होता है, और जो दोष त्यागना पड़ता है, वे सब पूर्ण रीति से और भली भांति किये जाते हैं, कुछ भी अपरिपूर्ण कर के नही छोड़ा जाता। यथार्थ में नैतिक सद्गुणों की पूरी २ प्राप्ति और उन में दृढ़ता इसी अवस्था में होती, साधनकाल मे पूरी २ प्राप्ति न होती अर्थात् साधनकाल में कतिपय सद्गुणों की जो प्राप्ति करनी होती है उन को पूर्ण रीति से प्राप्ति केवल दीक्षा प्राप्ति

करने पर होती है। जब तक एक दीक्षा का लक्षण और गुण भले प्रकार से प्राप्त न हो जाता तब तक आगे दूसरे में पैर नहीं जा सकता। संक्षेप से इन दीक्षाओं का यों वर्णन है—

श्रीसद्गुरु द्वारा प्रथम दीक्षा से शिष्य परिव्राजक हो जाता है, जिस से उस का द्वितीय जन्म होता है और तब वह द्विजत्व को प्राप्त करता है। स्थूल शरीर से पृथक् सूक्ष्म शरीर में शिष्य के स्थित होने पर यह दीक्षा उस को श्री गुरु द्वारा दी जाती है, किन्तु उस का सूक्ष्म शरीर शुद्ध, स्वच्छ और वशीभूत रहता है, अतएव दीक्षा के ज्ञान और परिणाम को वह कभी नहीं भूलता। जिस को यह दीक्षा मिलती है वह फिर इस दीक्षा के परिणाम को खो नही सकता, कितना ही विलम्ब उसे उस के बाद उन्नति करने और आगे बढ़ने मे क्यों न हो। अब दीक्षा की कुंजी उस के हाथ से जा नही सकती। परिव्राजक का यह अर्थ नहीं है कि उस के शरीर के लिये कोई नियत गृह नहीं हो और शरीर से वह एक नियत स्थान में नहीं रहता हो, किन्तु यथार्थ तात्पर्य्य यह है कि परिव्राजक अतर से ससार से पृथक् है और उस की दृष्टि में संसार का प्रत्येक स्थान समान है, किसी स्थान में उसे आसक्ति नही है और कोई स्थान उस को बद्ध और आसक्त नहीं कर सकता। जहां २ श्रीसद्गुरु के कार्य्य (परोपकार) करने के निमित्त उस को जाना चाहिये वहां २ वह अवश्य हर्ष से जायगा, और संसार को उपकार पहुंचा कर श्रीगुरु और श्रीउपास्य की इच्छा को पूर्ण करना इतना ही उस को संसार से अभिप्राय है और कुछ नहीं। केवल बाह्य दीक्षा अथवा बाह्य क्रिया कलाप से अथवा केवल गेरू का रङ्गा हुआ वस्त्र रखने से कोई परिव्राजक नही हो सकता, जैसा कि प्रायः आजकल की दशा है, किन्तु केवल श्रीसद्गुरु द्वारा आंतरिक दीक्षा पाने से (जो केवल शिष्य के होने की योग्यता प्राप्त करने से होता है) होता है। शिष्य आंतरिक त्याग से परिव्राजक होता है, न कि बाह्य त्याग से। इस अवस्था में दो दोषों का त्याग परिव्राजक करता है।

प्रथम अस्मिता दोष का त्याग करता है; अर्थात् शरीर, इन्द्रिय, और अन्तःकरण में जो अहंभाव रूप आसक्ति है उस को पृथक् भाव में अयथार्थ बोध कर और शुद्ध अन्तरात्मा को अर्पण कर स्वार्थजनित अहंता का एकदम लोप करता है। इस के पहिले साधक की अवस्था में इस अहंभाव का केवल दमन होता है, धीरे २ न्यून होता है और वश में किया जाता है, किन्तु इस अवस्था में उस के पृथक् भाव का सर्वथा लोप हो जाता है। परिव्राजक को यह ज्ञान प्रत्यक्ष हो जाता है कि वह उपाधियों से पृथक् है और तब से वह सांसारिक किसी घटना से स्वभावतः क्षुब्ध नहीं होता और उस के (चित्त को क्षुब्ध न होने देने) निमित्त उसे कोई चेष्टा नही करनी पड़ती। साधन काल में जो ज्ञान, विचार, विवेक द्वारा बुद्धि ने केवल निश्चय किया था वह अब अपरोक्ष हो जाता है। वह अनुभव करता है कि आत्मा सबों का एक ही है, अतएव सब एक हैं, भिन्नता अयथार्थ है। उस का ज्ञानचक्षु खुल जाता है, जिस के कारण उस की आंतरिक दृष्टि माया के पर्दे के भीतर तक जाती है और वह सर्वत्र एक ही आत्मा के अस्तित्व को देखता है जिस के कारण बाहरी नानात्व उस को असत्य भासता है। दूसरा दोष अभिनिवेश है, जिस के त्यागने से वह संशयरहित हो जाता है। उस को मृत्यु का तनिक भी भय नहीं रहता, क्योंकि सूक्ष्म शरीर को स्थूल से सदा के लिये पृथक् होने को मृत्यु कहते हैं, जिस को वह मरने के पहिले पृथक् कर अनुभव कर सकता है। इस अवस्था वाले का लक्षण श्वेताश्वतरोपनिषद् में ऐसा दिया है :—

लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठवंच।
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति
(२–१३)।

योग की प्रथम दीक्षा प्राप्त व्यक्ति का शरीर हलका, नीरोग, लोभशून्य, सुन्दर वर्ण, मधुरस्वर, शरीर से सुन्दर गन्ध का निकलना, मल मूत्र थोड़ा—ये सब लक्षण हैं।

परिव्राजक को कतिपय सिद्धांत—यथा पुनर्जन्म, कर्मफल, जीवन्मुक्त महात्माओं को संसार में स्थिति इत्यादि का ज्ञान अपरोक्ष हो जाता है और तब उन में उसे कोई संशय नहीं रहता। वह कर्मकाण्ड के आदेशों के बद्ध नहीं रहता, अतएव उस के लिये कोई वाह्य कर्मकाण्ड की क्रिया करनी आवश्यक नहीं रहती, किन्तु आंतरिक कर्म वह करता है। वाह्य कर्मों के द्वारा जो आंतरिक परिवर्तन होता है उस को वह प्राप्त कर चुका, अतएव वाह्य कर्म जो ऊपर जाने के निमित्त सीढ़ी की भांति है और जो प्रारम्भ में अत्यन्तावश्यक है उस के लिये आवश्यक नहीं रहता। किन्तु जिन को ऊपर चढ़ने के लिये सीढ़ी की आवश्यकता है और जो विना उस के ऊपर जा नहीं सकते यदि वे सीढ़ी का त्याग करें, और उस के द्वारा ऊपर चढ़ने की चेष्टा न करें तो वे ऊपर नहीं उठ सकते। अतएव केवल वाह्य कर्मों के त्यागने से कोई संन्यासी नहीं हो सकता, जैसा कि आज कल का व्यवहार है। आज से पांच हजार वर्ष पहिले भी ऐसे लोग थे जो केवल वाह्य लिंग के कारण अपने को संन्यासी मानते थे; उन्हीं लोगों को लक्ष्य कर के श्रीकृष्ण भगवान् ने गीता में ऐसा कहा है—

> अनाश्रितः कर्मफलं कार्य्यं कर्म करोति यः।
> स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥१
>
> अध्याय ६।

जो कर्मफल के ऊपर आसरा न कर केवल कर्त्तव्य जान कर्म को करता है वही संन्यासी और योगी है, किन्तु वह नहीं जो अग्निहोत्र नहीं करता और कर्म्मों को भी नहीं करता। यदि पांच हज़ार वर्ष पहिले भी ऐसे केवल नाम के संन्यासी थे तो आजकल का क्या कहना है? आजकल तो ऐसे नामधारी ही संन्यासी अनेक हैं। अतएव साम्प्रत में श्रीसद्गुरु के शिष्यगण सत्पुरुष, आदि प्राय. वाह्य लिंग नहीं रखते, किन्तु वे ज्ञान, पवि-

म्रता, निःस्वार्थपना, परोपकारिता और भक्ति के कारण पहचाने जाते हैं। एक बड़ा भारी लाभ इस दीक्षा के प्राप्त करने से यह होता है कि उस के द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है वह फिर कभी किसी अवस्था में खोया नहीं जा सकता, मृत्यु और पुनर्जन्म भी उस ज्ञान को नाश नहीं कर सकता और न भुला सकता, दूसरे जन्म में फिर उस के प्राप्त करने के लिये उसे चेष्टा न करनी होगी, किन्तु स्वतः प्राप्त रहता। अब इस के उच्चभाव का वर्णन किया जाता है।

जब भाविक स्थूल सूक्ष्म और कारण शरीरों की शुद्धि और विकाश का सम्पादन करलेता है, और उन्हें अपने श्रीगुरुदेव की सेवा में उन के कार्य्य के सम्पादन के लिये समर्पण करने के अभ्यास में प्रवीण होजाता है, तब उचित समय पर उसे श्रीसद्गुरु द्वारा यह प्रथम दीक्षा प्राप्त होती है। यह दीक्षा न तो स्थूल शरीर में मिलती है, जो अज्ञान का घर है, और न सूक्ष्म शरीर में, जो अज्ञान और साधारण ज्ञान का घर है। श्रीगुरुदेव के दर्शन और दीक्षा की प्राप्ति जिस के लिये उसका हृदय अनेक काल से लालायित था, सर्वप्रथम उसे अपने निज हृदय में ही कारण शरीर में रहकर होती है जो बोध का गेह है। इसी लिये जिज्ञासु के प्रति यह आदेश है कि "तूं उस की खोज कर जो ज्ञान गेह में तेरा प्रवेश करावेगा"। इस आध्यात्मिक दीक्षा के समय शिष्य के स्थूल और सूक्ष्म शरीर तो समाधिस्थ अर्थात् अचेतन अवस्था में हो जाते हैं और कारण शरीर जिस का स्थान शरीर में हृदय है उस में उसे अपने श्री गुरुदेव का साक्षात् दर्शन होता है और श्री गुरुदेव के हृदय में वह देवाधिदेव अपने श्री उपास्य देव को देखता है। श्रीगुरुदेव उसे श्री भगवान्‌के उस एक मात्र आनन्द भाव को प्रदान करते हैं जिसे माण्डूक्योपनिषद् के सप्तम श्लोक में "शान्तं शिवं अद्वैतं" कहा है। यह परम गुह्य अनुभवानन्द है जिसे प्राप्त कर दीक्षित शिष्य श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय ६ के २६ वें श्लोक के अनुसार समदर्शी हो श्रीभगवान् को

सब जीवों में और सब जीवों को श्रीभगवान् में देखता है। उस समय असत् अहंकार सम्बन्धी द्रष्टा दर्शन और दृश्यात्मक पर्दे दीक्षित शिष्य के नेत्रों के सामने से हट जाते हैं और वह अपने को सच्चे जगत् में पाता है।

इस दशा की ओर श्रीगीता अध्याय २ का ६९ वां श्लोक इन शब्दों में संकेत करता है-"जहां सब संसार सोता है वहां सच्चा ज्ञानी जागता है और जहां संसार जागता है वहां ज्ञानी सोता है"। इसी भाव को रामचरितमानस में "यह जग यामिनि जागहिं योगी। विरत विरञ्चि प्रपच वियोगी।" द्वारा व्यक्त किया गया है। श्रीगीता के उपर्युक्त श्लोक का भाष्य करते हुए श्रीशंकराचार्यजी कहते हैं-"सब जीवों के प्रति श्रीभगवान् रात्रिवत् हैं अर्थात् अज्ञात हैं और उन में ज्ञानी जागता है अर्थात् उन्हें अनुभव करता है और जिस प्रपंच में सब जीव जागते हैं, अर्थात् अज्ञान वश द्रष्टा दर्शन और दृश्यात्मक इस मिथ्या प्रपंच का अनुभव करते हैं उस में ज्ञानी सोता है; अर्थात् ज्ञानी के लिये उस का अभाव रहता है। शिष्य अपने कारण शरीर में श्रीभगवान् के अद्वैत भाव का अनुभव कर लेता है और उस के स्थूल शरीर के अभिमानी जीवात्मा पर इस प्रथम दीक्षा का ऐसा प्रभाव पड़ता है कि वह श्रीभगवान् का शुद्ध अंश (प्रतिविम्ब मात्र) होजाता है अथवा यों कहिये कि उस का व्यक्तित्व भाव सर्वात्म भाव में परिणत हो जाता है। योगाग्नि (प्रेमाग्नि) के प्रभाव से उस के स्थूल शरीर के राजसिक और तामसिक स्वभाव के अणुगण भी पवित्र, सूक्ष्म और सात्विक हो जाते हैं जिससे कि उस का शरीर श्रीभगवान् के भाव और तेजपुंज के विकाश का एक केन्द्र हो जाता है। (देखिये श्वेताश्वतर उपनिषद् अ० २-१२-१३) वह अनुभव करता है कि मेरा (उस का) स्थूल केन्द्र और इस समष्टि का स्थूल केन्द्र दोनों वास्तव में एक ही श्रीभगवान् का

विकाश अर्थात् स्वरूप हैं जो दोनों में प्रकट होते हुए भी दोनों को अतिक्रमण करते हैं। ऐसा अनुभव करते हुए वह श्रीगीता के अध्याय ६ के ३२ वें श्लोक के अनुसार सब जीवों पर दयार्द्र चित्त होता है और उनका उपकार करना अपना मुख्य व्रत समझता है। गीता का वाक्य हैः—"हे अर्जुन! जो संपूर्ण प्राणियों के दुःख सुख को अपने दुःख सुख के समान मानता है और सब में समदर्शी होता है वही योगी है"। उपनिषदों में इस विराट के स्थूल केन्द्र की सज्ञा "वैश्वानर" है और श्रीगीता मे "अधिभूत" और यह सब जीवों की मूल भित्ति है। वह अनुभव करता है कि वह और यह वाह्य विश्व एक ही श्रीभगवान् के स्वरूप हैं।

इसी समय उसे सर्व प्रथम इस बात का प्रत्यक्ष भान होता है कि श्रीभगवान् जिनके लिये उस भाविक का हृदय व्यग्र हो रहा है वे उस भाविक के परम धाम और अविनाशी आश्रय स्थल हैं, यद्यपि भाविक अनादि काल से उन से बिछुड़ कर इधर उधर भटक रहा था। इस भटकने के कारण उस की परिव्राजक संज्ञा होती है। ऐसे ही दीक्षित शिष्य की ओर संकेत करते हुए श्री भगवान् गीता अध्याय १२ के १६ वें श्लोक में आज्ञा करते हैं कि हे अर्जुन! जो स्तुति निन्दा को समान जानता है, कम बोलता है, यथालाभ सन्तुष्ट रहता है, किसी एक स्थान पर घर बनाकर नही रहता, और जिसकी बुद्धि स्थिर है वही भक्तिमान् पुरुष मुझे प्रिय है।" आनन्द घन श्री भगवान् के अनूप रूप की झांकी पा कर वह मुग्ध हो कर मौन हो जाता है। इसी अवस्था के सम्बन्ध में महात्मा कबीर दास जी की उक्ति है—"मन मस्त हुआ तो क्यों बोले" भुवर्लौकिक भ्रमणों और दृश्यों के चमत्कार अर्थात् नीचे की सिद्धि को आध्यात्मिक साधना का लक्ष्य और प्रमाण बताना राज-विद्या के अर्थ का अनर्थ करना है। यह असार को सार और तुच्छ को महान् बनाना है। राजविद्या के अधिकारी का

मुख्य लक्ष्य इस सृष्टि के एक मात्र सार श्रीभगवान् की कृपा से इस सृष्टि रूपी माया जाल से मुक्त हो कर उन में अपने को अर्पण करना है। भुवर्लोक और स्वर्गलोक की तो कोई कथा ही नहीं, श्रीभगवान् का सच्चा भक्त तो ब्रह्म लोक के धाम को भी तुच्छ समझता है, (देखिये गीता अध्याय ८—१६)। दीक्षित शिष्य का एकमात्र लक्ष्य मनुष्य जाति का आध्यात्मिक मंगल सम्पादन कर श्रीभगवान् की सेवा करना रहता है। इस मंगल कामना के सिवाय उस के चित्त में उस स्वार्थ का भी लेश मात्र अस्तित्व नहीं रहता और इस स्वार्थराहित्य दृढ़ कवच को धारण कर वह सर्वथा निरापद रहता है। उस के पवित्र प्रेम पूर्ण हृदय से सदा आध्यात्मिक और नैतिक सत्ता का एक स्रोत बहा करता है जो कि इहलौकिक और भुवर्लौकिक चमत्कार की अपेक्षा संसार का कहीं ज्यादा मंगल करता है। उसे चौदह भुवन के खाक छानने की कोई जरूरत नहीं रहती। भक्ति और वैराग्य की वृद्धि के साथ २ इस हृदय निःसृत आध्यात्मिक सत्ता के स्रोत के बल की भी वृद्धि होती है। सच्चे दीक्षित के लक्षण हमें निश्चित रूप से बता दिये गये हैं। स्थितप्रज्ञ के स्वरूप सम्बन्धी अर्जुन के प्रश्न का उत्तर देते हुए श्री भगवान् ने इस बात को पूर्णतया स्पष्ट कर दिया है। श्रीशंकराचार्य्य जी भी अपने गीताभाष्य में कहते हैं कि स्थितप्रज्ञ वह है जिस ने श्रीभगवान् को अपनी आत्मा करके जान लिया है, अर्थात् जिस ने श्री भगवान् में अपनी आत्मा को अर्पण कर अपने लिये भिन्नता मिटा दी है। श्री गीता के अध्याय २ के ५५, ५६ और ५७ श्लोक में इस की व्याख्या है। "जो प्राणी अपने मन की कामनाओं को पूर्ण रूप से त्याग देता है और अपनी आत्मा ही में आत्मसुख का अनुभव करता है, वही स्थितप्रज्ञ है" यही श्लोक ५५ का तात्पर्य्य है। सूक्ष्म शरीर में स्थित होने पर उस की क्या दशा होती है उस का उक्त ५६ श्लोक में यों वर्णन है—यथा "जिस का मन दुःख में घबड़ाता नहीं, जिसे सुख

में हर्ष नहीं होता, राग, भय और क्रोध जिस के पास नहीं आते, वही स्थितप्रज्ञ है" और इस स्थूल देह के रहने के काल में वह किस भांति विचरता है उस का वर्णन करते हुए आगे का श्लोक कहता है कि स्थितप्रज्ञ वह है जो सब स्थानों में अनासक्त, भली बुरी किसी भी वस्तु मे राग द्वेष को नहीं प्राप्त करता।

दूसरी दीक्षा से परिव्राजक कुटीचक होता है। इस दीक्षा से कुंडलिनी शक्ति जगाई जाती है और अर्धकुंडलिनी जो मूलाधार चक्र के नीचे है वह चक्रों को क्रमशः वेधती हुई ऊपर को जा के ऊर्ध्व कुंडलिनी जो सहस्रार में है उस में जा मिलती है (जिस का उल्लेख आगे चल कर भी होगा), तब वह जब चाहे तब स्थूल शरीर को छोड़ के सूक्ष्म शरीर से, विना जाग्रत् की संज्ञा से विहीन हुए सूक्ष्म जगत् (भुवर्लोक * आदि) मे जा सकता है और वहां जाके श्रीसद्गुरु और श्रीउपास्य निमित्त परोप-

---

* भुवर्लोक में ऐसे क्षुद्र देवगण अनेक हैं जिन में रजोगुण और तमोगुण की अधिकता है जैसे यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, किन्नर, किम्पुरुष इत्यादि २ जो मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति के बाधक हैं, जो स्वार्थी है और जिस में विषयवासना की लालसा वर्त्तमान है ऐसा यदि भुवर्लोक में (जहां विषयी भी हठ आदि क्रिया कर के जा सकते हैं) जाय, तो वह उक्त क्षुद्र देवगण को अपने में उन के समान स्वभाव रखने के कारण आकर्षित करेगा और उन से युक्त होने पर उस का (जानेवाले का) विषयी स्वभाव अधिक बढ़ जायगा जिस के कारण उस को अधिक परिमाण में दुष्टाचरण करने में बाध्य होना पड़ेगा और इन्द्रियनिग्रह उस के लिये कठिन हो जायगा और वह भुवर्लोक के ऊपर के भाग में भी जाने योग्य न रहेगा। अतएव विषयवासना से रहित हो कर श्रीसद्गुरु की प्राप्ति किये बिना भुवर्लोक में जाने की चेष्टा कभी नहीं करनी चाहिये। शिष्य को श्रीसद्गुरु अथवा उन के प्रौढ शिष्य भुवर्लोक में रक्षा करते हैं। कोई २ भयानक मूर्त्ति (यथा धड़ मनुष्य के ऐसा और मस्तक पशु का) देखने लगते हैं; वह भुवर्लोक के वासियों की है जिस के कारण कोई २ भय से विक्षिप्त हो जाते। इसी निमित्त शास्त्रों में बारम्बार चेतावनी दी गई है कि विना श्रीसद्गुरु प्राप्त किये योग क्रिया न प्रारम्भ करे। शुद्ध योग और योग के भौतिक चमत्कार में बहुत भेद है।

कारी कर्म कर सकता है, और वहां के कार्य्यों का पूर्ण ज्ञान फिर यहां स्थूल शरीर में ला सकता है। कुण्डलिनी का जगाना और चक्रों का वेधन होना स्वतः समय आने से गुरु कृपा द्वारा उन्हीं की सहायता से अंतर में होता है, और उस के लिये कोई शारीरिक अथवा वायु की क्रिया करनी नहीं पड़ती। जो लोग शम दमादि विहीन हैं, निःस्वार्थ नहीं हैं, और साधना द्वारा शिष्य होने की योग्यता को न प्राप्त कर श्रीसद्गुरु का लाभ नही किया है, ऐसे यदि हठयोग अथवा वाह्य शारीरिक क्रिया (जिन की चर्चा तंत्र के ग्रन्थों में भी है) द्वारा इस अर्ध कुण्डलिनी को जगाने का यत्न करेंगे तो उन को सिवाय हानि के लाभ न होगा। तंत्रादि ग्रन्थों में इस विषय की उच्च साधना को पूरी २ क्रिया नहीं दी हुई है, केवल संकेत मात्र है, अतएव विना श्रीसद्गुरु प्राप्त किये जो केवल पुस्तक पर भरोसा कर के अथवा जो श्रीसद्गुरु नहीं हैं उन के कच्चे उपदेश पर इन क्रियाओं का अभ्यास सिद्धिप्राप्ति निमित्त करते हैं वे प्रायः व्याधिग्रस्त हो जाते हैं, कोई विक्षिप्त भी हो जाते हैं, और उन की विवेचना शक्ति खराव हो जाती है, क्योंकि वे जीवन वृक्ष के फल को अशुद्ध हस्त से उस को पक्क होने के पहिले तोड़ना चाहते हैं। अपवित्र हृदयवाला कभी पवित्र मन्दिर के भीतर नही जा सकता, क्योंकि उस मन्दिर के द्वार पर ऐसा तीव्र और जाज्वल्यमान प्रकाश है जिस को अपवित्र हृदयवाला उलूक सह नही सकता। फूल की कली हाथ से खोलने से जैसे नष्ट हो जाती किन्तु छोड़ देने से उपयुक्त समय पर आवश्यक प्रकाश और वायु पाते रहने पर स्वतः खिल के सुन्दर पुष्प वन जाती, वैसाही वाह्य क्रिया द्वारा हठात् कुंडलिनी के जगाने की चेष्टा करने से और चक्रों को वेधने से वे खराव हो जाते हैं, किन्तु श्रीसद्गुरु प्राप्त होने पर उन की दी हुई दीक्षा द्वारा स्वतः कुण्डलिनी जग जाती और चक्र पूर्ण रूप से वन जाते और उन के द्वारा शरीर में आध्यात्मिक शक्तियों का प्रवाह होने लगता है। चक्रों का कार्य्य आध्यात्मिक शक्ति को अपने द्वारा ऊपर से नीचे प्रवाहित कर शरीर

द्वारा प्रकाश करना है, जैसा कहा जा चुका है, किन्तु हठपूर्वक विकसित होने का यत्न किये जानेसे चक्र खराब हो जाते और तब वे उक्त कार्य्य के योग्य नहीं रहते हैं। इस लिये विना श्री सद्गुरु की प्राप्ति किये चक्रों को छूना नहीं करना चाहिये। कुटीचक की अवस्था श्री उपास्य के निमित्त आवश्यक सिद्धियों की प्राप्ति करने की है जो कुंडलिनी के स्थूल और सूक्ष्म शरीर में उत्थित हो के कार्य्य करने से होती है *। सिद्धियों की प्राप्ति करने की आवश्यकता इस निमित्त होती है कि शिष्य उन को प्राप्त कर अपने श्रीगुरु के निमित्त विशेष कार्य्यों के करने योग्य होवे; किन्तु ये सिद्धियां श्रीसद्गुरु और श्रीउपास्य के प्रसाद की भांति उसको उनके विश्वहित कार्य्य करने के लिये मिलती हैं। आवश्यक होने पर अब उस को केवल भूलोक ही में परोपकारी कर्मों को नही करना पड़ता, किन्तु अन्य (भुवरादि) लोकों में भी करना होता है, और केवल वाक्य ही द्वारा शिक्षा उपदेशादि नहीं देना पड़ता, किन्तु मन द्वारा अन्य के चित्त में उत्तम भावना भेजना पड़ता है, जो दूर तक पहुंच सकती है। वह उत्तम मानसिक भावनाओं के+द्वारा संसार के प्रचलित व्यवहार को किञ्चित् बदल सकता है। इस दीक्षा से दीक्षित को विप्र कहते हैं और वेद (शब्द ब्रह्म) का यथार्थ वर्ण का ज्ञान उन्हीं को ऊपर के लोकों में जाने से होता है। परिव्राजक की अवस्था की

---

* जैसे लड़के के हाथ में शस्त्र पड़ने से वह उस के द्वारा अपने को ही हानि पहुंचा सकता है वैसे ही अयोग्य को सिद्धियों की प्राप्ति होने से उस को उस के द्वारा केवल हानि होगी, क्योंकि राग, द्वेष, स्वार्थपना और विषयभोग की लालसा उसमें रहने के कारण वह उन सिद्धियों से जगत् का उपकार करने के बदले दूसरे की हानि कर के भी अपने लिये सुख लाभ की चेष्टा करेगा जिस के कारण वह अततः बड़ी आपत्ति में पड़ जायगा, अतएव यथार्थ सिद्धियां निःस्वार्थ और परोपकारी शिष्य को ही दीक्षाकाल में मिलती हैं जब वह उन के पाने योग्य होता है।

+ चित्त शुद्ध, एकाग्र और आध्यात्मिक शक्ति से शक्तिमान् होने के कारण जो कुछ वह भावना करता है उस का प्रभाव बहुत प्रबल होता है।

समाप्ति कभी २ कई जन्मों में होती है और कभी २ केवल एक जन्म के एक भाग ही में होती है।

और प्रथम दीक्षा के अनन्तर जो अवस्था स्थूल शरीर और उसके अभिमानी जीवात्मा की हुई थी वही अब उसके सूक्ष्म शरीर और उस शरीर के अभिमानी जीवात्मा की होती है। इस द्वितीय दीक्षा के प्रभाव से उस का सूक्ष्म शरीर दर्पण की भांति ऐसा स्वच्छ हो जाता है, कि उसके द्वारा श्री भगवान् का विकाश अच्छी तरह प्रकट होता है। विषय वासना एक दम समूल नष्ट हो जाती, इन्द्रियों की लिप्सा पूर्ण रूप से जाती रहती, भोग कामनाओं का बीज भस्म हो जाता, स्वार्थ और अहंभाव का लोप हो जाता और काम की (स्वार्थ) उपाधि शून्य के समान हो दोष शून्य हो जातीं।

उस के सूक्ष्म शरीर का जीवात्मा श्री भगवान् का केवल प्रतिबिम्ब मात्र हो जाता और वह दीक्षित शिष्य अनुभव करता है कि उक्त जीवात्मा और उसके समान की समष्टि विश्वात्मा (तैजस) यथार्थ में एक हैं और दोनों ही श्री भगवान् की छाया हैं, और ऐसा ज्ञान उस के चित्त से दोनों के मध्य का द्वैत भाव प्रत्यक्ष रूप से दूर हो जाता है। इस भुवर्लौकिक समष्टि चेतन के केन्द्र की माण्डूक्योपनिषद् में तैजस (प्रकाशमय केन्द्र) संज्ञा है और भी श्री गीता जी में "अधिदैव" है। श्रीभगवान् का जो प्रकाश उस शिष्य को श्रीगुरुदेव ने उसे प्रथम दीक्षा के अवसर पर प्रदान किया था, वह अब उस के प्रेम, भक्ति और वैराग्य के प्रभाव से तेजोमय आध्यात्मिक शक्ति में परिणत हो जाता है। इस शक्ति का नाम परा कुण्डलिनी है और वह अब उस के हृदय से उठ कर उस के मस्तक में जा पहुंचती है और वहां पहुंच वहां के सभी आध्यात्मिक चक्रों को ऐसा सचेत और सजीव कर देती है कि वे सब भली भाँति काम करने लग जाते हैं। इसी प्रकार आगे बढ़ते हुए वह भ्रूमध्यस्थ उस स्थान में पहुंचती है जिसे श्री शंकराचार्य्य जी ने "धी गुहा" की संज्ञा दी

है। यहां पहुंच वह बुद्धि को ऐसी दैवी वैद्युतिक शक्ति से संपन्न कर देती है कि उस में उच्च दिव्य दर्शन को शक्ति उत्पन्न हो जाती है। तत्पश्चात् वह पूर्ण विकसित सहस्र दल कमल के मध्य में विराजमान श्री भगवती में लीन हो जाती है, उपर्युक्त उच्चस्थ चक्रों के द्वारा दीक्षित शिष्य नीचे के चक्रों पर भी अपना पूर्ण अधिकार स्थापित करता है। आर्य्यों के योगशास्त्रानुसार मस्तिष्क में सहस्र दल कमल के आकार का एक चक्र है। साधारण विषयासक्त जीवों में यह कमल कली के रूपमें बिना खिला हुआ रहता है। जैसे कमल का फूल सूर्य्योदय काल में सूर्य्य की रश्मियों के पड़ने से विकशित हो कर पूर्ण शोभा सौन्दर्य्य को प्राप्त करता है, ठीक उसी तरह इस दीक्षित शिष्य का सहस्र दल कमल भी श्रीभगवान् की कृपा के किरण के प्रभाव से खिल कर अपूर्व शोभा को प्राप्त होता है। तब इस में श्रीभगवती दैवीप्रकृति (पराशक्ति स्वयं विराजती हैं, और कमलासनस्थ हो वे अपने कृपा-वारि की वृष्टि से जीव के ताप को बुझा उसे तृप्त करती हैं। इस सम्बन्ध में एक दीक्षित शिष्य की एक बड़ी ही सुन्दर और हृदयद्रावक प्रार्थना है। श्रीभगवती दैवीप्रकृति को संबोधन करते हुए वह कहता है कि हे माता! तूं इस माया समुद्र में डूबे हुए अपने इस दैवी अंश को अपने श्रीचरणों से बिछुड़ने न दो; वरन ऐसी दया दृष्टि करो कि वह हृदय कुञ्ज रूप तेरे आवासस्थल में पहुंच तेरी चरण छाया में बसे। इस प्रकार कुण्डलिनी नाम की यह दैवी वैद्युतिक आध्यात्मिक शक्ति इस जीव की आध्यात्मिक उन्नति का परिणाम है और कृत्रिम स्थूल साधनाओं से उस का कोई सम्बन्ध नहीं है।

इस के अतिरिक्त एक अधःकुण्डलिनी भी है जिस का स्थान मूलाधार चक्र है जो कि मेरुदण्ड की जड़ में है। इस कुण्डलिनी को हठ योगी प्राणायाम आदि के द्वारा जाग्रत् करने का प्रयत्न करते हैं,

यह साधनप्रणाली आपद्पूर्ण है और यथार्थ आध्यात्मिकता (उच्च और यथार्थ योग) से इस का कोई सम्बन्ध नहीं है। कुछ साधक प्राणायाम के अतिरिक्त दर्पण या भ्रू मध्य में त्राटक कर के भी दिव्य दर्शन इत्यादि की प्राप्ति का प्रतिपादन करते हैं पर इस क्षुद्र दिव्य दर्शन और आध्यात्मिक दिव्य दर्शन के बीच आकाश पाताल का अन्तर है। ऐसे साधक भ्रूमध्यस्थ चक्र में जो एक छोटे सर्प के आकार के ऐसा पदार्थ देखते हैं वह वास्तविक कुण्डलिनी नहीं है। ऐसे कच्चे और अप्रस्तुत साधक जन सूक्ष्म जगत् (भुवर्लोक) में के भांति २ के पदार्थ देखेते हैं जैसा कि इस जगत् में देखने में आते हैं। इन के चित्त में साधारण जीवों की भांति ही भेद-भाव और स्वार्थरूप भ्रम का राज वना रहता है। इतना ही नहीं। साधारण जीवों की अपेक्षा इन में भेद और स्वार्थ भाव अधिक रहता है। कारण यह है कि अपने क्षुद्र अहंकार और स्वार्थ के कारण वे नाना विषय भोगों पर अपना अधिकार जमाने के लोभ में पड़ जाते हैं। यह परम स्थूल साधन परमार्थ का विरोधी है, सिद्धि की प्राप्ति के लोभ में पड़ कर इस प्रकार के जो २ साधन किये जाते हैं उन में और सच्ची आध्यात्मिकता में जो अन्तर है उसे महात्माओं ने वार २ समझाया है। इसी सम्बन्ध में प्रसिद्ध महात्मा ज्ञानेश्वरजी ऐसे कहते हैं कि "मुनिगण कहते हैं कि वह सत्पथ नहीं है जिस में नवद्वार पर अधिकार प्राप्त कर सर्प को जगा उसे सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश कराया जाता है। मोक्ष मार्ग का रास्ता तो श्री भगवान् के चरण सरोज का निरन्तर ध्यान है"। सच्चे शिष्य के लक्षण वर्णन करते हुए योगी श्रीमच्छेन्द्रनाथ जो भी अपने शिष्य श्रीगोरखनाथ के प्रति कहते हैं :—

कुण्डलनी को खूब चढ़ावे ब्रह्मरन्ध्र को जावे।
चलता है पानी के ऊपर बोलता सोई होवे॥
सोहि कच्चा वे कच्चा वे नहिं गुरु का बच्चा।

आजकल यह एक बड़ा भ्रम है कि श्रीभगवान् की प्राप्ति और सिद्धियों के लाभमें लोग एकता समझते हैं अर्थात् जिन में सिद्धियां हैं वे ही श्रीभगवान् में पहुंचे हुए (श्रीभगवान् के कृपा पात्र) भक्त समझे जाते हैं और जिन में सिद्धियां नहीं हैं वे उत्तम भक्त नहीं माने जाते हैं, मानों श्रीभगवान् भक्त की सेवा से प्रसन्न हो कर सिद्धियां अवश्य प्रदान करते हैं और सिद्धियां ही श्रीभगवान् की प्रसन्नता का चिह्न है। यथार्थ बात इससे उलटी है। प्रथम तो सिद्धियां स्वयं श्रीभगवान् की प्रसन्नता का चिह्न नहीं हैं, इन की प्राप्ति मन्त्र, औषध, तपस्या आदि द्वारा हो जाती है। जिनमें स्वार्थ और रागद्वेष वर्त्तमान है और जिन्हों ने इन्द्रियों का निग्रह पूर्णरूप से नहीं कया है, ऐसे लोगों को भी ऊपर के तीन उपायों में से किसी एक के द्वारा अथवा हठयोग की क्रिया द्वारा निम्न श्रेणी की सिद्धियां प्राप्त हो सकती हैं और वे बड़े २ चमत्कार दिखला सकते हैं, आकाश में भ्रमण कर सकते हैं, अलक्षित होसकते हैं, आसन को बिना सहारे उठा ले सकते हैं, कुछ काल तक किसी २ के लिये उन के कहे वाक्य भी ठीक २ पूर्ण हो सकते हैं, किन्तु इतने पर भी वे न उत्तम साधक अथवा भक्त अथवा ज्ञानी अथवा योगी हैं और न श्रीभगवान् के कृपापात्र हैं। अधिक सम्भव है कि वे इन सिद्धियों के कारण स्वार्थ मे अधिक ग्रस्त हो कर बहुत नीचे गिर जायंगे और माया के फंदे में अधिक फंस जायंगे। इसी कारण सिद्धियां परमार्थ में बड़ी बाधा देनेवाली समझा दी गई हैं और श्रीभगवान् की जिस पर कृपा होती हैं उस को वे सिद्धियां पूर्ण सिद्धावस्था के पूर्व कदापि प्रदान नहीं करते। श्रीमद्भागवतपुराण स्क०११अ०१६ व २८ में लिखा है :—

अन्तरायान्वदन्त्येतां युंजतो योगमुत्तमम्।
मया संपद्यमानस्य कालक्षपणहेतवः ॥ ३३ ॥
नहि तत्कुशलादृत्यं तदायासो ह्यपार्थकः।
अन्तवत्त्वाच्छरीरस्य फलस्येव वनस्पतेः ॥४२॥

श्रीभगवान् कहते हैं कि इन सिद्धियों की चाहना न करे, क्योंकि उत्तम योग करनेवाले और मुझ को शीघ्र प्राप्त करनेवाले योगी को ये सिद्धियां मेरी प्राप्ति में विघ्न रूप हैं और केवल कालक्षेप के कारण हैं। सिद्धि का मार्ग बुद्धिशाली पुरुषों के स्वीकार करने योग्य नहीं है, सिद्धि के निमित्त परिश्रम करना निरर्थक है, क्योंकि वनस्पति के फल के तुल्य शरीर नाशवान् है (इस कारण उस से सम्बन्ध रखने के कारण सिद्धि भी नाश हो जाती है), केवल आत्मा नित्य है।

सच्ची आध्यात्मिक दिव्य दर्शन शक्ति का तो दीक्षित शिष्य में वैसा ही स्वाभाविक विकाश होता है जैसा कि फूल का। यह तो दिव्य दर्शन और अनुभव की ऐसी अवस्था है जिस में कि द्रष्टा दर्शन और दृश्य का भेद भाव सर्वथा दूर हो जाता है। श्रीशंकराचार्य्यजी अपनी अपरोक्षानुभूति में इस आध्यात्मिक दिव्य दर्शन शक्ति का यों वर्णन करते हैं:—

दृष्टि दर्शन दृश्यानां विरामो यत्र वा भवेत्।
दृष्टिस्तत्रैव कर्तव्या न नासाग्रावलोकिनी॥

अर्थात् दृष्टि तो वहां जमाना चाहिये जहां कि द्रष्टा दर्शन और दृश्य इन तीनों का पूर्ण अभाव होता है, नकि नासिका के अग्रभाग में।

अधिदैव केन्द्र सब देवताओं का मूल है। जब दीक्षित शिष्य अपने भुवर्लौकिक केन्द्र को इस समष्टि आधिदैविक केन्द्र से परा कुण्डलिनी द्वारा युक्त कर देता है, तो उसे सभी उच्च देव-गणों के दर्शन होते हैं जिन्हें और अपने को वह एक ही श्रीभगवान् का रूपान्तर मात्र मानता है जो उन में और उस में प्रकट होते हुए सब को अतिक्रमण करते हैं और सब से निर्लेप हैं।

तीसरी दीक्षा से कुटीचक हंस होता है। हंस होने से फिर जन्म नहीं होता, यदि जन्म लेवे तो अपनी इच्छा से।

इस अवस्था में उसे एकता का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है और परमात्मा से वह पृथक् नहीं है इस का प्रत्यक्ष बोध उसे हो जाता है। इस अवस्था में वह ऐसे लोक में जा सकता है जहां ऐक्य प्रत्यक्ष भासता है और जहां "तत्त्वमसि" का ज्ञान भी अपरोक्ष हो जाता है। वह जो ज्ञान बहुत ऊपर के लोक में जा के प्राप्त करता है वह वहां से फिर नीचे आने पर स्थूल शरीर के मगज़ में भी अंकित कर सकता है और इसी कारण जाग्रत् अवस्था में भी उसे वह ज्ञान बना रहता है। इस अवस्था मे वह राग द्वेष को पूर्णतः त्यागता है, सांसारिक वासनायें तो उस में रहती ही नहीं, किन्तु आध्यात्मिक कामनायें, जैसा कि मोक्ष की इच्छा, ब्रह्मलोक के आनन्द के पाने की इच्छा इत्यादि २, भी उस में अब नहीं रहती। वह अपने को किसी से पृथक् भावना नहीं कर सकता, अतएव ऐसी कोई इच्छा उस में नहीं रह सकती जिस का फल केवल उसी को होगा, अन्य को नहीं। जो कुछ वह प्राप्त करता है वह सबों के निमित्त करता है, जो कुछ शक्ति उसे मिलती है वह सबों में फैलाता है और सबों के साथ हो के उस का भागी होता है। इस लिये प्रत्येक शिष्य के ऐसी अवस्था को प्राप्त करने से संसार को उस के कारण अत्यन्त उपकार होता है। द्वेष त्याग करने से अभिप्राय यह है कि वह सबों के साथ अंतर् से एक हो जाता है, अतएव वह जाति, वंश इत्यादि का भेद अपने लिये किसी में नहीं मालूम करता। उस के लिये ऐसा नहीं है कि किसी एक जाति के लोगों को वह प्रेम की दृष्टि से देखता और दूसरी जाति वालों को घृणार्ह जानता, उस के लिये सब समान हैं, अतएव न किसी में राग करता और न द्वेष करता। श्रीकृष्ण भगवान् ने ऐसे ही महानुभावों के विषय में कहा है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥२८॥

भगवद्गीता अध्याय ५ ।

अर्थात् विद्वान् पुरुष विद्या तथा विनय संयुक्त ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता और चांडाल, इन को समान दृष्टि से देखते हैं। वह सर्वत्र ईश्वर को देखता है, अतएव वह सर्वो के प्रति प्रेम, दया रखता है और जो उस के निकट आता वह उस की परम दया का प्रभाव अनुभव करता है। ऐसेही महानुभावों को यथार्थ "ब्राह्मण" कहते हैं "ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः" और "ब्राह्मणो लोकरक्षक" अथवा "मैत्रो ब्राह्मण उच्यते"।

इस अवस्था के श्रीसद्गुरु के कृपापात्र शिष्य को हंस कहने का तात्पर्य्य यह है कि जैसे पक्षी हंस में विशेष गुण यह रहता है कि दूध और पानी के एकत्र मिले रहने पर भी वह उस मे से जल से दूध को विलग कर केवल दूध पीने के लिये ले लेता है, जल को त्याग देता है, उसी प्रकार अन्तरात्मा इस अवस्था में आत्मा (सत्–पुरुष–चैतन्य) और अनात्मा (असत्–प्रकृति–जड) के मिलावट रूपी संसार और शरीर में से परम प्रेम की दीक्षा के बल से केवल शुद्ध आत्मा को अनात्मा से पृथक् कर लेता है। उच्च साधन काल में इस अन्तरात्मा ने गुणों में से केवल शुद्ध सत्वगुण को अर्थात् परमोत्तम अनुभव (मक्खन) को ग्रहण करता था, किन्तु प्रथम दीक्षा के होने पर उस को अनुभव हुआ कि विश्व में केवल आत्मा (पुरुष) श्रीभगवान् हैं और मैं शुद्ध अन्तरात्मा रूप में भी केवल उनकी शक्ति का अंश मात्र (सहचरी) हूं जिस परम ज्ञान के विज्ञान होने पर वह परमप्रेम से प्रेरित हो श्रीभगवान् की वस्तु अपनी आत्मा को वह श्रीभगवान् में श्रीपराशक्ति द्वारा समर्पण करने के लिये प्रवृत्त होता है और उस को यह भी प्रत्यक्ष बोध होता है कि श्रीभगवान् से पृथक् इस अन्तरात्मा का अहंभाव असत् और अनर्थ का कारण है

जो उस की पूर्व की अवस्था थी। अतएव उस पूर्व की अवस्था को भांति रहना अर्थात् श्रीभगवान् से पृथक् रहना उस के लिये परम कष्ट की अवस्था होजाती है और इस बिछोह से वह असह्य वेदना भोगता है। इस लिये वह अर्पण के लिये व्यग्र रहता और हृदय रूपी कुंज के अगम्य आंतरिक भाग में, दीक्षा द्वारा प्राप्त श्रीपराशक्ति के परम प्रकाश की सहायता से, वह अपने प्रियतम श्रीभगवान् की खोज में प्रवेश करता है और इस प्रकार श्रीभगवान् के अत्यन्त समीप पहुंच जाता है। तब श्रीभगवान् के सम्बन्ध जनित परम शान्ति और आनन्द का प्रचुर रूप से वह अनुभव करता है, यद्यपि आनन्द का लाभ करना उस का उद्देश्य नहीं है। वह उस शान्ति और आनन्द के कारण कदापि अपने लक्ष्य से विचलित नहीं होता किन्तु उसका अपनी आत्मा को अर्पण करने का प्रेमसंकल्प और भो अधिक प्रबल होजाता है।

इस अवस्था में कारण शरीर रूपो अंतिम आवरण में परिवर्तन होता है जिसके कारण वह पूर्ण स्वच्छ निर्मल और परिष्कृत बन जाता। इसी अवस्था को भाविक महात्माओं ने गौने की सारी को धारण करना कहा है। केवल सत्व सत्व का रंग नं० ६ इसमें रहजाता। कारण शरीर का अभिमानी अन्तरात्मा अथवा प्राज्ञ (चित्र नं० ६) अपने पृथक् व्यष्टि भाव को असत् समझ कर प्रथम समष्टि चेतन ईश्वर (चित्र न० ४) जिनकी संज्ञा श्री गीता में "अधियज्ञ" है उनके साथ अभिन्नता स्थापन करता है जो श्री भगवान् के मिलन के निमित्त आवश्यक है। तब वह हंस दशा को प्राप्त करता है जिसका भाव है कि हं (अहं-प्राज्ञ) "स (ईश्वर), दोनों एक हैं। इसके बाद वह कारण शरीर (शुद्ध सत्वगुण) से भी स्वतंत्र हो जाता और उस शरीर के अधीन न रह कर उसका प्रभु (नियंता बनजाता है। अनेक जन्मों में जो उसने बड़े क्लेश और परिश्रम से बड़े धैर्य्य के साथ ज्ञान और अनुभव रूपी रत्न को प्राप्ति की, अथवा विश्व वाटिका में जो मनोहर और

सुन्दर फल और पुष्प रूप शुद्ध अनुभव उसने संग्रह किये, उनको अधियज्ञ को अर्पण करता है ताकि इस नैवेद्य को वे संसार के कल्याण के लिये वितरण कर दें। उसके इस विश्ववाटिका में भेजे जाने का एक यह भी उद्देश्य था जिसको उसने पूर्ण किया। यह अधियक्ष भी श्रीभगवान् के समष्टि प्रतिविम्ब हैं जो त्रिलोक में श्रीभगवान् के कार्य्य को करते हैं। इनको कार्य्य ब्रह्म भी कहते हैं।

वह अब प्रत्यक्ष देखता है कि सम्पूर्ण ज्ञान, तप, त्याग, और साधना और प्रेम के लक्ष्य श्रीपराशक्ति (श्रीभगवान् की परमप्रिया) हैं अतएव वह उनके श्री चरणों में अपनी शुद्ध आत्मा को अर्पण करता है। वह समझता है कि छः बड़ी शक्तियां जो उसमें प्रकाशित हैं वे केवल श्री पराशक्ति के प्रसाद हैं। वे हैं:—(१) ज्ञानशक्ति, इससे भूत, भविष्य जाना जा सकता है, (२) इच्छाशक्ति, (३) क्रिया शक्ति; यह गुह्य उच्च मानसिक शक्ति है, जिससे दृश्य पदार्थ उत्पन्न किये जा सकते हैं, (४) मात्रिका शक्ति जो बीज और मंत्र की शक्ति है, (५) ज्योति शक्ति, (६) कुंडलिनी शक्ति। यहां प्रकृति से मुक्त होने के लिये उसे अंतिम युद्ध करना पड़ता है, क्योंकि यद्यपि वह तीनों शरीर के बन्धन से मुक्त हो गया है किन्तु समष्टि अव्यक्त जिसको महत् कहते हैं उस महासागर अथवा महाश्मशान से पार होना उसे अभी बाकी है और इसीके लिये इतनी तय्यारी की गई है। विना इसके पार हुए वह श्रीउपास्य में अपने को अर्पण नहीं कर सकता है। इस महत् की अवस्था को महा सुषुप्ति की अवस्था कहते हैं जो माया का मूल है और इस को अतिक्रम करना बड़ा कठिन है। श्रीभगवान् ने इसी को लक्ष्य कर श्रीगीता के सातवें अध्याय में यों कहा है:—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते। १४

वर्णन की हुई मेरी त्रिगुणात्मिका माया निश्चय करके दुस्तर

है अर्थात् बड़ी कठिनता से कोई इसको अतिक्रम कर सकता है किन्तु जो मेरे मे अपने को अर्पण करना चाहेंगे केवल वे ही इस के पार हो सकते हैं।

इस माया के पार होने में भाविक को केवल भक्ति सहायता करती है। इस महाकुरुक्षेत्र युद्ध के अंतिम दिन की लड़ाई में यद्यपि श्रीसद्‌गुरु उपदेश करने के लिये तय्यार रहते हैं और उपदेश द्वारा सहायता करते हैं किन्तु जय केवल पराभक्ति के वल से होती है। यहां भाविक गीता ज्ञान रूपी वंशीध्वनि सुनता है। इस महा-श्मशान में श्रीजगद्‌गुरु श्रीमहादेव और श्रीसद्‌गुरु की सहायता से अहंकार का बीज सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप में जो तवनक वर्तमान रहता है वह विरहाग्नि में भस्म हो कर उसपर श्रीभगवान् की वंशीध्वनि रूपी शक्ति संचालन किया जाता है और तव वह अन्तरात्मा 'गोपी' रूप में परिवर्तित हो जाती है। यहां "सोऽहम्" ॐ हो जाता है।

तीसरी दीक्षा को प्राप्त करके पृथक्त्व भाव को सर्वथा नाश कर और माया को पार कर हंस चौथी दीक्षाद्वारा परमहंस होता है। शोक का विषय है कि ऐसी वड़ी अवस्था के नाम को आज कल वहुत लोग केवल वाह्य लिंग के कारण धारण करते हैं। परमहंस जाग्रत् अवस्था में रहके भी तुरीयावस्था में भी जा सकता है जिस (तुरीया) अवस्था की प्राप्ति के निमित्त न तो उस को स्थूल शरीर से पृथक् होना पड़ता है और न जाग्रत् संज्ञा विहीन होना होता है। उस को वोलते, देखते और संसार में रहते तुरीया का ज्ञान वना रहता है जिस का अनुभव भी वह करता रहता है। उस में दो प्रकार की संज्ञा'वनी रहती है, एक से ऊपर की (परम) अवस्था का अनुभव करता रहता है, और साथ ही साथ एक ही काल में दूसरे से शरीर का कार्य्य करता है। वह पांच दोषों का त्याग करता है:—(१) रूप राग अर्थात् साकार जीवन (भूलोक मे रहने) की वासना और (२) अरूप राग अर्थात् निराकार जीवन

को (स्वर्ग और ब्रह्मलोकादि में रहने को) भी वासना उस में नहीं रहती, (३) श्रीभगवान् में अर्पण करने के मान और अहंकार का अवशेष त्याग अर्थात् वह ऐसा नहीं मानता कि वह एक महती अवस्था में है और दूसरे सब लोग उस से नीचे हैं, उस में ऊंच और नीच को भावना नहीं रहती और वह सबों को एक देखता है। वह सदा जाग्रत् अवस्था में भी ऐसे आंतरिक भाव में रहता है जिस के कारण सबों की आत्मा एक ही उसे देखने में आती और बोध होती और आत्मा की दृष्टि से सिवाय एकत्व के उसे पृथक्त्व भासता ही नहीं। (४) वह किसी अवस्था में उद्विग्न नहीं होता, चतुर्दश भुवन के लय होने पर भी वह स्थिर ही रहेगा, व्यक्त की कोई घटना उस के शान्तिपन को विचलित नहीं कर सकती। कोई महान् आपत्ति उस की दृष्टि में क्या है ? कुछ नहीं, उस की दृष्टि में उस के द्वारा केवल नाशवान् आकार भग्न होता है। संसार का नाश होना भी उस की दृष्टि में केवल प्रकृति का रिवर्तन होना है। वह अज, नित्य, अव्यक्त, सनातन और शाश्वत तत्पद श्रीभगवान् के चरण कमल में स्थित रहता है, अतएव किसी प्रकार से उस की शान्ति, स्थिरता, और आनन्द भग्न नही हो सकता। सबों के पश्चात् अतिम दोष अविद्या का, जो अज्ञान का कारण है, उस के लिये, नाश होता है। यह सूक्ष्म अविद्या माया से विलक्षण क्षीण रूप से तब तक रहती है और इस अवस्था में उस का पूर्ण नाश होना है। इस सूर्य्यमण्डल में जितना ज्ञान प्राप्त करना सम्भव है उतना उस को प्राप्त हो जाता है, जो कुछ पदार्थ इस में हैं वे उसे लब्ध हो जाते हैं, कुछ भी जानने और पाने को इस सूर्य्य-मण्डल में उस के लिये बाकी नहीं रहता। इस सूर्य्यमण्डल का एक भी प्रकृति का गुप्त भेद उस से गुप्त नहीं रहता, ऐसा कोई भी कोना इस भुवन में नहीं रहता जहां उस की दृष्टि न जा सके, सर्व शक्तियां उसे प्राप्त हो जाती हैं। वह अपने ब्रह्मांड में सर्वज्ञ और सर्वव्यापी हो जाता है। उस ने सृष्टि के बनाने का जो उद्देश्य

आत्मसमर्पण था उस को अपने में पूर्ण किया। मन्वन्तर के अन्त में जिस अवस्था में साधारण मनुष्य को किसी प्रकार पहुंचना सम्भव है अथवा न भी है वह वहां तभी पहुंच जाता। ऐसा महात्मा यदि अपनी इच्छा के कारण दूसरा जन्म ग्रहण करेगा, तथापि उस में पूर्ण ज्ञान जो प्राप्त है वह ज्यों का त्यों बना रहेगा *। इस अवस्था

---

* इन चारों दीक्षाओं का वर्णन माण्डूक्योपनिषत् के अंत में यों है—प्रथमा दीक्षा यथा—

जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्राप्तेरादिमत्त्वाद्वाप्नोति ह वै सर्वान् कामानादिश्च भवति य एवं वेद ॥९॥

चैतन्य का जाग्रत् अवस्था प्रणव के अकार स्वरूप प्रथम मात्रा का स्थान है जहां सब प्राणिगण रहते हैं जिस ने जगत् को व्याप लिया है और आदि है। जिस को इस का ज्ञान (दीक्षा द्वारा) प्राप्त होता है वह अवश्य सर्व प्रकार का काम्यफल लाभ करता है (अर्थात् उस की संपूर्ण सांसारिक इच्छा पूर्ण हो जाती और वह निरिच्छ हो जाता है और आदि हो जाता है अर्थात् अदीक्षितों से श्रेष्ठ हो जाता है)। द्वितीया दीक्षा यथा—

स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभयत्वाद्वोत्कर्षति ह वै ज्ञानसन्ततिं समानश्च भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति य एवं वेद। १०।

स्वप्नावस्था तैजस उकार अक्षर द्वितीय मात्रा का स्थान है जो उत्कर्ष और मध्यवर्ती है जिस को इस के ज्ञान (दीक्षा) की प्राप्ति होती है उस के ज्ञान का प्रसार अवश्य बढ़ता है और शत्रु मित्र उस के लिये तुल्य हैं और उस के कुल में ब्रह्मवित् को छोड़ दूसरा कोई नहीं होता, इस में तैजस सूक्ष्म जगत् का वर्णन है। तृतीया दीक्षा यथा—

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा मिनोति ह वा इदं सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद।

सुषुप्त अवस्था प्राज्ञ अक्षर मकार तृतीय मात्रा का स्थान है, जो अंतिम है, अथवा तत्व के निर्णय करनेवाला है, जिस को इस का ज्ञान (दीक्षा द्वारा) प्राप्त होता है वह अवश्य संपूर्ण का तत्त्व निर्णय करता है और अन्तिम परिणाम को प्राप्त करता है। चतुर्थी दीक्षा यथा—

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्य्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद य एवं वेद।

मात्रा रहित चतुर्थ अव्यवहार्य्य प्रपञ्च का अन्त करनेवाला, मंगल और अद्वैत ओंकार है जो यह आत्मा है, जिस को इस का ज्ञान (दीक्षा द्वारा) प्राप्त होता है वह आत्मा द्वारा आत्मा में प्रवेश करता है।

में भी महानिर्वाण लेने का अधिकार उन को है किन्तु वे उस को फिर भी श्रीभगवान् के निमित्त त्यागते हैं। वे महानिर्वाण लेने से इस ब्रह्मांड को अतिक्रम करके ऊर्ध्व में चले जा सकते हैं जिस का कोई ज्ञान हमलोगों को नहीं हो सकता है कि वे कैसी अवस्था मे तव प्राप्त होंगे, किन्तु भक्त परमहंस श्रीभगवान् की सेवा के निमित्त त्याग मार्ग को ग्रहण करते हैं। इस ब्रह्मांड के वाहर जाने से फिर उन को इस ब्रह्मांड के साथ कोई सम्वन्ध नहीं रहता और न तव यहां से किसी को वे सहायता करने योग्य रहते, अतएव इस त्याग मार्ग को ग्रहण करने वाले महात्मा जो श्रीभगवान् की करुणा को संसार के कल्याण के निमित्त प्रकाशित करने के लिये ही इस मार्ग का ग्रहण करते हैं, वे संसार के जीवों को अज्ञान में पड़े देख श्रीभगवान् के निमित्त प्रतिज्ञा करते हैं कि जव तक ये लोग एक एक कर के अविद्या से मुक्त न होंगे, तव तक यह अर्पित आत्मा उन के उपकार के लिये यत्न करती रहेगी और जव २ आवश्यक होगा तव २ नया २ शरीर भी उस निमित्त धारण करेगी। उन को यह बोध होजाता है कि श्रीभगवान् ने यही सेवा उन के जिम्मे सुपुर्द की है।

ऊपर में वहुत कुछ इस अवस्था के वाह्य आधिभौतिक विषय का वर्णन किया गया, क्योंकि इस परम अवस्था का आन्तरिक रहस्य वर्णन हो नहीं सकता है। तथापि आंतरिक रहस्य का कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है। इस अवस्था में श्रीपराशक्ति की सहचरी का भाव प्राप्त होता है किन्तु तथापि श्रीउपास्य के साक्षात् और सतत मिलन और पूर्ण आत्मसमर्पण की यह अवस्था नही है। श्रीपराशक्ति की ज्योति श्रीभगवान् का प्रथम आवरण के समान है जिस के द्वारा श्रीउपास्य के केवल झांकी दर्शन होते हैं। इसी प्रकाश द्वारा श्रीभगवान् अपने भक्त को झांकी दर्शन अथवा समीप दर्शन देते हैं। श्रीशंकराचार्य्य ने अपनी सौन्दर्य्य लहरी में इस परम प्रकाश को "शम्भु का शरीर" कहा है। इस प्रकाश (श्रीपराशक्ति) के द्वारा ही श्रीभगवान् सगुण और व्यक्त होते हैं।

हम लोगों के महर्षिगण ऐसे ही त्याग मार्ग के अनुसरण करने वाले हैं जिन का वर्णन गुरु तत्त्व में किया गया है। इनको श्रीभगवान् से एकता प्राप्त रहती है। केवल ऐसे ही त्यागी जीवन्मुक्त श्रीसद्गुरु कहे जाते हैं और वेही परम भागवत (भक्त) कहे जाते हैं। श्रीभगवान् ने जगत् के कल्याण और राजविद्या के मार्ग पर लोगों को लाने के लिये ही श्री उद्धव को दीक्षा देकर श्रीबदरिकाश्रम में जाने के लिये कहा, यद्यपि वे श्रीभगवान् से वाह्यभाव से भी अलग होना नहीं चाहते थे। यदि ये श्रीसद्गुरु लोग मनुष्य के हित निमित्त निर्वाण त्याग कर सृष्टि में ही रहना स्वीकार न करते तो मनुष्य की दशा अनाथ बालक के समान हो जाती और मनुष्य के लिये कोई राजविद्या के मार्ग का बतलानेवाला नहीं रहता; अतएव मनुष्य मात्र इन श्रीसद्गुरुओं का ऋणी बना हुआ है। ऐसे श्रीसद्गुरुगण वर्तमान काल में भी इस मर्त्यलोक में स्थूल शरीर में इस लिये वर्तमान हैं कि उनमें विश्वास भक्ति करके और साधना द्वारा सम्बन्ध स्थापन कर तीव्र साधक उन के चरण कमल को प्राप्त कर सकें जिस में इस घोर कलियुग में भी राजविद्या के मार्ग का अनुसरण करना लोगों के लिये असम्भव न हो जाय। वे लोग इस के लिये अत्यन्त इच्छुक हैं कि जिज्ञासु साधक उन के निकट आने का यत्न करें और उन की सहायता से मार्ग को ग्रहण करें, किन्तु हमलोग उस के निमित्त प्रस्तुत नहीं होते। आजकल भी ऐसे व्यक्ति हैं जिन्हों ने उन श्रीसद्गुरुओं को प्राप्त किया है और जिन के लिये वे (श्रीसद्गुरु) ऐसे प्रत्यक्ष हैं जैसे संसार के स्थूल पदार्थ जो हम लोगों के नेत्र के सामने हम लोगों को प्रत्यक्ष हैं। अतएव जो उन को प्राप्ति करने के लिये यथेष्ट चेष्टा करेंगे (वह चेष्टा कर्म, अभ्यास, ज्ञान और भक्ति योग का अभ्यास है जिस का वर्णन इस पुस्तक में किया गया है) वह अब भी उन को अवश्य प्राप्त करेंगे। ऐसी चेष्टा करने वाला साधक धन्य है!

श्रीपराशक्ति की सहचरी बन कर उन के आश्रय से श्रीभगवान् की सेवा करना परम दुर्लभ, परम श्रेयस्कर, परम रहस्य भाव है; और यह भी आधिदैविक आत्मसमर्पण है। अधिकांश भक्तगण इसी अवस्था को चाहते हैं और इसी द्वारा श्रीभगवान् की सेवा करते रहते हैं। किन्तु इसके आगे भी आध्यात्मिक आत्मसमर्पण की अवस्था है जिस को "राधाभाव" पीछे कहा जा चुका है। इस भाव का नाम श्रीरामोपासकों के लिये 'सीताभाव' है, शाक्त और शैव के लिये दिव्य महाविद्या भाव है। और श्रीविष्णुके उपासकों के लिये "लक्ष्मीभाव" है। यह साक्षात् आध्यात्मिक मिलन और आध्यात्मिक आत्मसमर्पण है जिस का वर्णन होना कठिन है और यह आधिदैविक मिलन और आत्मसमर्पण से अवश्य विलक्षण है।

यह भाव पराभक्ति, परम प्रेम और महाभाव की चरम सीमा है जिस में बहुत कुछ भिन्नता दूर होकर पूरी एकता स्थापित हो जाती है, अथवा यों कहिये कि यथार्थ अनादि एकता के आवरण रूपी प्रतिबन्धक दूर हो कर वह शुद्ध एकता जाज्वल्यमान होजाती है। श्रीप्रेम सम्पुट काव्य में श्रीराधाजी की श्रीभगवान् के साथ चरम एकता सूचक यों उक्ति है:—

> अन्यान्यचित्त विदुषौनुपरम्परात्मनित्यास्थिते
> रिति नृषु प्रथितौयदावाम्।
> तच्चौपचारिकमहो द्वितयत्वमेव,
> नैकस्य सम्भवति कर्हिचिदात्मनो नौ ॥१०७॥
> एकात्मनीह रसपूर्णतमेऽत्यगाधे,
> एकासुसंग्रथितमेव तनुद्वयंनौ,
> कस्मिंश्चिदेकसरसीव चकासदेक-
> नालोत्थमब्जयुगलं खलुनीलपीतम् १०८

हम दोनों के मन दोनों को ज्ञात है, दोनों के भीतर दोनों जन नित्य ही वास करते हैं, ऐसा जो प्रवाद वह अयथार्थ है, सत्य नहीं

है, क्योंकि हम दोनों की आत्मा एक ही है और एक आत्मा दो किस प्रकार हो सकती है। जिस प्रकार किसी एक सरोवर में एक नाल से उत्पन्न नीले और पीले वर्ण के दो कमल विकसित हुए, उसी प्रकार अत्यन्त अगाध रस परिपूर्ण एक आत्मा से हमलोगों के नीले और पीले वर्ण के दो शरीर एक ही प्राण से संग्रथित हो कर वर्तमान हैं। इस कथन के बाद देवाङ्गनावेशधारी श्रीभगवान् ने श्रीराधा से कहा कि मैं एकात्मता की परीक्षा करना चाहती हूं, इस प्रकार से कि यदि आप के स्मरण मात्र से आप के प्रियतम श्रीकृष्ण यहां आ जायें तो मुझ को विश्वास होगा। श्रीराधाजी ने अपने परम प्रेम और प्रेम की एकीकरण शक्ति के प्रत्यक्ष बोध उनमें रहने के कारण इस परीक्षा को स्वीकार किया और कहा कि यदि एकात्मा भाव सत्य है तो श्रीभगवान् शीघ्र प्रगट हो जायं। श्रीभगवान् प्रकट हो गये। श्रीराधाजी की उक्त अवस्था का प्रेम सम्पुट में यों वर्णन है :—

> रोमाञ्चिताखिलतनुर्गलदश्रुसिक्ता,
> ध्यानागतं तमवबुध्य बहिर्विलोक्य।
> आनन्दलीनहृदया खलु सत्यमेव,
> योगीन्द्रराजत निरञ्जनदृष्टिरेषा ॥१२४॥

तब श्रीराधाजी ने सर्वांग से रोमाञ्चित हो कर ध्यान में प्रियतम श्रीभगवान् के आगमन को जाना और बाहर भी उन को देख कर वे अनवरत नेत्र से अश्रु धारा वर्षण करते २ आनन्द में लीन हो गईं। उन्हों ने उस परीक्षा में सत्य सत्य ही योगिनी के समान निरंजन-दृष्टि को प्राप्त किया अर्थात् नेत्र के अश्रु से दोनों नेत्रों के अंजन को धो दिया।

कहा जाता है कि इस आध्यात्मिक आत्मसमर्पण का प्रायः यह परिणाम होता है कि इस परम त्याग के कारण स्वयं श्रीभगवान् उस निवेदित आत्मा के साथ संसार में अवतार ले

कर कोई महत् कार्य्य करते हैं, अथवा निवेदित आत्मा रूपी परम पुरुषों में कोई समय २ पर श्रीभगवान् की इच्छा के अनुसार उन के प्रतिरूप की भांति संसार में अवतार लेकर विश्वहित सम्बन्धी कोई विशेष कार्य्य करते हैं। दिव्य लोक में रह कर भी वे श्रीभगवान् द्वारा प्रेरित हो कर श्रीभगवान् की विश्वहित सेवा करते हैं। अवतार लेने पर ये अंशावतार कहलाते हैं। श्रीमद्भागवत पुराण में जो दशावतार के सिवाय अन्य १४ अवतारों का वर्णन है वे प्रायः ऐसे अवतार हैं और इन से अन्य प्रकार के भी अवतार होते हैं। स्मरण रहे कि इस राज-विद्या के मार्ग में प्रारम्भ से अंत तक श्रीभगवान् के विश्वहित कार्य्य में योग दे कर उन की सेवा करना मुख्य है और जिस में यह भाव नहीं है वह इस प्रेम-यज्ञ मार्ग के श्रीभवान् की आत्मसमर्पण रूपी सेवा ही सृष्टि को जीवन-प्राण और सार है अधिकारी नहीं है।

अंतिम निवेदन !

राजविद्या की दीक्षा को केवल वाह्य आधिभौतिक अवस्था के अधिकारी कोई २ मुमुक्षु भी ऐसे होते हैं जो उस के द्वारा मोक्ष को लाभ कर आगे नहीं बढ़ते हैं। किन्तु वे श्रीसद्गुरु के साक्षात् सम्बन्ध प्राप्त कर शिष्य नही बन सकते। इसी कारण ऐसे साधक की आधिभौतिक अवस्था का भी किंचित् वर्णन किया गया है। मुमुक्षु साधकों के लिये भी परोपकार आवश्यक है, क्योंकि यह सृष्टि को ऊर्ध्व गति की ओर गमन करने के लिये परमावश्यक नियम है। इस परोपकार से ही मुमुक्षु भी अपने लक्ष्य का ओर अग्रसर होता है और मुमुक्षु की साधना और भजन से और उस के मोक्ष लेने पर भी संसार का बड़ा हित होता है। श्रीभगवान् तो श्रीगीता अ० ७ श्लोक १६ में कहते हैं कि जो दुःखी व्यक्ति खोई हुई वस्तु की प्राप्ति के

लिये अथवा विषयो अप्राप्त पदार्थ के लाभ के लिये मेरा (श्रीभगवान् का) भजन करते हैं वे भी पुण्यशील और उदार हैं। जब कि श्रीभगवान् के द्वेष अथवा भय से भी लाभ होता है, तो आर्त और विषयी को सकाम भजन करने से भी क्यों नहीं लाभ होगा? पुण्य के उदय होने से ही किसी प्रकार चित्त श्रीभगवान् की ओर जाता है और जब किसी प्रकार से ईश्वरोन्मुख चित्त हुआ तो फिर बेड़ापार है, क्योंकि फिर श्रीभगवान् आप से आप उस को आकर्षण करेंगे, यदि वह अपने से ही हठ कर के फिर प्रतिकूल न हो जाय। मुमुक्षु तो इन दोनों से भी उत्तम हैं। यह स्पष्ट है कि यद्यपि श्रीभगवान् के साक्षात् मिलन का मार्ग बहुत ही कठिन, दीर्घ और त्यागपूर्ण है तथापि श्रीभगवान् की करुणा विश्व के लिये इतनी प्रगाढ़ है कि श्रीचरण में पहुंचानेवाले मार्ग पर पहुंच जाने के लिये अनेक पगदंडियां बना दी गई हैं जिन के द्वारा सब कोई, यदि चाहे तो मार्ग, पर सुगमता से पहुंच जा सकता है और मार्ग पर पहुंच जाना ही बड़े भाग्य की बात है ।

श्रीभगवान् ने संसार के साधारण जीवों पर दया कर के ही अवतार धारण किया ताकि उनके पावन नाम और चरित्र के स्मरण से श्रीभगवान् की प्राप्ति सुगम हो जाय। कलियुग के लोगों पर तो श्रीभगवान् ने अपनी करुणा बहुत ही अधिक परिमाण में इस प्रकार दिखलाई कि केवल नाम स्मरण द्वारा अपनी प्राप्ति का सुगम मार्ग खोल दिया। श्रीगोस्वामी तुलसीदास जी का वचन है:—

कलियुग सम युग आन नहिं, जो नर करु विश्वास।
गाय राम गुण गण विमल, भव तरु बिनहि प्रयास॥

जब जीवात्मा श्रीभगवान् के सम्मुख आता है तो वे बड़ी प्रसन्नता से उसे शरण में आने के लिये सब प्रकार से सहायता करते हैं और उसके पिछले पापों की कुछ भी परवाह नहीं करते। कहा है:—

अपिचेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मंतव्यः सम्यग्व्यवसितोहि सः ३०
मांहि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियोवैश्यास्तथाशूद्रास्तेऽपि यांति परांगतिम् ३२

गी० अ० ६

किरातहूणांध्रपुलिन्दपुल्कसा आभीरकङ्का यवनाः खसादयः। येऽन्येच पापा यदुपाश्रयाश्रयाः शुद्ध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवेनमः।

श्री भा० स्क० २ अ० ४

श्रीभगवान् कहते हैं कि यदि कोई अत्यन्त दुराचारी हो और वह औरों की भक्ति न कर के मेरी ही उपासना करे तो वह साधु ही है, क्योंकि उस ने मेरे को प्राप्त करने के लिये अच्छे प्रकार से निश्चय कर लिया है। हे अर्जुन! कोई कितना ही पापी क्यों न हो, चाहे स्त्री हो, वा वैश्य हो, वा शूद्र हो, वह यदि मेरा आशूय लेता है तो उत्तम गति को प्राप्त होता है। भील, वा मध्य देश के ताम्रमुख पुरुष, तैलंगों में अन्ध्र जाति के मनुष्य, पुलिन्द और पुल्कस, इन चाण्डाल जातियों के पुरुष, आभीर कङ्क, यवन और खस इत्यादि यवन जातियों के मनुष्य और जो अन्य भी पाप जातियों के पुरुष हैं वे जिन के भक्तों के आशूय से शुद्ध हो जाते हैं तिन महाप्रभावशाली श्रीभगवान् को नमस्कार है।

जब कि श्रीभगवान् और उन के प्रतिरूप श्रीसद्गुरुगण संसार का कल्याण करने और तारने के लिये बड़े ही उत्सुक हैं, नित्य लोगों पर अपनी करुणा की वर्षा कर रहे हैं, सगुण साकार और अवतार भाव को धारण कर अपने को मन्दबुद्धि के भी गम्य किये हैं, भक्ति और श्रद्धा से अर्पित क्षुद्रातिक्षुद्र सेवा का

भी सहर्ष स्वीकार करते हैं यहांतक कि केवल पत्र, पुष्प, फल, जल के भी भक्ति से प्रदान होने पर तृप्त हो जाते हैं, जो एक पग उन की ओर उठाता है तो वे दश पग उस की ओर उठाते हैं, सदा सर्वदा सबों के हृदय में विराजमान रहते हैं ताकि किसी को उन के ढूंढ़ने के लिये दूर जाना नहीं पड़े, ऐसी अवस्था में जो श्रीकरुणावरुणालय श्रीभगवान् से विमुख हो कर उन की आज्ञा के प्रतिकूल चलते हैं उन की दशा अवश्य बड़ी शोचनीय है। श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी ने ठीक कहा है—"जाके पास रहे चिंतामणि सो कित कांच बटोरे"। श्रीभगवान् की उक्ति श्रीमद्भागवत पुराण स्क० ११ अ० २० में यों हैः—

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्। मयाऽनुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं न तरेत्स आत्महा। १७ ॥

सकल फलों के मूलभूत करोड़ों उद्योगों से प्राप्त न होने वाली परन्तु सहज में प्राप्त हुई गुरुरूप कर्णधार (मल्लाह) से युक्त और स्मरण से ही अनुकूल वायुरूप मेरी प्रेरणा की हुई मनुष्य शरीर रूप नौका को पा कर जो प्राणी संसार समुद्र को नहीं तरता है उस को केवल आत्मघाती समझो।

सबोंको चाहिये कि श्रीभगवान् के चरण कमलों में प्रेम पूर्वक चित्त को संनिवेशित करने का यत्न करें, उनके पावन नाम के सदा सर्वदा निरंतर स्मरण करने में तत्पर रहें, सत्संगति की प्राप्ति के लिये चेष्टा करते रहें, विश्व को श्रीभगवान् का रूप जान किसी की भी हानि करने की इच्छा तक न करें; किन्तु दूसरों के दुःख को अपना दुःख समझ और उसके कारण दयालु होकर परोपकार करें, सत्य के अभ्यास में विशेष दत्तचित्त रहें, अंतःकरण और इन्द्रियों को शुद्ध और स्वच्छ करके उनका निग्रह करें, श्रीभगवान् को जीवात्मा के हित के लिये हृदय में सदा वर्तमान जान उनके

चरण कमल की सतत और साक्षात् सेवा में नियुक्त होने के लिये तरसते रहें, ज्ञान को लाभ कर प्रकृति के गुणों के भुलावे में कदापि न पड़ें, दुःख को विवेक और ज्ञान की उत्पत्ति के लिये आया समझ उसको धैर्य्य पूर्वक सहें, कदापि उद्विग्न न हों और उसको उपकारी जान प्रसन्न ही रहें; काम, क्रोध, लोभ और मान को परम शत्रु समझ उनके जीतने की बहुत बड़ी चेष्टा आत्मबल द्वारा करें; अपने को बाह्य दृष्टि से नीचातिनीच मानें, केवल विहित कर्मों को करें और उनको केवल श्रीभगवान् के निमित्त ही उनकी सेवा की भांति सम्पादन करें, कदापि कोई कामना की इच्छा उन से न करें और उनके फल से किसी प्रकार क्षुब्ध न हो कर सिद्धि और असिद्धि दोनों में समान रहें, मान अपमान, निन्दा स्तुति, शत्रु मित्र, और सुख दुःख, यश अपयश को समान जानें, अपने को श्रीभगवान् की शक्तिरूपा आत्मा समझ अहंभाव और अहंकार का त्याग करें; और श्रीसद्गुरु और श्रीभगवान् में परम अनुराग और निष्काम ध्यान, स्मरण और प्रेम-भक्ति द्वारा सम्बन्ध स्थापन कर उनकी सेवा के लिये उनमें अपनी आत्मा तक को अर्पण करें। ऊपर कथित साधनाएं बहुत कठिन अथवा दुष्प्राप्य कदापि नहीं हैं किन्तु केवल दृढ़ संकल्प और श्रीभगवान् में श्रद्धा भक्तिके रखनेसे ही अवश्य प्राप्त हो जायंगी; क्योंकि वे बड़े कारुणिक हैं और जिज्ञासु की आर्त-प्रार्थना पर बहुत शीघ्र ध्यान देते हैं। श्रीभगवान् का नाम स्मरण, प्राणियों के प्रति दया और उनके लिये उपकार कर्म, और श्रीभगवान् हृदय में वर्तमान हैं और अपनी ओर आने के लिये बड़ी उत्सुकता से आकर्षण कर रहे हैं (जिस शक्ति के प्रतिकूल न हो कर अनुकूल रहना चाहिये), ऐसा दृढ़ विश्वास और इन के अभ्यास से सब कुछ आवश्यक साधना और गुण की प्राप्ति हो जायगी। श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी का निम्न कथित वचन परम सत्य है जिस पर आस्था रख कर हम लोगों को धैर्य धारण कर और प्रसन्न रह अपने अनुराग को भली भांति जाग्रत् रखना चाहिये, कहा है:—जो इच्छा

रखिहौ मन माहीं। हरिप्रसाद कछु दुर्लभ नाही॥ श्रीभगवान् के प्रेम पूर्वक सतत स्मरण और परोपकार में अनंतानंत शक्ति है और ये जीवात्मा को श्रीभगवान् में अवश्य युक्त कर देते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

श्रीभगवान् की उक्ति है :—

जो जन ऊधो मोहिं न विसारे, तेहि न विसारौं छिन एक घरी।
जो मोहि भजै भजौं मैं वाको, कल न परत मोहिं एक घरी।
काटौं जनम जनम के फंदा, राखौं सुख आनन्द करी। १
चतुर सुजान सभा में बैठे, दुःसासन अनरीति करी।
सुमिरन कियो द्रौपदी जबही, खैंचत चीर उवारि धरी। २
ध्रुव पहलाद रैनि दिन धावै, प्रगट भये वैकुंठ पुरी।
भारत में भरुही के अंडा, तापर गज को घंट ढुरी। ३
अंवरीप गृह आये दुर्वासा, चक्र सुदर्शन छाहि करी।
सूर के स्वामी गजराज उवारे, कृपा करो जगदीश हरी। ४

श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी का वचन है :—सवैया—

अपराध अगाध भये जनतें, अपने उर आनत नाहिं न जू।
गनिका गज गीध अजामिल के, गनि पातक पुंज सिराहिं न जू।
लिये वारक नाम सुधाम दियो, जेहि धाम महामुनि जाहिं न जू।
तुलसी भजु दीन दयालहिं रे, रघुनाथ अनाथहिं दाहिन जू।
सो जननी सो पिता सोइ भ्रात, सो भामिनी सो सुत सो हित मेरो।
सोई सगा सो सखा सोइ सेवक, सो गुरु सो सुर साहिब चेरो।
सो तुलसी प्रिय प्रान समान, कहां लौं बनाय कहौं बहु तेरो।
जो तजि देह को गेह को नेह, सनेह सो राम को होय सबेरो। २

वामाङ्गे च विभाति भूधरसुता देवापगा मस्तके,
भाले वालविधुर्गलेच गरलं यस्योरसि व्यालराट्।

सोऽयं भूतिविभूषणः सुरवरः सर्गप्रियः सर्वदा।
सर्वः सर्वगतः शिवः शशिनिभः श्रीशङ्करः पातु माम्।
उद्भवस्थिति संहार कारिणीं क्लेशहारिणीम्।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोहं राम वल्लभाम्।२

नीलाम्बुज श्यामल कोमलाङ्गं सीता समारोपित वाम भागम्।
पाणौ महा सायक चारुचापं नमामि रामं रघुवंश नाथम्।
आद्युश्वते नलिन नाम पदारविन्दं योगेश्वरैर्हृदि विचिन्त्यमगाध-बोधैः। संसारकूपपतितोत्तरणावलम्बं गेहं जुषामपि मनस्युदियात् सदानः। वक्षः स्थलेच विपुलं नयनोत्पलेच मन्दस्मिते च मृदुलं मृदजल्पितेच, बिम्बाधरे च मधुर मुरली वरेच, बालंविलास-निधिमाकलये कदानु।

ॐ पूर्ण मदः पूर्णमिदं पूर्णा त्पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्ण मादाय पूर्ण मेवावशिष्यते। ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

श्री भगवदर्पणमस्तु।

श्रीहरिः।

संक्षिप्त शुद्धाशुद्ध।

छोटी अशुद्धियां और टाइप के घिसे टूटे रहने के कारण जो अक्षर अथवा मात्रा आदि नहीं उठीं उनको छोड़ कर केवल थोड़े मुख्य भ्रमात्मक अशुद्धियों की यह तालिका है। जहां नी है वहां नीचे से पंक्ति गिनिये।

प्रथम खंड।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६	८	सिसिरन	सिरन
,,	अंतिम नोट	सम्पूर्ण काट दीजिये	
१५	१	पंण	पंणं
१८	४	भागात्मक	भोगात्मक
३२	६	सोवा	सोचा
३७	४ नी	दुसंकल्प	दुष्ट संकल्प
४७	१	भाई पुत्र	आसक्ति
,,	,,	अथवा ऐसाही	और उनके
,,	७	वाले कारण	के कारण उस
४८	१३	नाम और	नाम आंतरिक
६६	१४	नृपयज्ञ	नृयज्ञ
७५	५	कई	कहंई
६०	६	नेऽप्य	तेऽप्य
,,	,,	गाई	गाहँ
६१	१३	कर्त्ता	कर्तव्य
६२	५	गर्भ	गर्म

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
९३	१ नी	पवी	तपस्वी
१०१	४	असत्य भाषण	सत्य भाषण
१०५	१७	भक्त	भक्त इस प्रकार
१०९	१६	दोनों	दोनों के
१२९	४ नी	हना	रहना
,,	,,	रमन	मन
१२४	२६	होकर जाना	हो ऐसा यत्न करना
१२९	१	ध्येसक्त	ध्येयासक्त
,,	,,	ध्येमे	ध्येयमे
१४९	नकशा में षट्कोण का विन्दुवाला त्रिकोण का मुख उर्द्ध होना चाहिये और काले का अध।		
१५४	१०	वाद	अक्षरों
,,	२ नी	काश	प्रकाश
१८६	८ नी	विवास	निवास
१९७	५	स्मति	स्मृति
२०१	१९	उपासका	उपासकों
२०७	६ नी	सिद्धावस्था	उच्चावस्था
२३०	१८	हृदय स्वयं सब से	सबों का स्वयं हृदय
२४४	१०	प्रबल है के बाद से नया विषय " अहंकार का भूलाव " प्रारम्भ हुआ।	
२६१	७ नी	साध्यपथ	साधना पथ
,,	२ नी	धित्स्तृ	धिमुत्स्तृ
२७०	१७	प्रवृत्त	प्रवृत्तिके
२८२	१५	म करते	कर्म करते
२८७	११	यत्स	यस्तु
२९१	१३	वितेना	विता
२९५	२०	रक	कर

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३०३	२०	वाझ	बोझ
३१२	३ नी	आध्यात्म	अध्यात्म
३१७	७	ज्ञात्म	आत्म
३१८	१०	अ० ८	अ० ३८
३२२	८ नी	कतन	कीर्तन
३२५	१ नी	सेर	से
३२६	११ नी	नामा	नामी
३३१	१३	मुत	भूत
३४४	४	कनद्रों	केन्द्रों
,,	८	जा	जो
३५०	१४ नी	साधे	सीधे
३६१	१ नी	की थी	की है
३७८	४ नी	४६	३८
,,	३ नी	ध्रो	गृध्रो
,,	१ नी	७	११
,,	,,	११	७

द्वितीय खंड ।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
भूमिका ४	२ नी	माता	भ्राता
३६०	७ नी	नमां	नमां
,,	६ नी	त्पत्र	न्यत्र
३६०	६ नी	तन = तत् स्वार्थं परं लोकहिताय दीपवत्।	
४५२	५	जब से	तब से
४५३	४	जगत् का	जगत् का विशेष
४५४	४	नवा पयोत्य	नैवोपयन्त्य

पृष्ठ	प	अशुद्ध	शुद्ध
४६६	२ नी	लक्षण	लक्ष्मण
४६७	६	गुरु	गुरु है लक्ष्मण
४८०	१६	वद्	वढ़
४८२	३ नी	भस्तो	भस्नतो
४८५	१५	अश्य	अदृश्य
५१७	६ नी	मेह	मोह
५५२	३ नी	गात	गौन
,,	,,	य	स्वं
५६६	६ नी	क्रुयो	क्रुन्ये
५६८	१	भी	भी अभी
५७१	१	न्यतत	पन्त्य
५७४	१ नी	ड्रेऽत्र	ड्रोऽत्र
५६०	१० नी	वेदिका	वेदिता
५६३	१	मगा	माग
५६४	७ नी	मक्तिरी	मत्किरी
५६६	१४ नी	क्यक	क्याक
६१३	५ नी	भूलोक में	भूलोक में रहते भी
६२५	१	चित्त	चित्र
६३३	७	अर्ध	अध
६३४	६	अर्ध	अध
६३६	१	कि	जिसके कारण
६५२	१२	मागे के	मार्ग के (
,,	१३	सार है	सार है)

—:o:—

Printed by R. P. Sinha at the K. V. Press, Bankipore

आवश्यक निवेदन।

इस पुस्तक के प्रकाशित करने का मुख्योद्देश्य यह है कि जिन साधनाओं का जिस महान् उद्देश्य से इस में वर्णन है उन की विशेष चर्चा लोगों में फैले, क्योंकि उन के मनन और अभ्यास सेही साधक ईश्वरोन्मुख होंगे और श्रीउपास्य की प्राप्ति के मार्ग पर पहुंचेंगे जिस से अधिक श्रेयस्कर संसार में दूसरा कुछ नहीं है। साधकों के लिये सत्संग की लब्धि भी परमावश्यक है और पुस्तक पाठ भी सत्संग के अन्तर्गत है तथापि केवल यह काफी नहीं है। जिन पाठकों को इस पुस्तक के विषय में कुछ अधिक जिज्ञास्य हो अथवा जो सत्संग अथवा उस के प्रचार के लिये इच्छुक हों, वे कृपा कर संग्रहकर्ता के पास पत्र द्वारा अपनी इच्छा प्रकट कर सकते हैं, जिस के बाद यथासम्भव उन की इच्छा की पूर्ति का यत्न किया जायगा। साधकों को सत्संग का लाभ पहुंचाने के लिये समय २ पर एकत्र समागम का भी यत्न किया जायगा। पुस्तक के प्रकाशकर्ता के पते से पत्र जा जाय।

निवेदक

संग्रहकर्ता।

साधनसंग्रह के प्रथम खंड के विषय में किंचित् संक्षिप्त सम्मतियां:—

"बहुत अच्छी है। विशेषतः श्रीभक्ति का प्रसंग बड़ा उपकार करने वाला और सुखदायी है"। श्रीअयोध्या के भक्तप्रवर श्रीसीताराम शरण भगवान प्रसाद रूपकलाजी। "बहुतही रोचक उपयोगी और शिक्षाप्रद है"। श्रीपं० पुरोहित गोपीनाथजी, एम० ए०, मेम्बर, स्टेट कांउसिल, जयपुर।

"यह पुस्तक प्रत्येक हिन्दू का सदा साथी होना चाहिये"। बा० गोकुलानन्द प्रसाद बर्मा। मुजफ्फरपुर-भागलपुर।

"गांव गांव, घर घर में इस पुस्तक का प्रचार होना चाहिये। योगमार्ग के जिज्ञासु और भक्ति रस के पिपासु को एकबार अवश्य पढ़ना चाहिये। मिथिला मिहिर, दरभंगा।

जिज्ञासु और साधना के इच्छुक इस को अवश्य उपयोगी

पावेंगे। यह भी इसमें दिखलाया गया है कि किस प्रकार सांसारिक कामों को बिना त्याग किये श्रीपरमात्मा की प्राप्ति हो सकती है। दैनिक लीडर, प्रयाग।

मुमुक्षुओं के पढ़ने और विचारने योग्य बातें इस में दी गयी हैं। लगभग ४०० पृष्ठ की बड़ी साइज की पुस्तक का मूल्य २) इस महंगी के जमाने में कम मूल्य मालूम होता है। कर्मवीर, जबलपुर।

एक भक्त प्रवर के मुखारविन्द से टपकने के कारण इस में भक्ति रस की ही प्रधानता है। निःसन्देह यह पुस्तक अपने ढंग की निराली है और सुविज्ञ पाठकों के देखने योग्य है। हिन्दी बंगवासी।

भक्तिका विषय, उस की साधना और परिपक्वता बड़ी सुन्दरता से विस्तार रूप में वर्णन की गयी है और यह अध्याय विषयानुसार परम मनोहर और उज्वल है। सर्चलाईट, पटना।

इस में सनातन धर्मोक्त धर्म का विवरण कर धर्म, कर्म, कर्मयोग, अभ्यासयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग सम्बन्धी [illegible]र्वपूर्ण विषय प्राच्य पाश्चात्य विज्ञान के आश्रय से बड़ी [illegible]ता के साथ समझाये गये हैं। ऐसा एकत्र सुश्रृंखल [illegible] देखने में नहीं आता। निगमागम चन्द्रिका, काशी।

जो गीता के आंतरिक सिद्धांत को [illegible]ना चाहते [illegible] उन को इस के पढ़ने से यथेष्ट लाभ होगा। [illegible] के सर्व विष[illegible] इस में बड़ी सफाई और सुन्दरता से वर्णन है [illegible] गुरु त[illegible] जो आज कल प्रायः अज्ञात उस का विशेष रू[illegible] से इस में वर्णन है। दैनिक एक्सप्रेस, पटना।

अभ्यासयोग बहुत स्पष्टता से ठीक २ मन के वश करने का सच्चा उपाय बतलाता है। ज्ञानयोग में नक्शा द्वारा मनुष्य और सृष्टि के तत्वों को प्रकाशित किया गया है जिन से द्वैत, अद्वैत और विशिष्टाद्वैत के भेद मिटकर उनकी एकता सिद्ध होती है। पंचोपासना की एकता की सिद्धि इस की विशेषता है। भारतीय ब्रह्मविद्या, काशी।

मिलने का पता। श्रीरघुनन्दन प्रसाद सिंह, सूस्तामहम्मदपुर पोस्ट आफिस सिलौत, जि० मुजफ्फरपुर P. O. Silout Dt. Muzaffarpur